भूमिका

जब बाहर का सघर्ष मनुष्य के जीवन मे जागृति लाता है तब उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है। अपना अन्त निरीक्षण (Introspection) करते ही उसे बाहर से भी अधिक भयावह सघर्ष का दर्शन होता है,जिसे देखकर वह एक बार घबडाता है। फिर उस सघर्ष से छुटकारा पाने के लिये अपने प्रयत्न मे लग जाता है। मानवता की ओर गतिशील होने वाले व्यक्ति के जीवन का पहला प्रश्न है अन्तर्द्वन्द्व मिटाना। साधनयुक्त जीवन का ही नाम मानव-जीवन है। इस दृष्टि से व्यक्ति जब जीवन को साधनमय बनाने चलता है तो पहली बाधा कहे अथवा पहली मजिल कहे, चित्त की अशुद्धि का प्रश्न उसके सामने आता है।

जैसे खेत मे अन्न उपजाने के लिए उसके सभी झाड-झखार को समूल नष्ट कर खेत तैयार किया जाता है, तभी उसमे बीज डालने पर पौधे लहलहाते हैं,वैसे ही किसी भी विध्यात्मक साधन को सफल बनाने के लिये चित्त को शुद्ध करना आवश्यक है जिसके बिना कोई भी विध्यात्मक साधन कभी भी सफल नही हो सकता। अत मानव के जीवन मे साधन के पथ में पहला प्रश्न है चित्त को शुद्ध करना। प्रस्तुत पुस्तक मे इसी विषय की विशद व्याख्या अनेक रूपो मे अनेक ढग से विभिन्न योग्यता, विचार और स्तर के साधको के चित्त की दशा पर दृष्टि रखकर की गयी है।

साधारणत. जब इन्द्रिय-ज्ञान और बुद्धि-ज्ञान का सघर्ष चलता है तो हम चित्त का एक अलग ही अस्तित्व मान लेते है और उसको अपने आधीन करने का विफल प्रयास करते है, उसकी निन्दा करते हैं, हार मानते हैं, साधन कठिन बताते है और अपनी विवशता कहकर जी चुराते है।

चित्तशुद्धि के प्रस्तुत विवेचन द्वारा यह प्रकाश मिलता है कि चित्त कर्त्ता नही है, कारण है। अशुद्धि उसका दोष नही है, अपना दोष है। व्यक्ति ने स्वय उसे अशुद्ध किया है और वह स्वय उसे शुद्ध भी कर सकता है।

समस्त सृष्टि मे जो शक्ति (Universal energy) निरन्तर कार्य कर रही है, "चित्त" उसी शक्ति की एक सुन्दर अभिव्यक्ति है। वह स्वरूप से अशुद्ध नही है।

इस विवेचन मे चित्त शब्द का प्रयोग अन्तःकरण के अर्थ मे किया गया है। यह जीवन के एक पहलू के कार्यों का प्रतीक मात्र है। मनोवैज्ञानिक भाषा मे जिसे Psychic Apparatus कहते है उसकी क्रियाओ के फल का आधार चित्त है। इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव इसमे अङ्कित होता है। प्रभाव जब तक अंकित होता रहता है तब तक चित्त का अस्तित्व भासता है। जब अङ्कित प्रभाव मिट जाता है तब चित्त का भास नही होता।

चित्त का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, जो स्वयं-प्रकाश्य है,उसमे अशुद्धि का प्रवेश हो नही सकता। इसलिए जिसमे अशुद्धि का प्रवेश है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नही होता। फिर जिसके स्वतन्त्र अस्तित्व का भास ही अशुद्धि पर निर्भर करता है उसके अस्तित्व का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ? इस दृष्टि से यह सिद्ध है कि चित्त का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है।

सीमित अहम्भाव की स्वीकृति से कर्तृत्व का अभिमान और वस्तुओ के सम्बन्ध से भोक्तृत्व की रुचि उत्पन्न होती है। उनका प्रभाव जिसमें अङ्कित होता है उसका नाम है चित्त। जैसे Mind शब्द का कोई Objective पहलू नही है वैसेही चित्त शब्द का कोई स्थूल रूप नही। इसकी क्रियाओ द्वारा इसका भास होता है।

सुने हुए, माने हुए, व्यक्त, अव्यक्त, भुक्त, अभुक्त इन्द्रिय-जनित सुख का राग अङ्कित होने के कारण जब सकल्पो की उत्पत्ति, पूर्ति और अपूर्ति के सुख-दु ख का प्रवाह चलने लगता है तब हम कहने लगते है कि चित्त दु खी है, खिन्न है, प्रसन्न है, चचल है और द्वन्द्व से भरा है आदि आदि। व्यक्त और अव्यक्त रूप से चलने वाले आन्तरिक सघर्ष के कारण "जीवनी-शक्ति" (Libidinal Force) चित्त के द्वन्द्व और उसके दमन मे व्यय होने लगती है, तब दैनिक जीवन के अभियोजन (Adjustment) एव विध्यात्मक साधन के लिए सामर्थ्य और अवकाश नही रह जाता। साधक चित्त को जिसमे लगाना चाहता है वहाँ लगता नही और जहा से उसे हटाना चाहता है वहाँ से वह हटता नही। चित्त साधक के आधीन नही रहता, वरन् साधक अपने को अपने चित्त के आधीन पाता है। यही चित्त की सबसे बडी अशुद्धि है।

चित्त के शुद्ध स्वरूप के सम्बन्ध मे यह कहा गया है कि चित्त के अस्तित्व का भास मिट जाना ही इसकी शुद्धि है। निर्विकारता आ जाय और वास्तविक जीवन से भिन्न का अस्तित्व न रह जाय—यही शुद्ध चित्त का स्वरूप है। चित्त का स्वरूप, उसका कार्य, उसकी अशुद्धि और शुद्धि के सम्बन्ध मे उपर्युक्त निश्चित धारणा (Definite concetion) लेकर अशुद्धि के कारण, शुद्धि के उपाय और उसके परिणाम का विशद विवेचना

सम्पूर्ण पुस्तक मे किया गया है। चित्त की अशुद्धि का स्थूल मे स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप का उल्लेख किया गया है, यथा—

१—"सामर्थ्य का दुरुपयोग चित्त की अशुद्धि है।"

२—"दोष की वेदना का न होना चित्त की अशुद्धि है।"

३—"कर्त्तव्य का ज्ञान न करना, विश्राम न पाना और जिसको अपना माना उसको प्यार न करना अस्वाभाविकता है। इससे चित्त अशुद्ध होता है।"

४—"किसी भी की हुई, सुनी हुई और देखी हुई भूतकाल की बुराई के आधार पर अपने को अथवा दूसरे को सदा के लिए बुरा मान लेना चित्त की अशुद्धि है।"

५—"वर्त्तमान की नीरसता चित्त की अशुद्धि का परिचायक है।"

६– "व्यर्थ चिन्तन चित्त को शान्त नही होने देता।"

७ – "वस्तु अवस्था एव परिस्थिति के आधार पर अपना मूल्या-कन करने से चित्त अशुद्ध होता है।"

८—"सयोग की दासता और वियोग का भय चित्त की अशुद्धि है।"

९—"करने मे सावधान और होने मे प्रसन्न नही रहने से चित्त अशुद्ध होता है।"

१०–"ज्ञान और जीवन मे भेद होना चित्त की अशुद्धि है।"

११–"साधक अपने व्यक्तित्व के मोह मे आबद्ध होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है।"

१२–"चित्त को दबाये रखना चित्त की अशुद्ध का पोपक है।"

१३–"सकल्पो की उत्पत्ति और पूर्ति मे ही जीवन-बुद्धि चित्त की अशुद्धि है।"

१४–"अहम्-भाव का महत्व चित्त की अशुद्धि है।"

१५--"बुद्धि के साधन में श्रम और चढाई का अनुभव एक अस्वाभाविकता है। यह चित्त की अशुद्धि है।"

१६—"सीमित गुणो का भोग अशुद्धि है॥"

१७—"साधन मार्ग की प्राप्त सिद्धियो मे सन्तुष्टि शुद्धि मे बाधा है।"

१८—"सीमित अहम्-भाव का नाश न होना मौलिक एव अन्तिम अशुद्धि है।"

साधक अपने चित्त की वैज्ञानिक व्याख्या नही जानता। वह ज्यो ही अपनी मौलिक माँग (जीवन,सामर्थ्य, रस) को पूर्ति के लिए साधन मे प्रवृत्त होना चाहता है त्यो ही चित्त की अशुद्धि से उसकी मुठभेड होती है और बेचारा अजान साधक वही उलझ जाता है। अनमोल जीवन का बहुत बडा भाग चित्त से सुलझने मे ही निकल जाता है। साधको की इस दशा को दृष्टि मे रख कर जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूत अशुद्धियो से प्रत्येक निबन्ध को प्रारम्भ किया गया है और उन अशुद्धियो के कारण तथा शुद्धि के अति व्यावहारिक उपाय बताये गये हैं। यद्यपि चित्त की अशुद्धि का मौलिक कारण एक ही है —वस्तु, अवस्था और परिस्थिति मे जीवन-बुद्धि की स्वीकृति, तथापि यह मौलिक अशुद्धि विभिन्न व्यक्तियो के चित्त मे विभिन्न रूपो मे व्यक्त होती है। इसलिये साधक के चित्त मे अशुद्धि जिन-जिन रूपो मे व्यक्त होती है उनका उल्लेख किया गया है जिससे साधक को पुस्तक की विपय-वस्तु अपने जीवन की विपय-वस्तु मालूम हो।

शिक्षा-विभाग मे साहित्य के पाठ्य-क्रम मे जिस प्रकार वर्ण-माला परिचय से लेकर भाषा-विज्ञान (Philology) का क्रम दिया रहता है और छात्र अपनी वर्तमान योग्यतानुसार अध्ययन

आरम्भ करता है, वैसे ही प्रस्तुत पुस्तक मे विभिन्न स्तर के साधको के लिए कर्म, चिन्तन एव स्थिति-काल की विभिन्न अशुद्धियो एव उनके मिटाने के उपायो का विवेचन किया गया है। इस पुस्तक मे प्रत्येक साधक को अपने चित्त का चित्र देखने को मिल सकता है और वह अपने योग्य साधन को अपनाकर अपना चित्त शद्ध कर सकता है।

सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण वाते जो इस चित्तशुद्धि के विवेचन मे मुझे मिलती है वे निम्नलिखित है—

१—"चित्त का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है।"

२—"चित्त करण है कर्त्ता नही।"

३—"इसकी अशुद्धि अपना वनाया हुआ दोप है, इसलिए अपने द्वारा मिटाया जा सकता है।"

४—"जव चित्त का ही स्वतन्त्र अस्तित्व नही है तो अशुद्धि स्थाई हो नही सकती, इसलिए अशुद्धि का नाश अवश्यम्भावी है।"

५—"सर्वांश मे चित्त किसी का अशुद्ध नही है।"

६—"विवेक के अनादर से अशुद्धि उत्पन्न हुई है, अत. विवेक के आदर से इसका नाश निश्चित है।"

७—"विवेक प्रत्येक मानव को सदा से प्राप्त है।"

८—"निज विवेक के आदर द्वारा प्रत्येक साधक युग-युग की अशुद्धि को वर्तमान मे मिटाने मे समर्थ है।"

९—"अशुद्धि के मिटते ही वास्तविक जीवन की प्राप्ति का साधन सुलभ हो जाता है अर्थात् सावन और जीवन मे अभिन्नता हो जाती है।"

१०—"चित्तशुद्धि सावक का पहला और अन्तिम पुरुषार्थ है।"

११—"अशुद्धि के ज्ञान मे शुद्धि का उपाय निहित है।"
१२—"एक बार शुद्धि आ जाने पर फिर अशुद्धि नही आती।"

चित्तशुद्धि के सम्बन्ध मे निर्दिष्ट उपर्युक्त प्रत्येक तथ्य साधक के पथ को प्रशस्त करने वाला है । जैसे कोई व्यक्ति धूमिल प्रकाश मे अपनी विकृत प्रतिच्छाया को देखकर प्रेत के भय से आक्रान्त हो गया हो और यदि यह बता दिया जाय कि वह प्रेत नही उसकी अपनी ही छाया है तो वह निर्भय होकर हँसने लगेगा । उसी प्रकार उपर्युक्त तथ्य चित्त की विकृति, चचलता और उसको जीतने की दुरूहता के भय से आक्रान्त साधक को भय-मुक्त करने वाले है।

साधक चित्त की अशुद्धि से घबडाते क्यो है ? क्योकि वे नही जानते कि अशुद्धि अस्तित्व-विहीन है, वे नही जानते कि यह प्रमाद-जनित है । उन्हे यह विश्वास नही रहता कि चित्त-शुद्धि वर्तमान जीवन का प्रश्न है। अनजान मे ही वे विध्यात्मक-साधन अपनाने का विफल प्रयास करते है, चित्त को बल पूर्वक दबाते है, थक कर सफलता से निराश होने लगते है और अपने साधन मे सन्देह करने लगते है जो साधक के जीवन का सबसे काला भाग है।

प्रस्तुत पुस्तक मे चित्तशुद्धि का जो विवेचन दिया गया है वह साधको का भ्रम मिटाकर उनके साधन को सजीव बनाने वाला है । चित्तशुद्धि वर्तमान जीवन का प्रश्न है, यह बात स्वीकार करते ही साधक मे अदम्य उत्साह उत्पन्न होता है और वह साधन मे तल्लीन हो जाता है।

चित्तशुद्धि का विषय मानव जाति के मानसिक स्वास्थ्य के पहलू पर प्रकाश डालता है । आधुनिक युग मे मानसिक स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए बडे-बडे सिद्धान्त निर्धारित किये जा रहे है, क्योकि आज मनुष्य का अभियोजन

(Adjustment) अपेक्षाकृत कठिन हो गया है। विचारक इस बात को समझने लगे हैं कि असन्तुलन का कारण बाहर की अपेक्षा मनुष्य के भीतर अधिक है । मानसिक विकृतियों से पीड़ित भाई-बहनो के लिए मानसिक चिकित्सालयो पर अपार धन-राशि खर्च हो रही है । कितने ही प्रतिभाशाली अन्वेषक रोगियो के दु ख से पीडित होकर अपना जीवन रोगो के कारण और उनके निवारण की खोज पर लगाये जा रहे हैं। फिर भी स्विट्जरलैन्ड के विख्यात मानसिक रोगो के चिकित्सक और मनोविज्ञान के अध्यापक (Psychiatrist एव Psychology teacher) डा० बॉस ((Dr Boss) के व्यथित हृदय से निराशा-भरी वाणी निकलती है :—

"As we study more and more in Psychology, we find ourselves hanging in the air our findings are baseless I have come to Indian Saints to find something more solid, more depandable which we can give to our students"

शब्दावली मुझे ठीक याद नही है पर साराश यही है कि मनोविज्ञान के क्षेत्र मे वे जितना अधिक अध्ययन करते हैं उतना ही अधिक उनका ज्ञान निराधार मालूम होता है । वे चाहते हैं कि कुछ अधिक विश्वसनीय तत्व प्राप्त हो। इसीके लिए वे भारतीय सन्तो के पास आते हैं ताकि अपने विद्यार्थियो को कुछ अधिक विश्वसनीय तत्व दे सकें ।

ठीक है । चित्त-शुद्धि की प्रस्तुत व्याख्या को पढ़ कर मुझे ऐसा लगता है कि जिस विज्ञान का विशेषत (Psychopathology का आधार ही अस्तित्व-विहीन है, उसमे से कोई Dependable तत्व मिल ही कैसे सकता है ?

आज चित्त के व्यक्त और अव्यक्त सघर्ष को सुलझाने का प्रयास करने वाले मानव जाति के हित चितको को यदि यह विदित हो जाय कि द्वन्द्व-जनित विकृति का आधार ही अस्तित्व-विहीन है तो उस समस्या को सुलझाने का सरल मार्ग निकल जाय। तब Freud के इन शब्दो को दुहराना नही पडे कि "We can not supress the cry that life is not easy" "हम इस क्रन्दन को दबा नही सकते कि जीवन आसान नही है।"

यह बात तो Psychic Apparatus के अस्तित्व को स्वीकार कर उठने वाले सकल्पो की पूर्ति-अपूर्ति को जीवन मान कर ही कही जाती है। वस्तु मे जीवन-बुद्धि रखने के बाद सघर्ष, निराशा, क्षोभ और विकृति से परित्राण कैसे मिले? नही मिल सकता। अशुद्धि-जनित पीडा से परित्राण तो वास्तविक जीवन से अभिन्न होने पर ही सम्भव है। प्रस्तुत व्याख्या सामान्य-असामान्य चित्त वालो (Normal-Abnormal) को चेतन-अचेतन के सघर्ष की पीडा से बचाने का महामन्त्र है।

अशुद्धि का मूल कारण है देह, अवस्था, वस्तु एव परिस्थिति मे जीवन-बुद्धि जो प्रमाद जनित है। शुद्धि का मूल उपाय बताया गया है :—

(१) आस्तिक दृष्टि से विश्वासपूर्वक अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेना।

(२) अध्यात्म दृष्टि से विवेकपूर्वक अचाह होना।

(३) भौतिक दृष्टि से वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगा कर लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए विधिपूर्वक सम्पादित करना।

शुद्धि का परिणाम वताया गया है चित्त की स्थिरता, शाति और स्वस्थता। शुद्धि से मर्व-हितकारी भावनाये उदित होती हैं, शान्ति से सामर्थ्य और स्वाधीनता आती है और चित्त की स्वस्थ दशा मे न शान्ति भग होती है और न अशुद्धि आती है। अत चित्त को जिसमे लगाना चाहिए उसमे लग जाता है और जिससे हटाना चाहिए उससे हट जाता है। प्रत्येक दशा मे साधक की शान्ति, निर्भयता एव प्रसन्नता सुरक्षित रहती है। साधक के साधन और जीवन मे एकता हो जाती है। यही मानव जीवन की सार्थकता है, यही साधक की सिद्धि है।

प्रस्तुत पुस्तक के रचयिता मानवता के प्रेमी एक सन्त है जिन्होने जीवन की घटनाओ मे चित्त की अशुद्धियो का अध्ययन किया है और अपने अनुभूत प्रयोगो के आधार पर चित्त शुद्धि के साधनो का प्रतिपादन किया है। आपके विचारो मे अद्भुत क्राति है। आपकी पैनी दृष्टि जीवन की समस्याओ की गुह्यतम तह तक पहुँचती है। इसलिए आपके द्वारा प्रतिपादित साधन साधक की समस्याओ का मूलोच्छेद करने मे समर्थ है। यदि आपने मानव-सेवा-सघ द्वारा प्रकाशित "सन्त समागम", "मानव की माग" "जीवन दर्शन" आदि पुस्तके पढी होगी तो आप उनकी शैली से पहले से ही परिचित होगे। "चित्तशुद्धि" भी उन्ही की पवित्र वाणी द्वारा अभिव्यक्त विचारो का संग्रह है। सत्य के साथ किसी व्यक्ति विशेष का नाम जोडना उनके सिद्धान्त से उचित नही है, इसी कारण उनके द्वारा रचित पुस्तको मे उनका नाम नही दिया जाता। साधक-समाज की उलझनो से व्यथित इन महामानव को स्वत जो प्रकाश मिला है वह आपके आगे "चित्तशुद्धि" के रूप मे प्रस्तुत है। इसमे प्रतिपादित चित्त की अशुद्धि का मूल

कारण, शुद्धि के मुख्य साधन और उनका परिणाम मुझे अत्यन्त उपयोगी और आशाजनक मालूम होते है। यह हम सब के लिए कल्याणकारी हो इसी सद्भावना के साथ—

मानव-सेवा-सघ आश्रम
वृन्दावन

विनीता—
देवकी

दिनाक ६-३-५८

विषय-सूची

१

अशुद्धि क्या ?

[सकल्पो की उत्पत्ति-पूर्ति मे ही जीवन-वुद्धि स्वीकार करना और सकल्पो से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा जागृत न होना ही चित्त की अशुद्धि है ।

मकल्प-पूर्ति के सुख की दासता और सकल्प-अपूर्ति का भय मिट जाने पर सकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति के, जीवन से तद्रूपता नही रहती है। तद्रूपता के मिटते ही चित्त स्वत शुद्ध होने लगता है ।

अपने से वस्तुओ का अधिक महत्व स्वीकार करना सकल्पो मे आवद्ध होना है । अत सकल्प रहित होने के लिए यह आवश्यक है कि सभी वस्तुओ से अपने को विमुख कर लिया जाय । वस्तुओ से असग होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

चित्त की शुद्धि का भले ही किसी को ज्ञान न हो पर चित्त की अशुद्धि का तो ज्ञान मानव मात्र को है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो चित्त की शुद्धि का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। विचार यह करना है कि हमारी अपनी दृष्टि मे अपने चित्त मे क्या अशुद्धि प्रतीत होती है। जब हम अपने चित्त को अपने अधीन नही पाते है तब यह भास होता है कि चित्त मे कोई दोप है। यदि हमारा

चित्त हमारे अधीन होता तो हम चित्त के लगाने तथा हटाने मे अपने को सर्वदा स्वाधीन पाते। पर ऐसा करने मे हम अपने को असमर्थ पाते है। हमारी असमर्थता ही हमे यह वता देती है कि हमारे चित्त मे कोई अशुद्धि है।

किसी मे अस्वाभाविकता का आ जाना ही अशुद्धि है। इस दृष्टि से हमे अपनी अनुभूति के आधार पर यह जान लेना है कि हमारे चित्तमे क्या अस्वाभाविकता आ गई है जिससे हम अपने चित्त को अपने अधीन नही रख पाते है। सकल्पो की उत्पत्ति तथा पूर्ति को ही हम अपना जीवन मान वैठे है। यद्यपि सकल्पो की उत्पत्ति से पूर्व भी जोवन है और सकल्प-पूर्तिके पश्चात् भी जीवन है परन्तु हम उस स्वाभाविक जीवन की ओर ध्यान नही देते और सकल्प की उत्पत्ति तथा उसकी पूर्ति को द्वन्द्वात्मक परिस्थिति को ही जीवन मान लेते है, यही अस्वाभाविकता है। इस अस्वाभाविकता के प्रभाव से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। इस दृष्टि से सकल्पो की उत्पत्ति-पूर्ति मे ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करना और सकल्पो से अतोत के जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा जागृत न होना ही चित्त की अशुद्धि है।

संकल्पो की उत्पत्ति जिसमे होती है और उनकी पूर्ति जिन साधनो से होती है, उन दोनो का जो प्रकाशक है अथवा जिससे उन दोनो को सत्ता मिलती है, उसमे जीवन-बुद्धि स्वीकार न करना अनुभूति का विरोध है, और सकल्पो की उत्पत्ति-पूर्ति मे ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करना, यह निज अनुभूति का अनादर करना है। इस भूल से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। अव विचार यह करना है कि सकल्पो की उत्पत्ति का उद्गम स्थान क्या है और उन सकल्पो की पूर्ति जिन साधनो से होती है उनका स्वरूप क्या है? जिन मान्यताओ से किसी न किसी प्रकार के भेद की

उत्पत्ति होती है उन मान्यताओ मे अहम्-बुद्धि स्वीकार करने पर ही सकल्पो की उत्पत्ति होती है और जिन वस्तुओ से संकल्पो की पूर्ति होती है वे सभी वस्तुएँ पर-प्रकाश्य हैं, परिवर्तनशील हैं और उत्पत्ति-बिनाशयुक्त है। इसी कारण सकल्प-पूर्ति का सुख सकल्प-उत्पत्ति का हेतु बन जाता है। उत्पत्ति-पूर्ति का क्रम सतत चलता रहता है। उससे तद्रूप होकर प्राणी अनेक प्रकार के अभावो मे आबद्ध होकर दीनता तथा अभिमान की अग्नि मे दग्ध होता रहता है। सकल्पो की उत्पत्ति-पूर्ति से अतीत के जीवन पर विश्वास हो जाय अथवा उसका अनुभव हो जाय तो प्राणी बडी ही सुगमता पूर्वक चिर-विश्राम पाकर कृत-कृत्य हो जाता है।

सकल्पो की उत्पत्ति-पूर्ति के जीवन मे सभी किसी न किसी प्रकार का अभाव अनुभव करते हैं। यही समस्या उस जीवन से अतीत के जीवन की ओर प्रेरित करती है। वह प्रेरणा जिसका प्रकाश है उसकी सत्ता स्वीकार करना और सकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति के जीवन को केवल राग निवृत्ति का साधन मानना चित्त की अशुद्धि मिटाने मे समर्थ है। इस दृष्टि से सकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति का जीवन अभाव रूप है और उससे अतीत का जीवन भावरूप है। अभाव का प्रकाशन भावरूप सत्ता से ही होता है। यदि अभाव की अनुभूति को वास्तविक जीवन की लालसा मान लिया जाय तो अभाव की अनुभूति भी वास्तविक जीवन की ओर अग्रसर करने मे हेतु बन जाती है। इस दृष्टि से सकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति का जीवन वास्तविक जीवन का साधन मात्र है और कुछ नही। अत. सकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति को ही जीवन स्वीकार करना चित्त को अशुद्ध रखना है। यद्यपि इस स्वीकृति मे निज अनुभूति का विरोध है, फिर भी उसका प्रभाव चित्त पर अङ्कित रहना चित्त की अशुद्धि का स्वरूप है।

इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि जो जीवन मे दिखाई देती है वह ऐसी वस्तु नही है कि मिट न सके। अवश्य मिट सकती है। पर कब ? जब सकल्प-पूर्ति के सुख का महत्व न रहे, अपितु उसमे पराधीनता का दर्शन हो और सकल्प अपूर्ति का क्षोभ भयभीत न कर सके। सकल्प-पूर्ति के सुख की दासता और सकल्प अपूर्ति का भय मिट जाने पर सकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति के जीवन से तद्रूपता नही रहती है। तद्रूपता के मिटते ही चित्त स्वत शुद्ध होने लगता है। पर चित्त इतनी गहरी खाई है कि उसके शुद्ध, शात तथा स्वस्थ होते समय भुक्त-अभुक्त सकल्पो के प्रभाव से, प्रेरित होकर सकल्पो का प्रवाह चलने लगता है। उसे देखकर साधक भयभीत हो जाता है और स्वय अपने आप अपनी तथा चित्त की निन्दा करने लगता है। यद्यपि चित्त निन्दनीय नही है, उसमे जो भुक्त-अभुक्त सकल्पो का प्रभाव अङ्कित हो गया है वही त्याज्य है जो चित्त के शुद्ध होते समय मिटने के लिए स्वय प्रकट होता है। पर साधक भयभीत होकर उसे दबाने का प्रयास करता है अथवा सुखद मनोराज्य का मिथ्य रस लेने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह प्रभाव स्थिर हो जाता है, मिट नही पाता है और साधक चित्त-शुद्धि से निराश होने लगता है। अनेक प्रकार की युक्तियो से, प्रमाणो से इस धारणा को पुष्ट कर लेता है कि भला हमारा चित्त कैसे शुद्ध हो सकता है, जो स्वभाव से ही चंचल है। पर ऐसी बात नही है कि चित्त शुद्ध नही हो सकता। प्राकृतिक नियम के अनुसार चित्त स्वभाव से ही शुद्धि की ओर गतिशील होता है। इसी कारण चित्त मे चचलता प्रतीत होती है। जब उसे अपना अभीष्ट रस—प्रसन्नता तथा जीवन—मिल जाता है तब वह सदा के लिए शुद्ध, शांत एव स्वस्थ हो जाता है। इस दृष्टि से चित्त हमारा

हितैषी है, विरोधी नही। उसकी निन्दा करना अपने प्रति घोर अन्याय है। चित्त-शुद्धि की जिज्ञासा तथा लालसा उत्तरोत्तर सबल तथा स्थाई रहनी चाहिए। उससे कभी निराश नही होना चाहिए अपितु चित्त-शुद्धि के लिए नित-नव उत्कठा तथा उत्साह वढता रहना चाहिए। यह नियम है कि उत्साह तथा उत्कठा मे एक अपूर्व रस है और रस चित्त को स्वभाव से ही प्रिय है ज्यो-ज्यो उस रस की वृद्धि होती है त्यो-त्यो चित्त का मनोराज्य गलता जाता है, जिसके गलते ही चिरविश्रान्ति स्वत आ जाती है जो सभी को अभीष्ट है।

सकल्प-पूर्ति के सुख की दासता और सकल्प-उत्पत्ति के दुख के भय से मुक्त होने के लिए यह जान लेना अनिवार्य है कि सकल्प क्या है ? वस्तुओ की सत्यता, सुन्दरता एव सुख-रूपता का आकर्पण ही सकल्प का स्वरूप है, अथवा यो कहो कि अपने से वस्तुओ का अधिक महत्व स्वीकार करना सकल्पो मे आबद्ध होना है। अत सकल्परहित होने के लिए यह आवश्यक है कि सभी वस्तुओ से अपने को विमुख कर लिया जाय। वस्तुओ से विमुख होते ही वस्तुओ की सत्यता तथा सुन्दरता शेष नही रहती, कारण कि वस्तुओ की असगता प्राणी को निर्लोभी वना देती है। निर्लोभता के आते ही वस्तुओ का मूल्य घट जाता है और फिर वस्तुओ की दासता शेप नही रहती। वस्तुओ को दासता मिटते ही भोग की रुचि स्वत ही मिट जाती है और योग की लालसा जागृत होती है।

अव विचार यह करना है कि वस्तु का स्वरूप क्या है ? वस्तु उसे कहते है जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त हो, परिवर्तनशील एव पर-प्रकाश्य हो। इस दृष्टि से शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभी वस्तुओ के अर्थ मे आ जाते है। इतना ही नही, जिसे हम सृष्टि कहते है वह भी एक वस्तु ही है क्योकि सृष्टि

अपने को अपने आप प्रकाशित नही करती । हम भले ही किसी वस्तु से ममता करें पर वस्तु कभी अपनी ओर से हमे अपना नही कहती । इस दृष्टि से वस्तुओ से हमारी भिन्नता है, एकता नही । जिससे एकता नही है उसे अपना मान लेना उसकी दासता मे आवद्ध होना है और कुछ नही । वस्तुओ की दासता ने ही हमे सकल्पो की उत्पत्ति और पूर्ति के जीवन से तद्रूप कर दिया है । प्राणी वस्तुओ से ममता भले ही वनाये रक्खे, पर उनका वियोग तो स्वभाव से ही हो जाता है । अत वस्तुओ के रहते हुए ही हमे उनसे असग होजाना चाहिए, तभी लोभ, मोह आदि दोषो की निवृत्ति हो सकती है, जिसके होते ही चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है ।

अव विचार यह करना है कि सकल्प तथा वस्तु मे सम्वन्ध क्या है ? वस्तुओ से सकल्प की उत्पत्ति होती है अथवा सकल्प मे वस्तुएँ विद्यमान रहती है ? यदि कोई कहे कि वस्तुओ से सकल्प की उत्पत्ति होती है तो सकल्प विना वस्तुओ की प्रतीति कैसे हुई ? और यदि कोई यह कहे कि सकल्प से वस्तुएँ उत्पन्न होती है तो सकल्प-अपूर्ति का प्रश्न ही जीवन मे क्यो आया ? अत न तो वस्तुओ से सकल्प की उत्पत्ति सिद्ध होती है और न सकल्प से ही वस्तुओ की । परन्तु प्राणी सकल्प के द्वारा ही वस्तुओ मे सम्वन्ध स्थापित करता है। सम्वन्ध उसी से हो सकता है जिससे किसी न किसी प्रकार की एकता तथा भिन्नता हो । इस दृष्टि से सकल्प तथा वस्तुओ मे किसी न किसी प्रकार की एकता और भिन्नता अवश्य है । वस्तुओ के द्वारा सुख की आशा ने सकल्प का जन्म दिया और सकल्प-पूर्ति ने वस्तु को महत्व प्रदान किया ।

अव विचार यह करना है कि वस्तुओ के द्वारा सुख की आशा का जन्म कैसे हुआ ? शरीररूपी वुद्धि मे अहम्-बुद्धि हो

जाने पर वस्तुओं की कामना स्वत, उत्पन्न होती है, क्योकि शरीर और सृष्टि के गुणो की भिन्नता और स्वरूप की एकता है। इसी कारण शरीर से तद्रूप होने पर सृष्टि से सुख की आशा उत्पन्न होती है। शरीर की तद्रूपता न तो वस्तु है और न सकल्प, अपितु अविवेक है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि अविवेक से ही सकल्प और वस्तु मे सम्बन्ध की स्थापना हुई। विवेकपूर्वक शरीर से तद्रूपता मिट जाने पर सकल्प की उत्पत्ति ही नही होती। सकल्पो की निवृत्ति होते ही सुख-दु ख से अतीत, शाँति के साम्राज्य मे प्रवेश हो जाता है, जिसके होते ही भोक्ता, भोग की रुचि और भोग्य वस्तुएँ इन तीनो का भेद मिट जाता है, क्योकि भोक्ता से भिन्न भोग की रुचि और भोग की रुचि के विना भोग्य वस्तु की प्रतीति ही सभव नही है। अथवा यो कहो कि भोग की रुचि का जो समूह है उसमे जिसने अहम बुद्धि को स्वीकार किया उसी को भोक्ता कह सकते हैं। भोक्ता मे ही सकल्पो की उत्पत्ति होती है और सकल्पो की उत्पत्ति ही भोग्य वस्तुओ से सम्बन्ध जोडती है जो वास्तव मे चित्त की अशुद्धि है। सकल्प की उत्पत्ति जिन भोग्य वस्तुओ से सम्बन्ध जोड देती है, उन वस्तुओ का अस्तित्व क्या है ? ऐसी कोई भी वस्तु नही है कि जिसकी प्राप्ति अप्राप्ति मे स्वत न बदल जाय। अप्राप्ति उसी की हो सकती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व न हो। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व ही सिद्ध नही होता। स्वतन्त्र अस्तित्व उसी का हो सकता है, जिससे वस्तुओ की उत्पत्ति हो और जिसमे वस्तुएँ विलीन हो। वस्तुओ की उत्पत्ति के मूल मे जो अनुत्पन्न तत्व है, उसी की स्वतन्त्र सत्ता हो सकती है। उस स्वतन्त्र सत्ता को जो स्वीकार कर लेता है, वह बडी ही सुगमतापूर्वक वस्तुओं से असग हो जाता है। वस्तुओ

से असग होते ही चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है। वस्तुओ से सग की स्थापना कब हुई थी, इसका ज्ञान सभव नही है, किन्तु वस्तुओ से असगता हो सकती है। इससे यह मान ही लेना पडता है कि वस्तुओ का सग स्वीकार किया गया है और उसका परिणाम यह हुआ है कि चित्त अशुद्ध हो गया है, जिसके होने मे जीवन पराधीनता, जडता आदि दोषो मे आबद्ध हो गया है, जो किसी को भी स्वभाव से प्रिय नही है। इसी कारण चित्त-शुद्धि का प्रश्न जीवन का प्रश्न है। उसे वर्तमान मे ही हल करना है। वह तभी सम्भव होगा जब सकल्प की उत्पत्ति और पूर्ति के द्वन्द्वात्मक सुख-दुःख-युक्त जीवन मे अतीत के जीवन को प्राप्त करे, जो विवेक-सिद्ध है।

३-५-५६

२

अशुद्धि के कारण की खोज

[सर्वांश मे चित्त कभी अशुद्ध नही होता । अत चित्त की शुद्धि मे किसी को निराश नही होना चाहिए और न हार स्वीकार करनी चाहिए, अपितु चित्तशुद्धि की उत्कट लालसा को सबल तथा स्थायी बनाना चाहिए ।

सकल्प-पूर्ति का सुख जडता उत्पन्न करता है और नवीन सकल्पो की पुनरावृत्ति की प्रेरणा देता है । उस जडता का नाश सकल्प-अपूर्ति की वेदना से होता है । पर असावधानी के कारण यदि साधक सकल्प-अपूर्ति के दुख से भयभीत होजाय तो वह सकल्प-पूर्ति की दासता मे आबद्ध हो-जाता है ।

'जिन सकल्पो से किसी अप्राप्त वस्तु, अवस्था आदि का आह्वान होने लगता है वे अशुद्ध सकल्प है, और जो सकल्प सभी अवस्थाओ मे अतीत के जीवन की जिज्ञासा जागृत करते हैं, वे शुद्ध सकल्प है ।

शुद्ध तथा आवश्यक सकल्प की पूर्ति का प्रयत्न आरम्भ होते ही अनावश्यक तथा अशुद्ध सकल्पो का प्रवाह बडे वेग से उठने लगता है । पर साधक को भयभीत तथा निराश नही होना चाहिये क्योकि जिस ज्ञान से चित्त के विकारो का बोध होता है उसी ज्ञान मे चित्त को निर्विकार बनाने की सामर्थ्य विद्यमान है ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

सर्वांश मे चित्त कभी भी अशुद्ध नही होता। यदि ऐसा होता तो चित्त की शुद्धि का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। इससे यह समझ लेना चाहिए कि चित्त मे जो अशुद्धि भासती है वह उसके किसी अशमात्र मे है। जिस ज्ञान मे चित्त की अशुद्धि को जानते हैं उसी ज्ञान मे चित्त को शुद्ध करने की सामर्थ्य निहित है। पर कब ? जब चित्त की अशुद्धि के कारण की खोज की जाय। चित्तशुद्धि की उत्कट लालसा अशुद्धि के कारण की खोज करने मे समर्थ है। कारण कि शुद्धि की लालसा अशुद्धिजनित सुख की रुचि को खा लेती है। उसके मिटते ही अशुद्धि का कारण स्पष्ट विदित हो जाता है, जिसके होते ही अशुद्धि का कारण स्वत मिटने लगता है और उसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। अत चित्त की शुद्धि से किसी को निराश नही होना चाहिए और न हार स्वीकार करनी चाहिए, अपितु चित्तशुद्धि की उत्कट लालसा को सबल तथा स्थाई बनाना चाहिए।

यह नियम है कि जिस ज्ञान से चित्त की अशुद्धि का कारण विदित होता है वह नित्य है, स्वाभाविक है, भौतिक दृष्टि से प्राकृतिक विकास है, अध्यात्म-दृष्टि से अपने ही स्वरूप की महिमा है और आस्तिक दृष्टि से अनन्त की अहैतुकी कृपाशक्ति है। हमे उस ज्ञान का आदर करना चाहिए, क्योकि वही हमारा वास्तविक पथ-प्रदर्शक है। इतना ही नही, उसे तो निज की ही सम्पत्ति समझना चाहिए, अर्थात् उसमे अत्यन्त आत्मीयता हो, उसका कभी भी विरोध न हो तो बडी ही सुगमतापूर्वक चित्त-शुद्धि की साधना मे सफलता प्राप्त हो जाती है।

सकल्प-पूर्ति का सुख जडता उत्पन्न करता है और नवीन संकल्पों की पुनरावृत्ति की प्रेरणा देता है, अर्थात् जिन सकल्पो की

पूर्ति अनेक वार हो चुकी है, उनको वास्तविकता का परिचय नही होने देता, अपितु सकल्प-पूर्ति के सुख का राग ही उत्पन्न कर पराधीन वना देता है, जिससे प्राणी परिस्थितियो की दासता से मुक्त नही हो पाता, किसी न किसी परिस्थिति का आवाहन ही करता रहता है। परन्तु जब सकल्प-अपूर्ति का चित्र सामने आता है और उसकी पूर्ति से प्राणी को निराशा होने लगती है तब संकल्प-पूर्ति से उत्पन्न हुई जडता मिटने लगती है और एक नवीन चेतना उदित होती है। यद्यपि सकल्प-अपूर्ति की घडिया वडी ही दु खद प्रतीत होती है, किन्तु उसी से वास्तविक जीवन की ओर गतिशील होने के लिए प्रकाश मिलता है। इस दृष्टि से सकल्प-अपूर्ति की वेदना भी जीवन का एक आवश्यक अंग है। साधक को उससे भयभीत नही होना चाहिए।

सकल्प-पूर्ति का सुख साधन-पथ मे अग्रसर होने वाले साधक के लिये विश्राम का क्षण है, उसी को जीवन मान कर ठहरना नही चाहिए। विश्राम का क्षण सुखद है, इसमे सन्देह नहीं है और वास्तविक उद्योग की सामर्थ्य के लिए उसकी आवश्यकता भी है, जिससे साधक अपने अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँच सके। सकल्प अपूर्ति की वेदना सकल्प-पूर्ति के सुख से मुक्त करके साधक को अपने अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचने के लिए नवीन स्फूर्ति प्रदान करती है। इस दृष्टि से सकल्प-पूर्ति तथा अपूर्ति दोनो मे ही उस अनन्त का मगलमय विधान निहित है।

यद्यपि सकल्प-पूर्ति का सुख सभी को प्रिय होता है और सकल्प-अपूर्ति का दु ख किसी को भी अभीष्ट नही है, परन्तु सकल्प-पूर्ति का वह अश जो सकल्प-पूर्ति की वास्तविकता का परिचय देने मे समर्थ होता है, साधक के लिए हितकर है अर्थात् सकल्प-पूर्ति मे कितना सुख है, इसका वोध हो जाता है। पर यदि

उसी को जीवन मान लिया जाय तो संकल्प-पूर्ति से जडता आ जाती है, क्योकि जिन वस्तुओ मे सकल्प पूरा होता है उनसे तादात्म्य हो जाता है और उनका महत्व इतना बढ जाता है कि वस्तुओ से अतीत भी कोई जीवन है, इसकी चेतना नही रहती। इस जडता का नाश सकल्प-अपूर्ति की वेदना से होता है। इस दृष्टि से सकल्प-अपूर्ति बडे ही महत्व की वस्तु है। पर असावधानी के कारण यदि साधक सकल्प-अपूर्ति के दुख से भयभीत हो जाय तो वह बेचारा सकल्प-पूर्ति की दासता मे आबद्ध हो जाता है। अत बडी ही सावधानीपूर्वक इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि संकल्प-अपूर्ति से वेदना चाहे जितनी हो पर सकल्प-पूर्ति की आशा नही करनी चाहिए। सकल्प-पूर्ति से निराशा आ जाने पर वस्तुओ से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा स्वत जागृत होती है, जो सकल्प-पूर्ति के राग को खा जाती है, और जिसके बाद जिज्ञासा की पूर्ति स्वत हो जाती है।

संकल्प-उत्पत्ति किसी अप्राप्त की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती है, अर्थात् प्राप्त परिस्थिति मे असन्तोष उत्पन्न कर देती है। ऐसी दशा मे या तो किसी अप्राप्त वस्तु—अवस्था आदि का आवाहन होने लगता है अथवा सभी अवस्थाओ से अतीत के जीवन की लालसा जागृत होती है। जिन सकल्पो से किसी अप्राप्त वस्तु, अवस्था आदि का आवाहन होने लगता है, वे सकल्प-अशुद्ध है और त्याज्य है, क्योकि वे जडता तथा पराधीनता की ओर ले जाते है और जो सकल्प सभी अवस्थाओ के अतीत के जीवन की जिज्ञासा जागृत करते है, वे शुद्ध सकल्प है। यह नियम है कि अशुद्ध सकल्प मिट जाने पर शुद्ध सकल्प स्वत पूरे हो जाते है।

अशुद्ध सकल्पो के त्याग मे शुद्ध सकल्पो की पूर्ति की

सामर्थ्य निहित है और शुद्ध सकल्पो की पूर्ति के सुख के त्याग मे निर्विकल्प होने का सामर्थ्य निहित है। निर्विकल्पता आ जाने पर सुख-दु ख गल कर चिरशान्ति मे विलीन हो जाते है और चित्त की अशुद्धि स्वत मिटने लगती है।

अनावश्यक तथा अशुद्ध सकल्पो के त्याग से चित्त-शुद्धि की साधना आरम्भ होती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अशुद्ध सकल्पो के त्याग से उन शुद्ध सकल्पो की पूर्ति स्वत हो जाती है, जिनका राग सकल्प-पूर्ति के विना मिट ही नही सकता। अनावश्यक सकल्प शुद्ध ही क्यो न हो, पर वे परिस्थिति के अनुरूप आवश्यक शुद्ध सकल्पो की पूर्ति मे बाधक होते है, क्योकि अनावश्यक संकल्पो से प्राप्त शक्ति का ह्रास हो जाता है। जो शक्ति शुद्ध सकल्पो की पूर्ति के लिए मिली थी, वह व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है। इस दृष्टि से अनावश्यक सकल्पो का त्याग अनिवार्य है। अशुद्ध सकल्पो से अकर्त्तव्य का जन्म होता है, जो कर्त्तव्य-परायणता से तो विमुख कर ही देता है साथ ही अवनति की ओर भी ले जाता है, अर्थात् वर्तमान वस्तुस्थिति से भी गिरावट की ओर ले जाता है। इस दृष्टि से अशुद्ध और अनावश्यक, दोनो ही प्रकार के, सकल्प त्याज्य है।

अनावश्यक तथा अशुद्ध सकल्पो के त्याग का उपाय क्या है ? आवश्यक सकल्पो को परिस्थियो के अनुसार, पवित्र भाव से, लक्ष्य पर दृष्टि रखकर कर्त्तव्य-बुद्धि से पूरा कर डालना चाहिए। आवश्यक सकल्प वही है जिसको पूरा करने का सामर्थ्य प्राप्त हो और जिसका सम्बन्ध वर्तमान से हो, जिसको विना पूरा किए हम किसी भी प्रकार रह न सकें और जिसके पूरे होने मे किसी का अहित न हो। इस दृष्टि से आवश्यक सकल्पो की पूर्ति मे साधक परतन्त्र नही है। आवश्यक सकल्प

पूरे हो जाने पर विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है, जिसके होते ही अशुद्ध सकल्प स्वत मिट जाते है। अत वडी ही तत्परतापूर्वक आवश्यक सकल्प पूरा कर डालना चाहिये। आवश्यक सकल्पो की पूर्ति मे प्राकृतिक विरोध नही है। असावधानी और आलस्य के कारण ही आवश्यक सकल्प पूरे नही होते, तव अनावश्यक और अशुद्ध सकल्प उठने लगते है जो प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास तथा दुरुपयोग कराने मे हेतु वन जाते हैं, जिससे चित्त मे उत्तरोत्तर अशुद्धि ही वृद्धि पाती है। इस दृष्टि से आवश्यक सकल्पो का पूरा करना अत्यन्त आवश्यक है।

शुद्ध तथा आवश्यक सकल्प की पूर्ति का प्रयत्न आरम्भ होते ही अनावश्यक तथा अशुद्ध सकल्पो का प्रवाह वड़े ही वेग से उठने लगता है। साधक उसे देख भयभीत हो जाता है और वलपूर्वक उस प्रवाह को मिटाने का उद्योग करने लगता है पर वेचारा सफल नही होता। ऐसी दशा मे यह आवश्यक हो जाता है कि सकल्पो का जो प्रवाह उठ रहा है, उससे असहयोग कर लिया जाय। वह तभी सम्भव होगा जव साधक को यह विश्वास हो जाय कि भुक्त-अभुक्त इच्छाओ के प्रभाव से ही दवे हुए सकल्प मिटने के लिये उठ रहे हैं, यह नवीन सकल्पो की उत्पत्ति नही है। सकल्प-पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दु ख का जो भोग है, उसी से भुक्त-अभुक्त इच्छाओ का प्रभाव चित्त मे अकित हुआ है। जव साधक चित्त-शुद्धि की साधना मे प्रवृत्त होता है, तव चित्त मे स्वत एक स्फूर्ति आती है, जिससे अकित प्रभाव मिटने के लिए प्रकट होने लगता है। पर साधक इस रहस्य को विना जाने वलपूर्वक सकल्पो के उस प्रवाह को रोकने लगता है। इतना ही नही, वह अशुद्ध सकल्पो से भयभीत होकर चित्त की निन्दा करने लगता है और शुद्ध सकल्पो का सुख भोगने लगता है।

उसका परिणाम यह होता है कि जो दबी हुई अशुद्धि मिट रही थी, वह ज्यो की त्यो अकित रह जाती है। ऐसी दशा मे साधक को बडी ही सावधानी पूर्वक चित्त-शुद्धि के लिए अथक प्रयत्न करना चाहिए। उससे निराश नही होना चाहिए, अपितु प्रयत्नशील बने रहने के लिए नित-नव उत्कठा तथा उत्साह बढना चाहिए।

प्राकृतिक नियम के अनुसार ऐसी कोई अशुद्धि है ही नही, जो स्वत न मिट जाय, पर अशुद्धि-जनित जो सुख है उसका त्याग हम नही करते, इस कारण अशुद्धि की पुनरावृत्ति होती रहती है। यदि अशुद्धि की स्वतन्त्र सत्ता न स्वीकार की जाय और अशुद्धि-जनित जो सुख है उसको न अपनाया जाय तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक अशुद्धि सदा के लिए मिट जाती है।

चित्त की अशुद्धि का ज्ञान ही तब होता है जब चित्तशुद्धि की साधना आरभ होती है। अत चित्त की अशुद्धि को जान-कर यह नही समझना चाहिए कि चित्त शुद्ध नही हो रहा है, क्योकि चित्त को एकाग्रता की साधना करते समय ही चित्त की चचलता का बोध होता है और चित्त को निर्मल करते समय ही उसकी मलिनता भासती है। चित्त की चचलता तथा मलिनता का बोध चित्त की एकाग्रता तथा निर्मलता का साधन है, क्योकि जिस ज्ञान से चित्त के विकारो का बोध होता है उसी ज्ञान मे चित्त को निर्विकार बनाने का सामर्थ्य विद्यमान है, क्योकि वह ज्ञान जिसकी देन है वह सर्वसमर्थ है।

अपनी-अपनी धारणा के अनुसार कोई उस ज्ञान को भौतिक विकास मानकर, कर्त्तव्यपरायण होकर, अशुद्धि का अत कर देता है। कर्त्तव्यपरायणता विद्यमान राग को मिटाकर विश्राम प्रदान करती है, जिससे चित्त स्वतः शान्त, स्वस्थ

तथा शुद्ध हो जाता है, क्योंकि विश्राम मिलने पर आवश्यक शक्ति का स्वत विकास होता है, जो चित्त को शुद्ध करने मे समर्थ है, कोई उस ज्ञान को निज विवेक का प्रकाश मानकर अविवेक-जनित अशुद्धि का अन्त करने मे समर्थ होता है, कारण कि विवेक असगता प्रदान करता है। असगता प्राप्त होते ही चिर-शान्ति स्वत आ जाती है। यह नियम है कि शान्ति सब प्रकार का सामर्थ्य प्रदान करने मे समर्थ है। अत विवेकी का चित्त बडी सुगमतापूर्वक शुद्ध हो जाता है। कोई उस ज्ञान को अनत की अहैतुकी कृपा-शक्ति मानता है और उसी का आश्रय लेकर निश्चिन्त हो जाता है अत उसे यह विश्वास हो जाता है कि अनन्त की कृपा-शक्ति स्वत चित्त को शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ बना रही है।

४-५-५६

३

सामर्थ्य का विकास एवं उसका उपयोग

[ज्यो-ज्यो चित्त मे शुद्धता आती जाती है त्यो-त्यो सामर्थ्य का विकास अपने आप होता जाता है। चित्त मे अशुद्धि सामर्थ्य के दुरुपयोग से आती है। सामर्थ्य का दुरुपयोग न करने पर सदुपयोग स्वत होने लगता है। सकल्प अपूर्ति का दु ख हम हर्ष पूर्वक सहन नही कर पाते। सकल्प-पूर्ति को ही सब कुछ मान बैठते हैं इसी कारण सामर्थ्य के दुरुपयोग मे प्रवृत्ति होती है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

ज्यो-ज्यो चित्त मे शुद्धता आती जाती है त्यो-त्यो सामर्थ्य का विकास अपने आप होता जाता है, क्योकि शुद्धि मे शाति और शाति मे सामर्थ्य स्वत सिद्ध है। यदि सामर्थ्य का सदुपयोग केवल सकल्प-पूर्ति अर्थात् सुख-भोग के लिए किया जाय तो पराधीनता आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जायेगे जो चित्त की शुद्धि मे बाधक होगे। इसलिए सामर्थ्य का उपयोग सकल्प-पूर्ति-मात्र मे ही नही करना चाहिए, क्योकि सकल्प-पूर्ति से जितना सुख मिलता है उससे कही अधिक शाति सकल्प-निवृत्ति से प्राप्त होती है। सुख और शाति मे एक बडा अन्तर है—सुख प्राणी को पराधीनता, जडता, मृत्यु एव आसक्ति की

ओर ले जाता है और शान्ति उसे स्वाधीनता, चिन्मयता अमरत्व एव प्रेम की ओर अग्रसर करती है। इस दृष्टि से सुख की अपेक्षा शान्ति कही अधिक महत्व की वस्तु है। वह तभी सुरक्षित रह सकती है जब सकल्पो की पूर्ति के सुख को अधिक महत्व न दिया जाय। जब सकल्प-पूर्ति के सुख की दासता नही रहती, तब सकल्प-उत्पत्ति तथा अपूर्ति का दु ख स्वय निर्जीव हो जाता है। इस प्रकार सुख-दु ख का प्रभाव मिटते ही जिज्ञासा तथा लालसा स्वत जागृत होती है। यदि साधक शाति मे रमण करने लगे, तो जिज्ञासा तथा लालसा दब जायेगी। जिज्ञासा तथा लालसा मे शिथिलता आते ही किसी न किसी प्रकार का सकल्प उत्पन्न हो जायगा, जिससे शाति भग हो जायगी। अत उसे सकल्पो की अपूर्ति के दु ख से भयभीत नही होना चाहिए, उनकी पूर्ति के सुख मे आवद्ध नही होना चाहिए और उनकी निवृत्ति की शाति मे रमण नही करना चाहिए।

चित्त मे अशुद्धि सामर्थ्य के दुरुपयोग से आती है और शुद्धि स्वाभाविक है। सामर्थ्य के दुरुपयोग का आरम्भ कब हुआ यह नही कहा जा सकता, पर यदि सामर्थ्य का दुरुपयोग न किया जाय, तो चित्त शुद्ध हो जाता है। अत सामर्थ्य का दुरुपयोग ही चित्त की अशुद्धि मे हेतु है। सामर्थ्य का दुरुपयोग न करने पर सदुपयोग स्वत होने लगता है। अब यदि कोई यह कहे कि हम तो असमर्थ है, तो प्राकृतिक नियम के अनुसार सर्वांश मे असमर्थता किसी भी व्यक्ति मे नही होती और यदि उसे असमर्थ स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी यह तो मानना ही होगा कि असमर्थता से किसी प्रकार का अहित नही हो सकता, अर्थात् असमर्थता से अकर्तव्य का जन्म ही नही हो सकता। असमर्थ प्राणी तो स्वत ही उस पर निर्भर हो जाता है, जो सर्वसमर्थ है। इस दृष्टि से असमर्थता से चित्त अशुद्ध

नही होता, अपितु सामर्थ्य के दुरुपयोग से ही चित्त अशुद्ध होता है। कर्त्तव्य-पालन मे असमर्थता की बात मन मे तभी आती है जब हम प्राप्त सामर्थ्य का व्यय सुख-भोग मे करने लगते है। असमर्थता के कारण हमारा चित्त अशुद्ध हो गया, यह बात किसी प्रकार युक्तियुक्त नही है। असमर्थता-काल मे जो निर्भरता प्राप्त होती है, वही सामर्थ्य के सदुपयोग से भी प्राप्त होती है, क्योकि सामर्थ्य के सदुपयोग से सामर्थ्य का अभिमान गल जाता है। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि मे असमर्थता और सामर्थ्य के सदुपयोग का समान स्थान है।

अब विचार यह करना है कि सामर्थ्य के सदुपयोग और दुरुपयोग का अर्थ क्या है ? स्वाधीनता, चिन्मयता एव अमरत्व से विमुख होकर वस्तु, अवस्था, परिस्थितियो के द्वारा सुख-भोग मे सामर्थ्य का व्यय करना ही उसका दुरुपयोग है। ऐसा करने से प्राणी जडता, पराधीनता एव मृत्यु आदि दोषो मे आवद्ध हो जाता है, जो किसी को भी अभीष्ट नही है। इतना ही नही, सुख-भोग से प्रमाद, हिंसा आदि विकार स्वत उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे अपना अकल्याण और समाज का अहित होने लगता है और यदि प्राप्त सामर्थ्य से किसी का अहित न हो हमारी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर न हो, अर्थात् जिससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता नही है, उस पर निर्भर न हो तो यह सामर्थ्य का सदुपयोग है। इतना ही नही, प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राप्त सामर्थ्य किसी असमर्थ की धरोहर है। वह किसी के काम आनी चाहिए अर्थात् सर्व-हितकारी प्रवृत्ति मे ही सामर्थ्य का सद्व्यय है। सामर्थ्य का सदुपयोग होते ही हिंसा जैसा भयकर दोष स्वत मिट जाता है, जिसके मिटते ही स्नेह की एकता अपने आप आ जाती है। स्नेह की एकता से भेद गल जाता है। उसके गलते ही सब प्रकार के भय और सघर्ष

मिट जाते है, जिनके मिटते ही चिर-शान्ति की स्थापना स्वत हो जाती है,जिसमे अपना कल्याण तथा सभी का हित निहित है।

अव विचार यह करना है कि सामर्थ्य के दुरुपयोग मे हमारी प्रवृत्ति ही क्यो होती है ? सकल्प-अपूर्ति का जो दु ख है उसे हम हर्षपूर्वक सहन नही कर पाते और यह भूल जाते है कि सकल्प-अपूर्ति मे भी हित है । सकल्प-पूर्ति को ही सब कुछ मान वैठते है, इसी कारण सामर्थ्य के दुरुपयोग मे प्रवृत्ति होती है । यद्यपि सकल्प-पूर्ति मे वस्तु, व्यक्ति आदि का ही महत्व वढता है जिससे चित्त मे लोभ, मोह आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं, फिर भी सकल्प-पूर्ति को ही महत्व देकर प्राणी चित्तको अशुद्ध करता रहता है ।

अव यदि कोई यह कहे कि सकल्प-पूर्ति भी तो जीवन का एक आवश्यक अग है, क्योकि कुछ सकल्प ऐसे भी तो उठते हैं कि जिनका पूरा होना अनिवार्य है । जिन सकल्पो का पूरा होना अनिवार्य है, वे तो प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वत पूरे हो जाते हैं। जो सकल्प स्वत पूरे होते है, यदि उनकी पूर्ति के सुख मे हम अपने को आवद्ध न करे तो सकल्पो की पूर्ति भी सकल्प-निवृत्ति का साधन वन जाती है । अत सकल्प भले ही पूरे हो, पर उनकी पूर्ति का महत्व चित्तमे अकित न हो तो वडी सुगमता पूर्वक अनावश्यक सकल्प मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही सकल्प-पूर्ति-अपूर्ति मे कोई भेद ही नही रहता और साधक उस जीवन का अधिकारी हो जाता है जो सकल्प-उत्पत्ति तथा पूर्ति से पूर्व है, जिसमे किसी प्रकार का अभाव नही है। इस दृष्टि से सकल्प-पूर्ति का जीवन मे स्थान भले ही हो, पर उसका कोई विशेष महत्व नही है इस रहस्य को जान लेने पर साधक वड़ी ही सुगमतापूर्वक सकल्प-पूर्तिके प्रभाव से मुक्त हो जाता है ।

सकल्प-पूर्ति के अभाव से मुक्त होते ही सभी परिस्थितियो से अपना महत्त्व बढ जाता है, अर्थात् वस्तु आदि की दासता मिट जाती है, जिसके मिटते ही निर्लोभता, निर्मोहता आदि दिव्य गुण स्वत आने लगते हैं और जिससे बडी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है। परन्तु यदि साधक उन गुणो का उपभोग करने लगे तो परिच्छिन्नता मे आबद्ध होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है, अर्थात् उसका अहम्-भाव पुष्ट हो जाता है। यद्यपि अहम्-भाव का महत्त्व परिस्थितियो की दासता से मुक्त करने मे समर्थ है, परन्तु यदि उसी को जीवन मान लिया जाय तो अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न होते है, जिनके होते ही चित्त मे राग-द्वेष आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इस दृष्टि से अहम् का महत्त्व चित्त को अशुद्ध ही करता है। जैसे कोई सारी नदी को पार कर किनारे पर आकर डूब जाय, वही दशा उस साधक की होती है जो परिस्थितियो की दासता से मुक्त हो अहम्-भाव की पूजा मे लग जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि साधन-प्रणालियो मे, विचारधारा मे जो महानता होती है, जिससे साधक को सिद्धि मिलती है, जो आदरणीय है, उसमे जब अहम्-भाव की छाप लग जाती है, तब अहम्-भाव के दोष उन पद्धतियो मे आ जाते है और पद्धतियो की महानता के आधार पर साधको मे मिथ्या अभिमान आ जाता है, जिसके आते ही स्नेह की एकता मिट जाती है। उसके मिटते ही सघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं और साधक-गण अपनी-अपनी पद्धतियो के नाम लेकर उनकी महिमा गाते रहते हैं। पर पद्धति और जीवन मे इतनी भिन्नता हो जाती है कि जिस पद्धति की वे महिमा गाते है उसका घोर विरोध उन्ही के जीवन द्वारा स्वत होने लगता है, अर्थात् जो कहते है, जो मानते है और जिसका प्रचार करते है। उसका प्रभाव उनके जीवन मे लेशमात्र भी नही रहता। उसक

परिणाम यह होता है कि मस्तिष्क तथा हृदय मे सतुलन नही रहता जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अहम् का पुजारी साधक पद्धति और जीवन मे भेद होने पर भी पद्धति के नाम पर अपने प्राण तक दे देता है पर दूसरो के द्वारा अपनी पद्धति का विरोध नही सहन कर सकता, अर्थात् अपनी पद्धति के प्रति उसकी इतनी आसक्ति हो जाती है कि वह दूसरी पद्धतियो का अनादर करता है और अपनी पद्धति का अनुसरण स्वय नही कर पाता, पर दूसरे से अपनी पद्धति मनवाने के लिये जो नही करना चाहिए वह भी करता है। यह पद्धतियो की आसक्ति का परिणाम है, जिसका जन्म चित्त की अशुद्धि से हुआ है।

यद्यपि प्रत्येक पद्धति किसी न किसी साधक के लिये हितकर अवश्य है, परन्तु ऐसी कोई पद्धति हो ही नही सकती जो सर्वांश मे सभी के लिये हितकर सिद्ध हो, क्योकि पद्धति की उत्पत्ति व्यक्ति की योग्यता, रुचि एव परिस्थिति आदि से होती है। सर्वांश मे समान योग्यता, रुचि तथा परिस्थिति दो व्यक्तियो की भी नही होती, तो फिर किसी पद्धति को इनता महत्त्व देना कि उसे सभी मानले, यह उस पद्धति के समर्थक के अहम्-भाव का विकार है। इस कारण जव तक अहम्-भाव रूपी अणु न तोड दिया जाय, तव तक न तो चित्त ही शुद्ध हो सकता है और न दिव्य चिन्मय जीवन से ही अभिन्नता हो सकती है। अत चित्त-शुद्धि के लिए जहाँ सकल्प-पूर्ति के महत्त्व का विरोध है, वहा अहम्-भाव के महत्त्व का भी घोर विरोध है। अहम् को महत्व देना अनन्त से विमुख होना है और चित्त को अशुद्ध करना है। चित्त के अशुद्ध रहते हुए किसी को भी न तो चिर-शान्ति तथा सामर्थ्य मिल सकती है और न अमरत्व तथा अगाध अनन्त रस की उपलब्धि हो सकती है। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि अत्यन्त

आवश्यक है। पर वह तभी सम्भव होगा जब अहम् अनन्त को समर्पित कर दिया जाय। उसके लिए साधक को सकल्प की पूर्ति, अपूर्ति एव निवृत्ति से अतीत के जीवन पर अविचल विश्वास करना अनिवार्य है।

५-५-५६

४

व्यक्तित्व की दासता एवं गुणों का अभिमान

[गुणो का अभिमान भेद उत्पन्न करता है। गुणो के अभिमान से व्यक्तित्व का महत्त्व बढता है। व्यक्तित्त्व की दासता साधक को अधिकार लालसा मे आवद्ध कर देती है। यदि उसके अधिकार की पूर्ति हो गई तो राग मे आवद्ध हो जाता है, अधिकार की पूर्ति नही हुई तो क्रोध की अग्नि मे जलने लगता है। राग और क्रोध दोनो ही चित्त को अशुद्ध कर देते हैं।

व्यक्तित्व की दासता का अन्त करने के लिए गुणो के अभिमान को गलाना पडेगा।

गुणो का अभिमान दोपो की भूमि में उपजता है। दोषो की भूमि पर-दोप-दर्शन से सुरक्षित रहती है। पर-दोष-दर्शन करने वाली दृष्टि सीमित गुणो को महत्त्व देने से उत्पन्न होनी है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

गुणो के अभिमान तथा सीमित प्रीति से चित्त अशुद्ध होता है। गुणो का अभिमान शरीर और विश्व मे, व्यक्ति और समाज मे, दो वर्गों मे, दो सम्वन्धियो मे, दो दलो मे परस्पर किसी न किसी प्रकार का भेद अवश्य उत्पन्न करता है इतना ही नही, जिज्ञासा की अपूर्ति और कामना की उत्पत्ति मे भी गुणो के अभिमान से उत्पन्न भेद ही हेतु है। प्रेमी और प्रेमास्पद

के बीच मे यदि कोई दूरी उत्पन्न करता है तो वह गुणो का अभिमान ही है। इस दृष्टि से गुणो के अभिमान का साधक के जीवन मे कोई स्थान ही नही है, अर्थात् वह सर्वथा त्याज्य है।

यह नियम है कि गुणो के अभिमान तथा सीमित प्रीति से चित्त मे किसी न किसी प्रकार की अशुद्धि अवश्य आ जाती है, क्योकि गुणो के अभिमान से व्यक्तित्व का महत्व बढता है और सीमित प्रीति से द्वेष की उत्पत्ति होती है जिससे वैर-भाव उत्पन्न हो जाता है जो समस्त सघर्षों का मल है। यद्यपि व्यक्ति समाज के अधिकारो का पुञ्ज है, और कुछ नही, परन्तु व्यक्तित्व की दासता साधक को अधिकार-लालसा मे आबद्ध कर देती है, जिससे वह बेचारा दीन हो जाता है, वह अपनी प्रसन्नता दूसरो के कर्त्तव्य तथा उदारता पर ही निर्भर कर लेता है। यदि उसके अधिकार की पूर्ति हो गई, तो राग मे आबद्ध हो जाता है और यदि अधिकार की पूर्ति नही हुई, तो क्रोध की अग्नि मे जलने लगता है। राग और क्रोध दोनो ही चित्त को अशुद्ध कर देते है।

राग भोग-वासनाओ मे आबद्ध कर देता है और क्रोध से कर्त्तव्य की, स्वरूप की और प्रेमास्पद की विस्मृति हो जाती है। कर्त्तव्य की विस्मृति से व्यक्ति का अकल्याण होता है और समाज मे असुन्दरता आ जाती है, क्योकि कर्त्तव्यपरायणता से ही व्यक्ति सत्पथ की ओर अग्रसर हो सकता है जिससे सुन्दर समाज का निर्माण होता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य की विस्मृति से व्यक्ति और समाज दोनो ही की क्षति होती है। कारण कि कर्त्तव्यपरायणता से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है, जिससे साधक सत्य की खोज करने मे समर्थ होता है और कर्त्तव्यपरायणता किसी के अधिकार का अपहरण नही होने देती। जब किसी के अधिकारो का अपहरण नही होता, तब स्वत सुन्दर समाज का निर्माण हो

जाता है। स्वरूप की विस्मृति, देह आदि वस्तुओं से तद्रूप कर देती है, जिससे बेचारा साधक अमरत्व से विमुख हो, मोह मे आबद्ध हो जाता है और मृत्यु की ओर अग्रसर होता है। प्रेमास्पद की विस्मृति अनेक आसक्तियो को उत्पन्न कर देती है, जिससे बेचारा साधक अगाध अनन्त रस से विमुख हो जाता है। इस दृष्टि से क्रोध का त्याग अनिवार्य है। पर वह तभी हो सकता है जब व्यक्ति अधिकार-लालसा से मुक्त हो, दूसरो के अधिकारो की रक्षा मे तत्पर बना रहे।

भोग-वासनाओ मे आवद्ध प्राणी नित्य-योग से विमुख हो जाता है। उसका परिणाम बडा ही भयकर होता है। कारण कि भोग-वासनाए भोगी को भोग मे प्रवृत्त कर उसे शक्तिहीन पराधीन बना देती है और जडता मे आबद्ध कर देती है। इस दृष्टि से भोग-वासनाओ को त्याग नित्य-योग प्राप्त अरना अनिवार्य है। यह नियम है कि नित्य-योग से चिर-शान्ति तथा सामर्थ्य एव स्वाधीनता स्वत प्राप्त होती है। पर वह तभी सम्भव होगा जब साधक अधिकार-लालसा से मुक्त हो, राग तथा क्रोधरहित हो जावे। राग तथा क्रोध का अन्त करने के लिए प्राणी को व्यक्तित्व की दासता से मुक्त होना अनिवार्य है।

व्यक्तित्व की दासता का अन्त करने के लिए गुणो के अभिमान को गलाना ही पडेगा। वह तभी सम्भव होगा जब साधक पर-दोष-दर्शन से विमुख हो, निज-दोप जानने का प्रयत्न करे। यह नियम है कि पर-दोष-दर्शन न करने से निज-दोप का दर्शन स्वत हो जाता है। उसके होते ही गुणो का अभिमान गलने लगता है। गुणो का अभिमान गलते ही सभी दोष स्वत मिट जाते है, क्योकि अपनी दृष्टि मे भी कोई प्राणी अपने को निन्दनीय नही रखना चाहता। यह नियम है कि अपनी दृष्टि मे निन्दनीय

नही रहने पर ही वास्तविक प्रसन्नता का प्रादुर्भाव होता है और फिर किसी प्रकार के दोष की उत्पत्ति नही होती।

गुणो का अभिमान दोषो की भूमि में ही उपजता है, निर्दोषता मे नही और दोषो की भूमि पर-दोष-दर्शन से सुरक्षित रहती है। पर-दोष-दर्शन करने वाली दृष्टि सीमित गुणो को महत्त्व देने से ही उत्पन्न होती है। साधक जब दोष-जनित आसक्ति को बलपूर्वक दबाने की चेष्टा करता है, तब किसी प्रलोभन से प्रेरित होकर अपने अहम्-भाव मे सीमित गुणो का आरोप कर लेता है। उससे जनित आसक्ति तो मिट नही पाती, प्रत्युत गुणो का आश्रय लेकर साधक उनके अभिमान मे आबद्ध हो जाता है और फिर उसके हृदय और मस्तिष्क से सामजस्य नही रहता। इसका परिणाम यह होता है कि वह जिसमे चित्त को लगाना चाहता है उसमे लगा नही पाता और जिससे हटाना चाहता है उससे हटा नही पाता, अथवा यो कहो कि जो करना चाहिए वह कर नही पाता और जो नहीं करना चाहिये उसकी रुचि नष्ट नही होती। इस भयकर अवस्था मे बेचारा साधक जो करना चाहिए उसके करने का अभिनय-सा करता रहता है और जो नही करना चाहिये उसकी वासना को बलपूर्वक दबाता रहता है, पर मिटा नही पाता।

चित्त मे इस प्रकार की वासना-जनित दबी हुई अशुद्धि कभी न कभी प्रकट हो जाती है जिससे भयभीत होकर साधक समझने लगता है कि मैं उन्नति के पथ से च्युत हो गया। पर बात ऐसी नही है। गुणो का अभिमान रखते हुए कोई भी उन्नति के पथ पर अग्रसर नही हो सकता। दबे हुए दोष का प्रकट होना दोष नही, अपितु निर्दोषता का साधन है। वास्तविक दोष तो अभिमान-युक्त गुण ही हैं, जिन्हे हम प्रमादवश महत्व देते रहते है।

साधक को अपने मे गुणो का भास तभी होता है जब उसकी दृष्टि दूसरो की निर्बलता पर जाती है। वास्तविक गुणो का प्रादुर्भाव होने पर उनका भास नही होता। अत जब तक गुणो का भास हो, तब तक समझना चाहिये कि गुणो के स्वरूप मे कोई दोष है।

यह निर्विवाद सत्य है कि गुणो के अभिमान के आधार पर ही सीमित अहम्-भाव जीवित है और उससे ही कोई भला और कोई वुरा, कोई छोटा और कोई वडा, कोई ऊँचा और कोई नीचा भासता है। अहम्-भाव के रहते हुए कामनाओ का नाश नही हो सकता, उनके नष्ट हुए विना निस्सन्देहता नही आ सकती और निस्सन्देहता के बिना निर्भयता, समता, मुदिता आदि का प्रादुर्भाव नही होता। इस दृष्टि से सीमित अहम्-भाव का अन्त करने के लिए गुणो के अभिमान का त्याग परम अनिवार्य है।

अहम्-भाव की पूजा से गुणो का अभिमान सुरक्षित रहता है। अब विचार यह करना है कि अहम्-भाव की पूजा क्या है? अपने सुख से ही सुखी होना अर्थात् अपने ही सम्मान मे, अपनी ही ख्याति मे, अपने ही प्यार मे रमण करते रहना और उसी के लिए ऊपर-ऊपर से गुणो का लेप चढाना जिससे व्यक्तित्व की पूजा मे क्षति न हो, परन्तु अपनी ही दृष्टि मे अपने को पूजा के योग्य न पाना, फिर भी दूसरो से पूजा की आशा करना—इसी प्रमाद से अहम्-भाव पोषित होता है।

साधक अपनी दृष्टि मे जैसा है यदि वैसा दूसरो की दृष्टि मे रहना चाहता है, तो वडी सुगमतापूर्वक गुणो के अभिमान से मुक्त हो सकता है और सच्चे सम्मान के योग्य बन सकता है, परन्तु ऐसा होने मे वह अपने को इस कारण असमर्थ पाता है कि अपने जाने हुए दोषो के त्याग मे असावधानी करता है। यह नियम है कि जो अपनी दृष्टि मे दोषी है वही दूसरो से निर्दोष कहलाने

की आशा करता है, अर्थात् दोष-जनित वेदना को दबाने के लिए दूसरो की दृष्टि मे निर्दोष बने रहने का प्रयास करता है और उसी के लिए ऊपर से गुणो का बलपूर्वक भेष बनाता है। बनाया हुआ भेष कभी-न-कभी बिगड ही जाता है। यदि साधक अपनी ही दृष्टि मे आदर के योग्य बने रहने के लिए प्रयत्नशील रहे, तो अहम्-भाव की दासता तथा गुणो के अभिमान से रहित हो सकता है। यह तभी सम्भव होगा जब अपने जाने हुए दोषो का त्याग करने मे वह सर्वदा तत्पर रहे। यह नियम है कि दोषो का त्याग करते ही गुणो का अभिमान स्वत ही गल जाता है, जिसके गलते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

अब विचार करना है कि गुण क्या है और दोष क्या है। दूसरो की ओर से अपने प्रति होने वाले दोष का ज्ञान स्वत हो जाता है और दूसरो से हम वही आशा करते हैं जो गुण है। कोई भी अपना अनादर, हानि, क्षति नही चाहता। सभी आदर और प्यार तथा रक्षा चाहते है। जिन प्रवृत्तियो से किसी की क्षति हो, किसी का अनादर हो, किसी का अहित हो, वे सभी दोष है और जिन प्रवृत्तियो से दूसरो का हित, लाभ एव प्रसन्नता हो वे सभी गुण हैं। गुणो का उपयोग दूसरो के प्रति होता है और उससे अपना विकास स्वत हो जाता है। जिन प्रवृत्तियो से दूसरो का अहित होता है उन प्रवृत्तियो से अपना भी अकल्याण ही होता है। यह रहस्य जान लेने पर दूसरो के अहित की कामना सदा के लिए मिट जाती है और सर्व-हितकारी भावना स्वत जागृत होती है। सर्व-हितकारी भावना की भूमि मे ही गुण विकास पाते है। जो किसी का बुरा नही चाहता उसके सभी दोष स्वत मिट जाते हैं। एक ही दोष स्थान-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का भासता है। सर्वांश मे किसी भी दोष के मिट जाने पर सभी दोष मिट जाते

है और सर्वांश मे किसी भी गुण के अपना लेने पर सभी गुण स्वत आ जाते है। इस दृष्टि से दोपो की निवृत्ति और सद्‌गुणो की अभिव्यक्ति युगपद् है। सर्वांश मे सद्‌गुणो की अभिव्यक्ति होने पर निरभिमानता आ जाती है,क्योकि तब दोपो की उत्पत्ति नही होती और गुणो से अभिन्नता हो जाती है। यह नियम है कि जिससे अभिन्नता हो जाती है उसका भास नही होता, अर्थात् उसमे अहम्-बुद्धि नही होती, अपितु वह जीवन हो जाता है। सर्वांश मे सद्‌गुणो की अभिव्यक्ति जीवन मे तभी सम्भव है जब दबी हुई अशान्ति प्रकट होकर मिट जाय और वास्तविक चिर-शान्ति की स्थापना हो जाय। शान्ति का भेप बना कर बैठ जाना और भीतर विप्लव उठते रहना, उसे प्रकट न करना, चित्त को अशुद्ध रखना है। अब विचार यह करना है कि ऐसा शान्ति का भेष प्राणी क्यो बनाता है ? दूसरो की दृष्टि मे मिथ्या आदर पाने के प्रलोभन से ऊपर से शान्त और भीतर से क्षुभित बना रहता है। दबा हुआ क्षोभ अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करता है और प्राणी को शक्तिहीन बना देता है, जिससे अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो जाते है। क्षोभरहित होने के लिए अपने भीतर का चित्र बडी ही सावधानी से प्रकाशित करदे, तो क्षोभ मिटने लगता है और जो करना चाहिए उसका बोध हो जाता है, जिससे मान-सिक शान्ति सुरक्षित हो जाती है। मानसिक शान्ति सुरक्षित रहने से असमर्थता मिट जाती है। सामर्थ्य का सदुपयोग करते ही क्षोभ सदा के लिए मिट जाता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

किसी को क्षुभित न करने मे ही क्षोभरहित होना नही है, अपितु किसी से क्षुभित न होना और किसी को क्षुभित न करना आ जाय तभी समझना चाहिए कि क्षोभ से छुटकारा मिल गया।

कोई हमे बुरा समझेगा इस भय से हमे शान्त ही रहना है, अपने क्षोभ को प्रकट नही करना है, इस शाँति का कोई महत्व नही है। भय रहित शान्ति ही वास्तविक शान्ति है। वह तभी सम्भव है जब अनुकूलता तथा प्रतिकूलताओ के आक्रमण का प्रभाव ही न हो। बुरा कहलाने का भय और सज्जन कहलाने का प्रलोभन जब तक रहेगा, तब तक चित्त शुद्ध नही हो सकता। यदि बुराई हो तो उसका त्याग करना है। हमे कोई बुरा न समझे, इससे हम भले हो नही जाते, भले तो बुराई के त्याग से ही हो सकते हैं। किसी मे सुन्दरता और किसी मे असुन्दरता का प्रतीत होना, किसी के प्रति आकर्षण और किसी से विकर्षण उत्पन्न होना चित्त की अशुद्धि का ही परिणाम है। कारण कि अपना दोष ही किसी मे महत्त्व का दर्शन कराता है और अपने अभिमान से ही किसी मे दोष भासता है। निर्दोषता तथा निरभिमानता आजाने पर न किसी के प्रति आकर्षण होता है और न किसी से विकर्षण। अतः जाने हुए दोष को त्याग, गुणो के अभिमान से रहित, अहम् भाव की दासता से मुक्त होकर चित्त शुद्ध कर लेना चाहिये। चित्त के शुद्ध होने पर इन्द्रिय-ज्ञान से अनेक भेद भासने पर भी वास्तविक अभेदता प्राप्त होती है जिसके होते ही समता आ जाती है जो वास्तविक जीवन से अभिन्न करने मे समर्थ है।

६-५-५६

५

प्राप्त का सदुपयोग

[गुण-दोष-युक्त जीवन ही वर्तमान वस्तुस्थिति है। इसके आधार पर ही प्राणी का व्यक्तित्व जीवित है। केवल दोषो के आधार पर किसी का भी व्यक्तित्व, अर्थात् अहम्-भाव जीवित नही रह सकता। चित्तशुद्धि के लिए गुण-दोषयुक्त अहम्-भाव का अत करना अनिवार्य है।

सभी परिस्थितियाँ स्वभाव मे ही परिवर्तनशील हैं। यदि साधक सावधानी से, वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से सुन्दरतापूर्वक, परिस्थिति के अनुसार कर डाले और अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन न करे, तो विश्राम से अभिन्न हो सकता है। जिसका सम्बन्ध वर्तमान से है उसे वर्तमान मे प्राप्त न करना और उसके लिए भविष्य की आशा रखना अपना ही प्रमाद है। प्रमाद के रहते हुए चित्त शुद्ध हो नही सकता।

इन्द्रिय-ज्ञान को ही, जो वास्तव मे परिवर्तनशील है, नित्य ज्ञान मान लेने पर सन्देह की वेदना उदित नही होती। यदि इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग सेवा मे किया जाय, पर उस ज्ञान का प्रभाव चित्त मे अकित न हो, तो चित्त शुद्ध हो जाता है।

चित्त शुद्धि के लिए साधक को वर्तमान मे ही प्रयत्नशील होना चाहिए। चित्त की शुद्धि मे ही चिर-शान्ति तथा जीवन एव प्रेम निहित है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

गुण-दोष-युक्त जीवन ही वर्तमान वस्तुस्थिति है। इसके आधार पर ही प्राणी का व्यक्तित्व जीवित है। केवल दोषों के आधार पर किसी का भी व्यक्तित्व अर्थात् अहम्-भाव जीवित नही रह सकता। ऐसा कोई व्यक्ति हो ही नही सकता, जो सर्वांश मे दोषी हो। बुरा से बुरा व्यक्ति भी किसी न किसी अश मे किसी न किसी के लिए भला सिद्ध होता है। व्यक्तियो मे केवल अन्तर इतना ही होता है कि कही गुणो की अधिकता और दोषो की न्यूनता और कही दोषो की अधिकता और गुणो की न्यूनता। इसी आधार पर हम किसी को भला और किसी को बुरा मान बैठते हैं। गुण-दोष समान अवस्था मे किसी व्यक्ति मे नही होते, क्योकि दो विरोधी शक्तियाँ सम होने पर गति-शून्य हो जाती हैं। गति तभी तक रहती है, जब तक वैषम्य हो।

जिस प्रकार प्रत्येक काष्ठ मे किसी न किसी अश मे अग्नि विद्यमान रहती है, तभी काष्ठ का अस्तित्व उपयोगी सिद्ध होता है, यदि किसी कारण अग्नि की मात्रा अधिक हो जाय, तो काष्ठ काष्ठ के रूप मे उपयोगी नही रहता और यदि काष्ठ किसी अश मे न रहे, तो प्रज्ज्वलित अग्नि भी शात हो जाती है, उसी प्रकार गुण-दोष के वैषम्य के आधार पर ही सीमित अहम्-भाव की सिद्धि होती है और उसमे कर्तृत्व और भोगत्व जीवित रहता है। उसी कर्तृत्व और भोगत्व के अभिमान से चित्त अशुद्ध होता है।

चित्त-शुद्धि के लिये गुण-दोष-युक्त अहम्-भाव का अन्त करना अनिवार्य है। यह नियम है कि दोषो का अन्त होने पर गुणो का अभिमान स्वय गल जाता है और सर्वांश मे गुणो का प्रादुर्भाव होने पर दोष स्वत मिट जाते हैं। फिर सीमित अहम् भाव जीवित नही रहता। प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई भी

व्यक्ति सर्वांश मे दोपी नही हो सकता । जिस प्रकार अन्धकार प्रकाश से ही प्रकाशित है, उसके विना नही, उसी प्रकार दोष का अस्तित्व भी किसी गुण के आधार से ही प्रकाशित होता है, बिना गुण के नही । तात्पर्य यह है कि सर्वा श मे न तो कोई दोषी हो हो सकता है और न कोई दोषी रहना ही चाहता है, कारण कि दोष अपनी दृष्टि मे भी अपने को प्रिय नही होता और दूसरो को भी प्रिय नही होता । जिसके प्रति किसी भी अश मे प्रियता नही रहती, उसका अस्तित्व ही नही रह सकता, अथवा यो कहो कि उससे सम्बन्ध ही नही रह सकता । प्रियता मे ही सम्बन्ध सुरक्षित रखने की सामर्थ्य है । दोष दोषी को अपनी दृष्टि मे भी चैन से नही रहने देता और दूसरे तो दोप से उपेक्षा करते ही है ।-पर दोषी अपने किसी गुण को देख दोष से उत्पन्न हुई वेदना को शिथिल कर लेता है, अथवा पराये दोप को देख मिथ्या सन्तोष कर बैठता है, जिससे दोष दोषी से निकल नही पाता । इस दृष्टि से अपना गुण और दूसरो का दोप देखना बडा ही भयकर दोप है, अथवा यो कहो कि यही दोप सभी दोषो की भूमि है । इस दोष का अन्त होते ही सभी दोष स्वत मिट जाते हैं और फिर चित्त शुद्ध हो जाता है ।

अव यदि कोई यह कहे कि अपना गुण नही देखना चाहिए, तो क्या दोष को ही देखते रहे ? नही । कारण कि अपने दोषो का चिन्तन करते रहना ही और अपने को दोपी मानते रहना ही चित्त-शुद्धि का उपाय नही है, परन्तु जब अपने मे दोप का दर्शन हो, तव उस व्यथा को दबाने के लिए अपना गुण अथवा पराया दोष नही देखना चाहिये । ऐसा करने से दोष-जनित वेदना तीव्र हो जाएगी और दोष-जनित सुख का राग मिट जायगा । सुख का राग मिटते ही दोषकी उत्पत्ति ही न होगी, अर्थात् स्वत· निर्दोषता

आ जाएगी, जो गुणो के अभिमान को खाकर चित्त को शुद्ध कर देगी। दोष की वेदना का तीव्र न होना ही चित्त को अशुद्ध रखने मे हेतु है। यद्यपि वेदना स्वय उत्पन्न होती है, पर प्राणी प्रमादवश उसे दबा देता है। उसका परिणाम यह होता है कि चित्त शुद्ध नही हो पाता।

चित्त की अशुद्धि के कारण ही साधक प्रिय-वियोग, सन्देह तथा विश्राम न पाने की वेदना सहन करता रहता है, अथवा यो कहो कि वेदना असह्य न होने से, न तो विश्राम ही मिलता है और न निस्सन्देहता एव प्रेम की ही प्राप्ति होती है। असह्य वेदना उस समय तक नही होती, जब तक दु ख के साथ साथ किसी प्रकार का सुख है। सुख-रहित दु ख वेदना को तीव्र करता है और असह्य वेदना अशुद्धि को खा जाती है। अशुद्धि का अन्त होते ही साधक को विश्राम, निस्सन्देहता तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है।

जब-जब स्वभाव से ही विश्राम, निस्सन्देहता एव प्रेम-प्राप्ति की लालसा उदय होती है, तब-तब साधक चित्त की अशुद्धि-जनित सुखासक्ति से उस लालसा को शिथिल कर देता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो विश्राम, निस्सन्देहता और प्रेम वर्तमान जीवन की वस्तु है, उसे भविष्य पर छोड देता है और अनेक मन-गढन्त बहाने करता रहता है कि प्रतिकूल परिस्थिति के कारण मुझे विश्राम नही मिलता। यद्यपि प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त मे स्वभाव से ही विश्राम आता है, पर साधक उसकी ओर ध्यान न देकर विश्राम-काल मे भी अनुकूल परिस्थितियो का व्यर्थ चिंतन करता रहता है और विश्राम न मिलने मे प्राप्त परिस्थिति की निन्दा करता है।

सभी परिस्थितिया स्वभाव से ही परिवर्तनशील हैं और विश्राम अपने ही मे मौजूद है। जो अपने मे है, उससे विमुख होना

और जिन परिस्थितियो मे सतत् परिवर्तन है, उनको महत्त्व देना और उनके पीछे दौडना ही साधक को विश्राम से वञ्चित रखता है। यदि साधक सावधानी से वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से, सुन्दरतापूर्वक, परिस्थिति के अनुसार कर डाले और अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन न करे, तो बडी ही सुगमतापूर्वक प्राप्त विश्राम से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से विश्राम के लिए किसी अप्राप्त परिस्थिति की अपेक्षा नही है। जिसके लिए अप्राप्त परिस्थिति अपेक्षित नही है,उसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है। जिसका सम्बन्ध वर्तमान से है,उसे वर्तमान मे प्राप्त न करना और उसके लिए भविष्य की आशा रखना अपना ही प्रमाद है और कुछ नही। प्रमाद के रहते हुए चित्त शुद्ध हो नही सकता। इस दृष्टि से प्रमाद का साधक के जीवन मे कोई स्थान ही नही है।

सदेह प्राणी को स्वभाव से ही अप्रिय है और निस्सन्देहता स्वभाव से ही प्रिय है, कारण कि निस्सन्देहता जीवन से अभिन्न हो जाती है और सन्देह सदैव भेद उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से निस्सन्देहता प्राप्त करना परम अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव है जब साधक मे सन्देह की वेदना जागृत हो जाय, अर्थात् निस्सन्देहता के विना किसी भी प्रकार चैन से न रह सके। जैसे यदि किसी को तीव्र प्यास लगी हो और मधुर-शीतल जल उसके हाथ मे हो, उस समय उससे कोई पूछे कि तुम पहले जल पीना चाहते हो अथवा निस्सन्देह होना चाहते हो और वह यह कहे कि मैं जल पीने से पूर्व निस्सन्देह होना चाहता हूँ,तो ऐसी वस्तुस्थिति मे निस्सन्देहता अवश्य प्राप्त होती है, कारण कि निस्सन्देहता की जिज्ञासा जिस काल मे सभी कामनाओ को खाकर सबल तथा स्थायी हो जाती है, उसी काल मे निस्सन्देहता स्वत आ जाती है। यह नियम है कि कामनाओ की निवृत्ति मे जिज्ञासा की पूर्ति

निहित्त है। जिज्ञासा-पूर्ति के लिये किसी वस्तु आदि की अपेक्षा नही है, केवल जिज्ञासा की पूर्ण जागृति होनी चाहिये, जो सन्देह की वेदना से उदित होती है। इस दृष्टि से सन्देह का सहन करना ही निस्सन्देहता से विमुख होना है।

अब यह विचार करना है कि सन्देह रहते हुए साधक उसे सहन क्यो करता रहता है, जब कि निस्सन्देहता उसकी वास्तविक आवश्यकता है ? इन्द्रिय-ज्ञान को ही, जो वास्तव मे परिवर्तनशील है, नित्य ज्ञान मान लेने पर सन्देह की वेदना उदित्त नही होती। इसी कारण साधक सन्देह सहन कर लेता है। परन्तु जब वह बुद्धि-ज्ञान से इन्द्रिय-ज्ञान पर विजयी होता है, तब सन्देह की वेदना तीव्र हो जाती है। यह नियम है कि समस्त कामनाए इन्द्रिय-ज्ञान से ही जीवन पाती है। ज्यो-ज्यो इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिटता जाता है, त्यो-त्यो कामनाएं मिटती जाती हैं। जिस काल मे बुद्धि-जन्य ज्ञान इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के प्रभाव को खा लेता है, उसी काल मे समस्त कामनाए मिट जाती है, जिनके मिटते ही निस्सन्देहता अपने आप आ जाती है। यदि इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग सेवा मे किया जाय, पर उस ज्ञान का प्रभाव चित्त मे अकित न हो, तो बडी ही सुगमता पूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से निस्सन्देहता भी वर्तमान जीवन की ही वस्तु है। अत जब तक निस्सन्देहता प्राप्त न हो, तब तक किसी दूसरे कार्य मे प्रवृत्ति ही नही होनी चाहिये, क्योकि सन्देह-युक्त दशा मे जो प्रवृत्ति होगी, उससे चित्त अशुद्ध ही होगा।

जिस प्रकार प्राणी को विश्राम तथा निस्सन्देहता प्रिय है, उसी प्रकार प्रेम की प्यास भी प्राणी मे स्वाभाविक है, क्योकि प्रेम के बिना नित, नव, अगाध, अनन्त रस की उपलब्धि नही हो सकती। रस का त्याग किसी को अभीष्ट नही है। अत रस

जीवन का आवश्यक अग है। यदि किसी से पूछा जाय कि तुम्हे रस-विहीन जीवन चाहिए ? तो वह कहेगा– कदापि नही। रस-विहीन जीवन किसी को प्रिय नही। जीवन-रहित रस भी अपेक्षित नही है। रस और जीवन मे इतनी अभिन्नता है कि इन दोनों का विभाजन सभी को असह्य है, अर्थात् रस और जीवन मे विभाजन हो ही नही सकता।

जिस प्रकार विश्राम मे निस्सन्देहता की सामर्थ्य विद्यमान है, उसी प्रकार निस्सन्देहता मे प्रेम की सामर्थ्य विद्यमान है। जब जीवन मे विश्राम आ जाता है, तब निस्सन्देहता भी आ जाती है, एव जब निस्सन्देहता आती है, तब प्रेम का भी प्रादुर्भाव स्वत हो जाता है। निस्सन्देहता मे अभिन्नता, अभिन्नता मे आत्मीयता और आत्मीयता मे प्रेम स्वत विद्यमान है। इस दृष्टि से विश्राम, निस्सन्देहता और प्रेम इन तीनो मे अभिन्नता है। विश्राम सामर्थ्य का प्रतीक है, निस्सन्देहता जीवन की प्रतीक है और प्रेम रस का प्रतीक है। सामर्थ्य, जीवन और रस, ये तीनो ही सभी को स्वभाव से अभीष्ट है, अथवा यो कहो कि ये तीनो किसी एक ही मे है और वही वास्तविक जीवन है, जिसकी उपलब्धि चित्त-शुद्धि मे ही निहित है।

प्रत्येक साधक के मन मे यह अविचल विश्वास रहना चाहिए कि विश्राम, निस्सन्देहता तथा प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। पर ऐसा विश्वास तभी सम्भव होगा जब साधक प्राप्त वस्तु, योग्यता एव परिस्थिति मे सन्तोष न करे और न उनका दुरुपयोग ही करे। प्राप्त वस्तु आदि का सदुपयोग वस्तुओ से अतीत के जीवन से सम्बन्ध जोडने मे समर्थ है, जिसकी प्राप्ति विश्राम, निस्सन्देहता और प्रेम से ही सम्भव है। इतना ही नही, जीवन मे ही निस्स-देहता, विश्राम तथा प्रेम निहित है। जीवन उसे ही कहते है जो

अपने ही मे हो, जिससे वियोग किसी प्रकार न हो सके। तो फिर निस्सन्देहता, विश्राम, प्रेम आदि से दूरी कैसी, भेद कैसा? जो अपने ही मे है वह अपने ही ज्ञान से प्राप्त हो सकता है। उसके लिए किसी 'परज्ञान' की अपेक्षा नही है। 'परज्ञान' का आश्रय तो सन्देह ही उत्पन्न करता है। ऐसा कोई सन्देह है ही नही, जिसकी उत्पत्ति इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान से न हो। इन दोनो के ज्ञान से अतीत जो ज्ञान है, उसमे सन्देह नही है और उसी मे जीवन है, सौन्दर्य है। जिसे अपने ही सौन्दर्य तथा जीवन मे प्रेम हो जाता है, वह सभी बन्धनो से रहित हो, अपने ही मे सब कुछ पाकर कृत-कृत्य हो जाता है। पर यह तभी सम्भव होता है जब साधक 'परज्ञान' का आश्रय त्याग 'निज-ज्ञान' द्वारा चित्त शुद्ध कर लेता है। अत चित्त-शुद्धि के लिए साधक को वर्तमान मे ही प्रयत्नशील होना चाहिए। चित्त की शुद्धि मे ही चिर-शान्ति, अर्थात् विश्राम तथा जीवन एव प्रेम निहित है।

७-५-५६

६

अस्वाभाविकता का त्याग

चित्त की अशुद्धि हमारी अपनी बनाई हुई वस्तु है। इसी कारण शुद्ध करने का दायित्व अपने ही पर है। न होने वाले कार्यों का चिन्तन और होने वाले कार्यों को पूरा न करना ही चित्त की अशुद्धि मे हेतु है।

अभावो का अभाव करने के लिये यह आवश्यक है कि वर्तमान कार्य को सुन्दरतापूर्वक किया जाय, कार्य के अन्त मे किसी भी कार्य का चिन्तन न किया जाय और किये हुए कार्य के द्वारा किसी फल की आशा न की जाय।

जो अप्राप्त है उसकी चाह से रहित होना है, जो जानते हैं उसी का आदर करना है और जो कर सकते हैं उसी को कर डालना है।

कामना-पूर्ति का महत्त्व जब तक रहता है तब तक अस्वाभाविकता मे स्वाभाविकता और स्वाभाविकता मे अस्वाभाविकता प्रतीत होती है। अत कामनापूर्ति का कोई महत्त्व नही है। यह जान लेने पर कामना निवृत्ति की सामर्थ्य स्वत ही आ जाती है, जिसके आते ही जो स्वाभाविक है वह जीवन हो जाता है और जो अस्वाभाविक है उसकी स्वत निवृत्ति हो जाती है। अस्वाभाविकता मिटते ही चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

चित्त की अशुद्धि हमारी अपनी बनाई हुई वस्तु है, वह किसी और की देन नही है और न प्राकृतिक विधान से उत्पन्न हुई है। इसी कारण चित्त शुद्ध करने का दायित्व अपने ही पर है। चित्त कब से अशुद्ध हुआ है, इसका ज्ञान भले ही न हो, पर चित्त की अशुद्धि का कारण क्या है, इसका ज्ञान अवश्य है। यदि ऐसा न होता तो चित्तशुद्धि का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। न होने वाले कार्यों को करने की सोचना और होने वाले कार्यों को चित्त मे जमा रखना ही चित्त की अशुद्धि मे हेतु है।

अब विचार यह करना है कि न होने वाले कार्य का चिन्तन हम क्यो करते है और होने वाले कार्यों को क्यो नही कर डालते। जब साधक अपनी वस्तु स्थिति से अपने को छिपाने लगता है तब उसके मस्तिष्क मे न होने वाले कार्य उत्पन्न होते है। पर वह उन्हे कार्यान्वित कर ही नही सकता। उसका परिणाम यह होता है कि जो सामर्थ्य, योग्यता, परिस्थिति उसे वर्तमान कार्य करने के लिए मिली थी, उसका व्यर्थ ही ह्रास हो जाता है, जिससे जो कर सकता था वह तो कर नही पाता और जो नही कर सकता है उसके चिन्तन मे आबद्ध हो जाता है। इस स्थिति मे चित्त उत्तरोत्तर अशुद्ध ही होता जाता है। साधक को बडी ही सावधानी पूर्वक शीघ्रातिशीघ्र इस दशा से अपने को मुक्त करना चाहिए। वह तभी सम्भव होगा जब वर्तमान कार्य को सबसे अधिक महत्व दिया जाय और जो नही कर सकता है उसकी लेश-मात्र भी चिन्ता न की जाय। इतना ही नही, चाहे जितना भी सुन्दर सकल्प क्यो न हो, यदि उसकी पूर्ति सम्भव नही है तो उसे अनावश्यक जानकर अवश्य त्याग देना चाहिये। न होने वाले कार्यों के त्याग से होने वाले कार्यों के करने की

सामर्थ्य स्वत आ जायेगी और उन कार्यों के हो जाने पर स्वत विश्राम मिल जायगा, जो आवश्यक शक्ति प्रदान करने मे समर्थ है।

अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि का चिन्तन सदा के लिये निकाल देना चाहिये। उसकी प्राप्ति तो हो ही नही सकती, क्योकि वस्तु, व्यक्ति की प्राप्ति चिन्तन-साध्य नही है, अपितु कर्म-साध्य है। यह नियम है कि जो कर्म-साध्य है, उसकी प्राप्ति भविष्य मे होती है। पर उससे नित्य सम्बन्ध कभी भी सम्भव नही है। इस दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति आदि प्राप्त करने योग्य नही हैं, प्रत्युत वस्तुओ का सदुपयोग और व्यक्तियो की सेवा वर्तमान परिस्थिति के अनुसार करना अभीष्ट है। वस्तु, व्यक्ति आदि के व्यर्थ चिन्तन ने ही लालसा तथा जिज्ञासा को जागृत नही होने दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि जिसकी प्राप्ति चिन्तन-साध्य थी, उससे भी वचित रहे और शक्तिहीन होने के कारण जो कर्म-साध्य था, उससे भी निराश होना पडा, अर्थात् प्राणी अनेक प्रकार के अभावो मे आबद्ध हो गया।

अभावो का अभाव करने के लिए यह आवश्यक है कि वर्त्तमान कार्य को सुन्दरतापूर्वक किया जाय और कार्य के अन्त मे किसी भी कार्य का चिन्तन न किया जाय और किए हुए कार्य के द्वारा किसी फल को आशा न की जाय, अपितु करने की रुचि का अन्त करने के लिए ही सर्वहितकारी कार्यो को परिस्थिति के अनुसार कर डालना चाहिए। ऐसा करते ही जिज्ञासा की जागृति तथा विरह का प्रादुर्भाव स्वय होगा। जिज्ञासा तथा विरह अभ्यास नही है, अपितु स्वत होने वाला चिन्तन है। वह ज्यो-ज्यो सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यो-त्यो चित्त के सभी दोष स्वत मिटते जाते है। जिस काल मे चित्त सर्वांश मे शुद्ध हो

जाता ह,उसी काल मे जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति अपने आप हो जाती है।

जिज्ञासा-पूर्ति तथा प्रेम-प्राप्ति मे पराधीनता नही है और वस्तु, व्यक्ति आदि की प्राप्ति मे स्वाधीनता नही है। जिसकी प्राप्ति मे स्वाधीनता है उसके लिए पराधीन हो जाना और जिसकी प्राप्ति मे पराधीनता है उसके लिए अपने को स्वाधीन मानना चित्त की अशुद्धि है। परिस्थितियो की प्रतिकूलता का भय, न जानने का दोष और कर्त्तव्य-पालन मे असमर्थता स्वीकार करना अस्वाभाविकता है,कारण कि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके सदुपयोग मे ही सभी का हित है। तो फिर किसी भी परिस्थिति से भयभीत क्यो होना?जो जानते हैं उसी से निस्सदेहता तथा वास्तविकता का अनुभव हो सकता है, फिर न जानने का दोष क्यो स्वीकार करना ? जो कर सकते है वही करना है, तो फिर कर्त्तव्य-पालन मे असमर्थता कैसी ?

जो अप्राप्त है उसकी चाह से रहित होना है, जो जानते हैं उसी का आदर करना है और जो कर सकते हैं उसी को कर डालना है। अप्राप्त की चाह से रहित होते ही योग स्वत सिद्ध होगा। जो जानते है उसका आदर करते ही स्वत बोध होगा। जो कर सकते हैं उसके करते ही स्वत सुन्दर परिस्थिति प्राप्त होगी। चित्त की अशुद्धि ने ही जिज्ञासु को तत्त्व-ज्ञान नही होने दिया और चित्त की अशुद्धि ने ही प्रेमी को प्रेमास्पद से नही मिलने दिया। जिससे आत्मीयता है भला उसकी विस्मृति हो सकती है ? कदापि नही। जिसको विना जाने हम किसी प्रकार रह ही नही सकते,क्या उससे भेद तथा दूरी रह सकती है ? कदापि नही। प्राकृतिक नियम के अनुसार जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति स्वाभाविक है और वर्तमान जीवन की वस्तु है।

जिसे नहीं जानते हैं उसके भूलने को भूल नही कहते। भूल उसी के सम्बन्ध मे कही जाती है, जिसको जानते तो हैं, पर भूल गये। यदि साधक यह विचार करने लगे कि मैं क्या जानता हूँ, तो भूल स्वत मिट जाती है और बडी ही सुगमता-पूर्वक निस्सन्देहता प्राप्त होती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राणी जो कर सकता है,यदि उसे कर डाले,तो विद्यमान राग की निवृत्ति अवश्य हो जाती है, जिसके होते ही कार्य के अन्त मे स्वत विश्राम मिलता है, जिससे नित्ययोग की प्राप्ति होती है। यदि कार्य के अन्त मे विश्राम नही मिलता, तो समझना चाहिए कि कार्य करने मे कोई असावधानी अवश्य हुई है,नही तो विश्राम का प्राप्त होना स्वाभाविक है। साधक को परिस्थिति के अनुसार कार्य करने मे स्वाधीनता है,पर उसके फल पर दृष्टि रखना अथवा अपवित्र भाव से करना अथवा कार्य करने मे अपनी पूरी शक्ति न लगाना, ये कर्त्तव्य-पालन मे दोष है। इन दोषो के होने के कारण ही कार्य के अन्त मे विश्राम नही मिलता है। अब कोई यदि यह कहे कि कार्य के फल की आशा क्यो नही रखनी चाहिये?जो कुछ किया जाता है उसका फल प्राकृतिक नियम के अनुसार समष्टि शक्तियो से बनता है। फल कर्ता के अधीन नही है। जो कर्ता के अधीन नही है,उस पर दृष्टि रखना कर्ता का दोष है, जैसे खेत मे दाना बोने का कृषक का अधिकार है,पर वह दाना प्राकृतिक नियमो के अनुरूप ही उगेगा और फल देगा। कोई भी कृषक न तो प्राकृतिक खेत को ही उत्पन्न कर सकता है और न दाने को ही बना सकता है। प्राकृतिक पदार्थों के उपयोग मे ही प्राणी का अधिकार है, परन्तु उपयोग का फल प्राकृतिक नियम से होता है, मनमाने ढग से नही। इस दृष्टि से कर्तव्य-पालन-मात्र मे ही अपना अधिकार मानना चाहिये और फल पर दृष्टि नही रखनी चाहिये। इतना

ही नही, प्राकृतिक नियम के अनुसार जो भी फल प्राप्त हो, उसे भी दूसरो की सेवा मे ही लगाते रहना चाहिये। सेवा करने-मात्र को ही अपना कर्तव्य समझना चाहिये। इस प्रकार वर्तमान कार्य करने से कार्य के अन्त मे साधक को विश्राम अवश्य मिलेगा। विश्राम के न मिलने मे कर्ता का अपना ही कोई दोष है, और कुछ नही।

इन्द्रियो के ज्ञान से जो कुछ जानने मे आता है उस पर विश्वास,करना,अथवा उससे ममता करना चित्त को अशुद्ध करना है। विश्वास केवल उसी पर करना है जिसे इन्द्रिय,बुद्धि आदि से नही जानते हो। इन्द्रियो के ज्ञान से जिन वस्तुओ को जानते हो उनका सदुपयोग और जिन व्यक्तियो को जानते हो उनकी सेवा करना चित्तशुद्धि का साधन है। पर उनमे आसक्त होना अथवा उनसे ममता करना केवल लोभ-मोह मे आबद्ध होना है, जो चित्त की अशुद्धि है। प्राकृतिक नियम के अनुसार लोभ से दरिद्रता और मोह से जडता उत्पन्न होती है जो चित्त को अशुद्ध कर देती है। यदि निर्लोभता पूर्वक, विधिवत् वस्तुओ का उपयोग किया जाय और निर्मोहता पूर्वक व्यक्तियो की सेवा की जाय, तो न तो उन पर विश्वास होता है,न सम्बन्ध रहता है और न चित्त अशुद्ध होता है।

वस्तु, व्यक्ति का विश्वास गलते ही उस अनन्त पर स्वत विश्वास हो जाता है जिसको किसी ने इन्द्रिय, बुद्धि आदि के ज्ञान से नही जाना। यह नियम है कि जिस पर विश्वास हो जाता है उससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता स्वत होने लगती है, जिसके होते ही विश्वासपात्र की मधुर स्मृति अपने आप आने लगती है और उस समय तक उत्तरोत्तर बढती ही रहती है जब तक विश्वासी स्वय प्रीति होकर अपने विश्वासपात्र के प्रेम को

पा नही लेता। इस दृष्टि से विरह की जागृति भी स्वाभाविक है। उससे किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नही है। पर आश्चर्य की बात तो यह है कि जो विरह स्वाभाविक है उसे हम अभ्यास द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करते है। उसका परिणाम यह होता है कि इन्द्रिय, मन, वुद्धि आदि द्वारा किया हुआ अभ्यास जव शिथिल होता है तव प्रिय-चिन्तन मिट जाता है और वस्तु आदि का चिन्तन होने लगता है। विरह की उत्पत्ति इन्द्रिय, मन,वुद्धि आदि के स्वभाव को प्रीति मे वदल देती है। अत॰ उसे मन लगाना नही पडता, स्वत मन लग जाता है, और प्रिय से जो भिन्न है, उससे मन हटाना नही पडता,स्वत हट जाता है। मन को लगाने-हटाने का रोग तभी तक रहता है जव तक जीवन मे अस्वाभाविकता है, जो चित्त की अशुद्धि से उत्पन्न हुई है। कर्तव्य-पालन मे ही शरीर, इन्द्रिय, मन, वुद्धि आदि वस्तुओ से सम्वन्ध होता है। कर्तव्य की पूर्ति होते ही सभी वस्तुओ से, जो हमे अत्यन्त निकट भासती हैं, सम्वन्ध स्वत टूट जाता है। यदि हमारा शरीर आदि वस्तुओ से सवन्ध-विच्छेद नही हुआ, तो समझना चाहिये कि जो वस्तुएँ हमे कर्तव्य-पालन केलिए मिली थी उनके द्वारा कर्तव्य-पालन नही किया। देखने, सुनने, समझने, करने आदि के लिये ही शरीर आदि वस्तुएँ मिली है। जो करना है उसके कर डालने पर, जो समझना है उसके समझ लेने पर सभी वस्तुओ से असगता हो जाती है। यह सदैव ध्यान रहे कि वह कभी भी नही करना है जिसे कर नही सकते और उसे देखना, समझना नही है जिसे समझ नही सकते। यदि इसी वात को एक ही वात मे कहा जाय तो यह कह देना चाहिये कि कामना-पूर्ति-काल मे ही शरीर आदि वस्तुओ से सम्वन्ध होता है। कामना-निवृत्ति का महत्त्व वढ जाने पर सभी वस्तुओ से स्वत सम्वन्ध-विच्छेद हो जाता है,

जिसके होते ही जिस पर विश्वास किया था उससे नित्य सम्बन्ध हो जाता है। इस दृष्टि से कर्तव्य-पालन, नित्य-योग, मधुर-स्मृति तथा निस्सन्देहता, ये सभी चित्त शुद्धि होने पर स्वाभाविक रूप से प्राप्त होते है। इनकी प्राप्ति मे लेश मात्र भी अस्वाभाविकता नही है।

प्राप्त परिस्थिति के अनुसार कर्तव्य-परायण न होना, जो सभी वस्तुओ से अतीत है उसमे विश्वास न होना और जाने हुए का आदर न करना, ये तीनो ही बाते अस्वाभाविक है और इस अस्वाभाविकता को अपना लेने से ही चित्त अशुद्ध हुआ है। अत' चित्त शुद्धि के लिये अस्वाभाविकता का त्याग और स्वाभाविकता को अपना लेना अनिवार्य है। पर यह बडी ही सावधानी से समझना चाहिये कि कामना-पूर्ति का महत्त्व जब तक रहता है, तब तक अस्वाभाविकता मे स्वाभाविकता और स्वाभाविकता मे अस्वाभाविकता प्रतीत होती है। सभी कामनाएँ कभी किसी की पूरी नही होती और कुछ कामनाएँ सभी की पूरी होती हैं। जो कामनाएँ पूरी हो ही नही सकती उनको चित्त मे अकित रखना कुछ अर्थ नही रखता, और जो कामनाएँ स्वत पूरी हो ही जायगी, उनकी पूर्ति के सुख मे आबद्ध होना भी कुछ अर्थ नही रखता। अत कामना-पूर्ति का कोई महत्त्व नही है। यह जान लेने पर कामना-निवृत्ति की सामर्थ्य स्वत आ जाती है जिसके आते ही, जो स्वाभाविक है वह जीवन हो जाता है और जो अस्वाभाविक है उसकी स्वत निवृत्ति हो जाती है। अस्वाभाविकता मिटते ही चित्त स्वत शुद्ध होता है।

८-५-५६

७

न्याय अपने प्रति तथा प्यार दूसरों के प्रति

[चित्त की अशुद्धि का ज्ञान जिस ज्ञान मे होता है, उसी ज्ञान मे चित्त की शुद्धि का साधन भी विद्यमान है ।

चित्त शुद्धि के अभिलाषी साधक के लिये यह अनिवार्य है कि अपने चित्त की वास्तविक वस्तु-स्थिति को सरलतापूर्वक प्रकट कर डाले, इसमे अशुद्धि निर्जीव हो जाती है ।

जिनसे ममता नही है, उनका सुधार दुलार तथा प्यार पूर्वक ही सम्भव है । जिनमे ममता है, उनका सुधार मोह-रहित होने से सम्भव है और अपने चित्त का सुधार अपने प्रति कठोर न्याय तथा असहयोग से ही सम्भव है, दुलार तथा प्यार से नही । अत दूसरो के समान अपने प्रति न्याय और अपने समान दूसरो के प्रति प्यार करने मे ही चित्त शुद्ध हो सकता है ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

चित्त की अशुद्धि का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है उसी ज्ञान मे चित्त की शुद्धि का साधन भी विद्यमान है । परन्तु जब साधक अपने उस ज्ञान का आदर नही करता जिससे उसने अशुद्धि को जाना था तब अशुद्धि मिटाने के लिये वह अनेक बाह्य, अस्वाभाविक उपचारो का अनुसरण करता है, परन्तु चित्त शुद्ध नही होता क्योकि अस्वाभाविकता से ही तो चित्त अशुद्ध हुआ है । जिससे

चित्त अशुद्ध हुआ है, उससे भला शुद्ध कैसे हो सकता है ? कदापि नही हो सकता। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि के लिए हमे स्वाभाविक साधना को ही अपनाना होगा। उसके लिए साधक को सर्व-प्रथम उस ज्ञान का आदर करना होगा जिस ज्ञान से उसने चित्त की अशुद्धि को जाना है।

अशुद्धि का ज्ञान उसके परिणाम को और शुद्धि की महिमा को प्रकाशित करता है। ज्यो-ज्यो अशुद्धि के परिणाम का बोध होता जाता है,त्यो-त्यो अशुद्धि-जनित सुख-भोग की आसक्ति स्वत मिटती जाती है, जिसके मिटते ही अशुद्धि की पुनरावृत्ति नही होती, जिसके न होने से अशुद्धि सदा के लिए निर्मूल हो जाती है। चित्तशुद्धि की साधना मे जो अस्वाभाविकता तथा परिश्रम प्रतीत होता है उसका एक-मात्र कारण यह है कि जिस अशुद्धि को विवेकपूर्वक मिटाना चाहिए, उसे हम बलपूर्वक मिटाते हैं। अविवेक-जन्य अशुद्धि बलपूर्वक दबाई जा सकती है, मिटाई नही जा सकती। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि की साधना विवेकयुक्त होना चाहिए, तभी सफलता हो सकती है।

चित्तशुद्धि के साधक के लिए यह अनिवार्य है कि अपने चित्त की वास्तविक वस्तुस्थिति को सरलतापूर्वक प्रकट कर डाले, इससे अशुद्धि निर्जीव हो जाती है। सरलता के बिना चित्त की वास्तविकता का निरीक्षण ही नही हो सकता। उसके हुए बिना अशुद्धि मिट नही सकती। अत सरलतापूर्वक चित्त की वस्तुस्थिति जानने तथा प्रकट करने का प्रयत्न करना चाहिए। वह तभी सम्भव होगा जब हम जैसे अपनी दृष्टि मे हैं, वैसे ही दूसरो की दृष्टि मे भी रहने को आशा करे, कृत्रिमता-पूर्वक अपना प्रकाशन न करें। अकृत्रिमता आते ही चित्त की दबी हुई अशुद्धि का ज्ञान

भी हो जाता है और उसको प्रकट करने का साहस भी आ जाता है। यह नियम है कि अशुद्धि को अशुद्धि जान लेने पर ही अशुद्धि निर्जीव हो जाती है और उसका प्रकाशन हो जाने पर तो उसकी पुनरावृत्ति होती ही नही है । इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि को जानकर उसका प्रकाशन अनिवार्य है । पर साधक को इस बात का ध्यान रहे कि उसे जिस अशुद्धि का ज्ञान हुआ है,वह अशुद्धि भूत-काल की है । उसको न दुहराने का व्रत लेना है,किन्तु भूत-काल की अशुद्धि के आधार पर चित्तको वर्तमान मे अशुद्ध नही मानना है । यह नियम है कि वर्तमान की शुद्धि भविष्य मे कभी अशुद्धि मे परिवर्जित नही होती, अथवा यो कहो कि भूतकाल की अशुद्धि का त्याग वर्तमान मे हो सकता है, परन्तु वर्तमान की शुद्धि भविष्य मे मिट नही सकती है ।

चित्त की अशुद्धि की दवानेकी प्रवृत्ति जीवन मे क्यो आती है ? इस भय से कि उसके प्रकाशन मे हमारी निन्दा होगी, तिरस्कार होगा, हमे कोई अपनाएगा नही । परन्तु जिस प्रकार दवा हुआ वीज वृक्ष होकर एक से अनेक हो जाता है, उसी प्रकार दवी हुई अशुद्धि उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त होती है । जिस भय से आज हम उसे दवाते हैं वह भय अवश्य आ जाएगा, क्योकि भय का वीज जव तक विद्यमान है तव तक हम अभय हो ही नही सकते । तो फिर उसे दवाने से क्या लाभ ? अर्थात् कुछ नही इस दृष्टि से अभय होने के लिए यह अनिवार्य है कि चित्त मे जो वीज-रूप से अशुद्धि विद्यमान है उसको शीघ्रातिशीघ्र मिटा दिया जाय और उसका प्रकाशन उन लोगो के सामने कर दिया जाय जो अशुद्धि के प्रकाशन का महत्व जानते हो और जो सव प्रकार से अपने हित-चिन्तक हो, जैसे सद्गुरु, मन्मित्र, मात-पिता आदि, अथवा उन लोगो से कह दिया जाय जो हमारे दु ख से दुखी हो

और हमारी उन्नति को देखकर जिनमें ईर्ष्या न हो, अपितु जो उसमे हर्षित हो।

साधक को अपना चित्र निज ज्ञान से देखना चाहिए। यदि अपना चित्र अपनी दृष्टि मे सुन्दर हो और समाज की दृष्टि उसके विरुद्ध हो,तो लेशमात्र भी भयभीत नही होना चाहिए। कारण कि ज्ञान का आदर जिन्होने किया,उन्ही के द्वारा समाज मे क्राति हुई, अर्थात् विरोधी समाज भी उनका अनुसरण करने लगता है जो निज ज्ञान का आदर करते है (निज-ज्ञान का अर्थ इन्द्रिय-ज्ञान नही, अपितु प्राप्त विवेक लेना चाहिए)। उसी निज-ज्ञान के प्रकाश मे साधक को अपने चित्त की दशा को देखना चाहिए। यदि उसमे किसी अशुद्धि का दर्शन हो, तो उसे शीघ्र ही मिटा देना चाहिए। जब तक न मिटे तब तक चित्त से असहयोग कर लेना चाहिए, अर्थात् चित्त की ममता से रहित हो जाना चाहिए। पर इस बात का ध्यान रहे कि असहयोग क्रोध नही है,प्रत्युत सम्बन्ध-विच्छेद के द्वारा चित्त का सुधार है। क्रोध न अपने प्रति हितकर सिद्ध होता है और न दूसरो के प्रति, कारण कि क्रोध से विस्मृति उत्पन्न होती है जो कर्त्तव्य से च्युत कर देती है। सम्बन्ध-विच्छेद से ममता का नाश होता है,जिससे राग की निवृत्ति होती है,जिसके होते ही चित्त शुद्धि हो जाता है। इस दृष्टि से सम्बन्ध-विच्छेद करने से किसी का अहित नही होता।

प्राणी अपना सुधार दुलार तथा प्यारपूर्वक, जिनसे ममता होती है उनका सुधार क्षुब्ध होकर और जिनसे ममता नही है उनका सुधार उपेक्षा भाव से करने की सोचता है। पर ऐसा करने से सुधार होता नही। जिनसे ममता नही है उनका सुधार दुलार तथा प्यारपूर्वक ही सम्भव है, उपेक्षा द्वारा नही। जिनसे ममता है उनका सुधार मोह-रहित होने से सम्भव है, क्षुभित होने से नही

और अपने चित्त का सुधार अपने प्रति कठोर न्याय तथा असहयोग से ही सम्भव है, दुलार तथा प्यार से नही। अत दूसरो के समान अपने प्रति न्याय और अपने समान दूसरो के प्रति प्यार करने से ही चित्त शुद्ध हो सकता है, कारण कि यदि दूसरो के प्रति क्षमा तथा प्रेम का व्यवहार न किया, तो उनसे भेद बना रहेगा, जिससे न तो उनका ही हित होगा और न अपना ही चित्त शुद्ध होगा। जिस प्रवृत्ति से दूसरों का हित होता है उसी से अपना चित्तशुद्ध होता है। जिनसे ममता नही है, उनसे भेद है। भेद को जीवित रखने से भी चित्त अशुद्ध होता है। और जिनसे ममता है उनसे किसी न किसी प्रकार की आसक्ति से भी चित्त अशुद्ध होता है। अत जिनसे भेद है उनसे एकता करने के लिए उनके प्रति क्षमा-शीलता का प्रयोग करना पड़ेगा और जिनसे आसक्ति है उनके प्रति निर्मोहता तथा असहयोग का प्रयोग करना पड़ेगा,तभी चित्त क्षोभरहित हो सकता है। यह नियम है कि क्षोभ-रहित होते ही आवश्यक सामर्थ्य स्वत आ जाती है जिसका सदुपयोग करते ही साधक का चित्त शुद्ध हो जाता है। अपने प्रति क्षमाशीलता का प्रयोग उसका दुरुपयोग है और दूसरो के प्रति न्याय तथा उपेक्षा का प्रयोग उनका दुरुपयोग है। दिव्य-गुणो का उपयोग यथास्थान न करने से कोई लाभ नही होता, अपितु हानि ही होती है। इस दृष्टि से जिनसे ममता नही है उन्ही के प्रति क्षमाशीलता का प्रयोग हितकर सिद्ध होता है। मोहयुक्त क्षमा से किसी का भी हित नही होता—न अपना और न उसका, जिससे मोह है। अपना हित तो अपने प्रति न्याय करने ही मे है और दूसरो का हित क्षमा मे निहित है। अत चित्त शुद्ध करने के लिए अपने प्रति न्याय और दूसरो के प्रति प्रेम करना ही होगा।

यह ध्यान रहे कि न्याय वही सार्थक है जो रक्षा मे समर्थ

हो। न्याय भी वही कर सकता है जो क्रोध से रहित हो और प्रेम वही कर सकता है जो कामसे रहित हो। जिसकी प्रसन्नता दूसरो पर निर्भर है वह प्रेम नही कर सकता, और सुख-भोग मे आसक्त है वह अपने प्रति न्याय नही कर सकता। न्याय करने के लिए सुख-भोग की दासता का अन्त करना होगा और प्रेमी होने के लिए सुख की आशा से रहित होना होगा। यह नियम है कि जो जिससे सुख की आशा करता है उससे प्रेम नही कर सकता, और न्याय तथा प्रेम के बिना चित्त शुद्ध नही हो सकता। इस दृष्टि से प्राप्त सुख की आसक्ति से रहित और अप्राप्त सुख की आशा से रहित होने मे ही चित्त की शुद्धि निहित है।

९-५-५६

८

न्याय अपने प्रति तथा क्षमा दूसरों के प्रति

[चित्त शुद्धि जीवन का आवश्यक अग है। प्रत्येक परिस्थिति मे चित्तशुद्धि अपेक्षित है। यह नियम है कि जिसकी आवश्यकता मानव को सर्वत्र, सर्वदा है, उसकी पूर्ति अवश्यम्भावी है। अत. चित्तशुद्धि से कभी निराश नही होना चाहिए।

अपने प्रति न्याय किए विना निर्दोपता की उपलब्धि कभी सम्भव नही है। पर वह तभी सम्भव होगा जव हम स्वीकार करें कि क्षमा अपने प्रति नही करनी है, दूसरो के प्रति करनी है।

दोप-जनित सुख के वदले मे उससे कही अधिक दु ख का हर्प-पूर्वक अपना लेना न्याय का सर्वप्रथम अग है। न्याय दूसरा अङ्ग है किए हुए दोप को न दुहराना। यह अग अपने प्रति तभी सम्भव है जव न्याय के प्रथम अङ्ग को अपना लिया जाय।

पूर्ण न्याय का प्रयोग हमे अपने मन के साथ ही करना है—जैसे-जैसे दूरी वढती जाय वैसे-वैसे न्याय क्षमा के रूप मे वदलता जाना चाहिए।

वस्तुओ का सदुपयोग और व्यक्तियो की सेवा के लिए ही जीवन मिला है। उनसे सुख की आशा करना अथवा उनसे ममता करना अपनी ही भूल है। इस भूल का अन्त करते ही अपने प्रति न्याय तथा दूसरो के प्रति क्षमा होने लगती है।

चित्तशुद्ध होते ही शरीर, मन और बुद्धि आदि सभी शुद्ध हो जाते हैं। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि मे ही समस्त जीवन की पूर्णता निहित है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

चित्तशुद्धि जीवन का आवश्यक अग है। समस्त समस्याओ का हल उसी मे निहित है। इतना ही नही, वर्तमान मानव-जीवन चित्तशुद्धि के ही लिए मिला है। कारण कि चित्त की अशुद्धि अविवेकजन्य है जो प्राप्त विवेक के उपयोग से मिट सकती है। विवेक मानवमात्र को स्वभाव से ही प्राप्त है। इस दृष्टि से चित्त को शुद्ध करने मे हम सभी स्वाधीन है पराधीनता अप्राप्त वस्तु आदि की प्राप्ति मे भले ही हो, पर, चित्त को शुद्ध करने मे किसी प्रकार का पराधीनता नही है। प्रत्येक परिस्थिति मे चित्त शुद्धि अपेक्षित है। यह नियम है कि जिसकी आवश्यकता मानवमात्र को सर्वत्र, सर्वदा है, उसकी पूर्ति अवश्यम्भावी है। अत चित्तशुद्धि से कभी निराश नही होना चाहिए।

अब विचार यह करना है कि जिसकी पूर्ति अवश्यम्भावी है उसे प्राप्त करने मे हमे असमर्थता क्यो प्रतीत होती है ? उसका एकमात्र कारण यह है कि जब हम विवेक के प्रकाश मे अपने मे कोई दोष पाते हैं तो अपने प्रति वह न्याय नही करते जो उसी दोष मे दूसरो के प्रति करते है। उसका परिणाम यह होता है कि वह दोष दृढतापूर्वक चित्त मे अकित हो जाता है। अपने प्रति न्याय किए बिना निर्दोषता की उपलब्धि कभी सम्भव नही है। अपने प्रति न्याय करने मे कठिनाई क्या है? यदि इस पर विचार किया जाय, तो ऐसा प्रतीत होता है कि दोषजनित सुख के बदले मे उससे कही अधिक दु ख का हर्ष पूर्वक अपना लेना न्याय का सर्वप्रथम अग है। न्याय के इसी प्रथम अग का उपयोग हम दूसरो पर तो बडे ही सहज भाव से करने लगते है, पर अपने प्रति सुख के स्थान पर दु ख के अपनाने मे भयभीत होते है। इस कारण अपना दोष जान लेने पर भी अपनेको क्षमा करने की बात सोचते हैं

उसका परिणाम यह होता है कि जो क्षमा दूसरो के प्रति करने की थी, जिससे पारस्परिक एकता प्राप्त होती, वह अपने प्रति करने से अपने व्यक्तित्व का मोह और दृढ हो जाता है, जो दोषों का मूल है। अपने प्रति किया हुआ मोह अनेक अशुद्धियाँ उत्पन्न करता है। इसी कारण अपने प्रति हमे न्याय ही करना चाहिए। पर वह तभी सम्भव होगा जव हम यह स्वीकार करे कि क्षमा अपने प्रति नही करनी है, दूसरो के प्रति करनी है।

न्याय का दूसरा अग है किए हुए दोष को न दुहराना। यह अंग अपने प्रति तभी सम्भव है जव न्याय के प्रथम अग को अपना लिया जाय। यह नियम है कि जव दु ख इतना वढ जाता है कि सुख का राग मिट जाय, तव दोष न दुहराने की दृढता स्वत आ जाती है,कारण कि सुख-लोलुपता से ही दोष मे प्रवृत्ति होती है। जव दुख ने उसे खा लिया, तव किया हुआ दोष न दुहराना स्वाभाविक हो जाता है, जिसके होते ही निर्दोषता दृढ़ हो जाती है, जो न्याय का तीसरा अग है।

न्याय से कभी अपना अहित नही होता, अपितु अपना तथा दूसरो का हित ही होता है। इस दृष्टि से न्याय को अपनाने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। न्याय से भयभीत होना भूल है, क्योकि उसके विना अपनाएसुधार ही सम्भव नही है। जवप्राणी अपने प्रति स्वयं न्याय करने लगता है,तव वह दूसरो की दृष्टि मे अदण्डनीय,अर्थात् क्षमापात्र वन जाता है। जो अपने प्रति न्याय नही करता, उसके प्रति दूसरो के मन मे स्वत. क्षोभ तथा क्रोध उत्पन्न होता है, उसका परिणाम यह होता है कि प्रकृति के विधान मे, उसके प्रति विरोधी सत्ता स्वय उत्पन्न हो जाती है। इतना ही नही, जो अपने प्रति न्याय नही करता उसके द्वारा दूसरो के प्रति अन्याय स्वत होने लगता है, जिससे समाज मे भी उसके प्रति

विरोधी-सत्ता उत्पन्न हो जाती है। वह विरोध इस सीमा तक बढ जाता है कि उस व्यक्ति के न रहने पर भी वह जिस वर्ग का था उस वर्ग से, जिस जाति का था उस जाति से और जिस मत, सम्प्रदाय आदि को मानता था उन सबसे समाज मे एक स्थायी विद्रोह की परम्परा चल जाती है। इस दृष्टि से अपने प्रति न्याय न करने से घोर क्षति होती है। अत अपने प्रति न्याय करना परम अनिवार्य है

अपने प्रति आप न्याय करने से समाज मे निन्दा नही होती, अपितु आदर ही मिलता है। किन्तु जब दूसरो के द्वारा अपने प्रति न्याय होता है तब समाज मे निन्दा होती है। इस दृष्टि से भी अपने प्रति न्याय करने मे कितना महत्त्व है ? न्याय के इस रहस्य कोजो जान लेते है वे हर्ष पूर्वक अपने प्रति न्याय करने लगते है। अपने प्रति न्याय का अर्थ अपने पर क्रोधित होना नही है, न अपना विनाश करना है और न अपनी क्षति करना है, अपितु न्याय का अर्थ है असहयोगपूर्वक अपना सुधार। असहयोग से सम्वन्ध-विच्छेद होता है। सम्बन्ध-विच्छेद से राग-द्वेष नही रहता। राग-रहित होने से सुखासक्ति मिट जाती है और द्वेष-रहित होने से क्रोध का नाश हो जाता है। सुखासक्ति मिट जाने से दोषो की पुनरावृत्ति नही होती, जिससे निर्दोषता का प्रादुर्भाव स्वत हो जाता है और क्रोध-रहित होने से हिंसा का भाव मिट जाता है, जिससे अपने सुधार पर तो दृष्टि रहती है पर अपने विनाश की भावना मिट जाती है। न्याय का वास्तविक प्रयोग अपने ही पर हो सकता है, दूसरो पर नही। न्याय वह तत्त्व है जिसमे न हिसा है और न पक्षपात। जिस न्याय मे हिंसा और पक्षपात की गन्ध हो वह न्याय के स्वरूप मे अन्याय का चित्र है। अन्याय का जीवन मे कोई स्थान नही है। जो न्याय को अपना

लेता है वह आदरणीय होता है, निन्दनीय नही।

पूर्ण न्याय का प्रयोग हमे अपने मन के ही साथ करना है। जैसे-जैसे दूरी बढती जाय वैसे-वैसे न्याय क्षमा के रूप मे बदलते जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिससे जितनी अधिक समीपता हो, उसके प्रति उतना ही अधिक न्याय करना चाहिए। ज्यो-ज्यो दूरी बढती जाय त्यो-त्यो न्याय क्षमा के रूप मे परिवर्तित होता जाना चाहिए। न्याय और क्षमा एक ही सिक्के के दो पहलू है। जिनसे ममता है, उनके प्रति न्याय करने से जो हित होता है, वही हित, जिनसे ममता नही है उनके प्रति क्षमा करने से होता है। न्याय और क्षमा के फल मे कोई भेद नही है।

न्याय और क्षमा के बाह्य रूप मे भले ही भेद हो, परन्तु वास्तविकता मे कोई भेद नही है। जब हम अपने प्रति अन्याय करने वालो को क्षमा करते है, तब हमारे और उनके बीच मे जो दूरी तथा भेद था,वह मिटने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि परस्पर मे स्नेह की एकता उत्पन्न हो जाती है, जिससे हमारे और उनके बीच परस्पर हिंसा का भाव मिट जाता है, एक दूसरे का भला चाहने लगते है और फिर सघर्ष सदा के लिए मिट जाता है। इतना ही नही, जब दोषी के दोष को सहन करते हुए उसके बदले मे उसके प्रति सद्भावना तथा सद्व्यवहार किया जाता है, तब उसके मनमे स्वत अपनी भूल का पश्चात्ताप होने लगता है। पश्चात्ताप की अग्नि ज्यो-ज्यो प्रज्ज्वलित होती जाती है, त्यो-त्यो उसके जीवन से दोष स्वत भस्मीभूत होते जाते है और फिर उसमे निर्दोषता का प्रादुर्भाव स्वत हो जाता है।

अब विचार यह करना है कि क्षमा का स्वरूप क्या है? क्षमा अपने और विपक्षी के बीच मे निर्वैरता की स्थापना करती है, जिसके होते ही अपनी ओर से बुराई के बदले मे भलाई स्वत

होने लगती है और अपने प्रति होने वाली बुराई की विस्मृति हो जाती है। इतना ही नही, क्षमा से पूर्व जो अपने प्रति बुराई प्रतीत होती थी, वह भलाई प्रतीत होने लगती है और क्षमाशील मे स्वत निरभिमानता आने लगती है। वह क्षमा इसलिए नही करता कि दूसरा अपराधी है, अपितु अपने ही को अपराधी मान कर क्षमा करता है। वह इस रहस्य को जान लेता है कि यदि मेरी भूल न होती तो मेरे साथ कोई बुराई कर ही नही सकता था। मेरी ही की हुई बुराई दूसरो के द्वारा मेरे सामने आती है, उस बेचारे का कोई दोष नही है। यदि मैं उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध न जोडता, उससे आशा न करता, तो उसके द्वारा मेरे प्रति बुराई हो ही नही सकती थी।

किसी वस्तु, व्यक्ति आदि के द्वारा सुख की आशा करना तथा उसे अपना मानना प्रमाद है। इस प्रमाद से ही अपने प्रति बुराई होती है। वस्तुओ का सदुपयोग और व्यक्तियो की सेवा के लिए ही जीवन मिला है, उनसे सुख की आशा करना अथवा उनसे ममता करना अपनी ही भूल है। इस भूल का अन्त करते ही चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही अपने प्रति न्याय और दूसरे के प्रति क्षमा स्वत होने लगती है। शुद्धि का प्रादुर्भाव सदैव नित्य तथा विभु होता है, क्योकि वह अनन्त की विभूति है। अनन्त की विभूति कभी शान्त नही होती, अपितु अनन्त ही होती है। अशुद्धि सदैव सीमित और विनाशशील होती है, क्योकि उसकी उत्पत्ति सीमित अहम्-भाव से होती है इस दृष्टि से अशुद्धि का अन्त करना अनिवार्य है, जिसके होते ही शुद्धि का प्रादुर्भाव स्वत. हो जाता है। अशुद्धि कोई ऐसी नही होती, जिसमे कर्तृत्व न हो और शुद्धि सर्वदा स्वत सिद्ध स्वाभाविक होती है। इसी से अशुद्धि का अन्त होते ही शुद्धि का प्रादुर्भाव हो जाता है।

अब विचार यह करना है कि न्याय तथा क्षमा के प्रयोग का क्रम क्या है ? जब साधक को अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि मे अशुद्धि का दर्शन हो तब उसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के प्रति न्याय करना चाहिए, अर्थात् उनसे विवेकपूर्वक असहयोग कर लेना चाहिए। ऐसा करते ही वे सभी स्वत शुद्ध हो जायेंगे। कारण कि जिस वस्तु से ममता नही रहती, वह अनन्त को समर्पित हो जाती है। यह नियम है कि जो वस्तु अनन्त को समर्पित हो जाती है, वह अनन्त की कृपा-शक्ति से स्वत शुद्ध हो जाती है। वह निन्दनीय नही रहती, अपितु अनन्त के नाते सेवा तथा प्यार की पात्र बन जाती है।

चित्तशुद्ध हो जाने पर सभी साधन सफल हो जाते है। चित्त की शुद्धि के बिना जो साधन केवल बलपूर्वक किया जाता है उससे मिथ्या अभिमान की ही वृद्धि होती है, कोई विशेष लाभ नही होता। चित्तशुद्धि के बिना जो कुछ किया जाता है वह निरर्थक ही सिद्ध होता है। चित्त शुद्ध हो जाने पर समस्त जीवन मे सौन्दर्य आ जाता है। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि जीवन का अत्यन्त आवश्यक अग है। उसके लिए साधक को अपने प्रति न्याय तथा दूसरो के प्रति क्षमा का प्रयोग करना है।

चित्तशुद्धि होते ही शरीर, मन और बुद्धि आदि सभी शुद्ध हो जाते है। शरीर की शुद्धि मे कर्म की शुद्धि निहित है, जिससे सुन्दर समाज का निर्माण होता है। मन की शुद्धि से योग सिद्ध होता है, जो शान्ति तथा सामर्थ्य का प्रतीक है। बुद्धि की शुद्धि से बोध की प्राप्ति होती है जो अमर तथा चिन्मय जीवन का प्रतीक है और अहम् शुद्ध हो जाने पर प्रेम का प्रादुर्भाव होता है जिसमे अनन्त अगाध रस है। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि मे ही समस्त जीवन की पूर्णता निहित है।

१०-५-५६

६

असाधन-रूप मान्यताओं की अस्वीकृति

[किसी भी की हुई, सुनी हुई, देखी हुई बुराई के आधार पर अपने को अथवा दूसरे को सदा के लिए बुरा मान लेने से चित्त अशुद्ध हो जाता है।

कोई भी व्यक्ति सर्वांश मे बुरा नही होता, सभी के लिए बुरा नहीं होता और सर्वदा बुरा नही होता।

चित्तशुद्धि के लिए असाधनरूप मान्यताओ की अस्वीकृति अनिवार्य है।

सभी दोष, सभी बन्धन दोष-युक्त-मान्यता पर ही जीवित हैं। अपने मे निर्दोषता की स्थापना करते ही समस्त दोष तथा बन्धन स्वय मिट जावेंगे एव मान्यताओ से जो अतीत है, उसी से नित्य सम्बन्ध स्थापित हो जाएगा।

कर्तव्य-पालन मे ही भोग की निवृत्ति और योग की प्राप्ति, असत्य की निवृत्ति और सत्य की प्राप्ति, काम की निवृत्ति और अनन्त की प्राप्ति निहित है।]

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

किसी भी की हुई, सुनी हुई, देखी हुई बुराई के आधार पर अपने को अथवा दूसरे को सदा के लिए बुरा मान लेने से चित्त

अशुद्ध हो जाता है। बुराई-काल मे कर्त्ता भले ही बुरा हो,पर उससे पूर्व और उसके पश्चात् बुरा नही है। फिर भी उसे बुरा मानते रहना उसके प्रति घोर अन्याय है। प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी मे बुराई की स्थापना करना उसे बुरा बनाना है, और अपने प्रति बुराई के आने का बीज बोना है, क्योकि कर्म-विज्ञान की दृष्टि से जो दूसरो के प्रति किया जाता है वह कई गुना अधिक होकर अपने प्रति होने लगता है, यह प्राकृतिक विधान है। इस दृष्टि से किसी को भी बुरा मानना अपने को बुरा बनने मे हेतु है, अथवा यो कहो कि अपने को भला बनाने के लिए दूसरो के प्रति भलाई करना तथा उन्हे भला समझना अनिवार्य है। किसी को बुरा मानने मे न तो अपना ही हित है और न उसका, जिसे बुरा मानते है। इस दृष्टि से किसी मे भी बुराई की स्थापना नही करनी चाहिए। यही चित्तशुद्धि का सुगम उपाय है।

कोई भी व्यक्ति सर्वाश मे बुरा नही होता,सभी के लिये बुरा नही होता और सर्वदा बुरा नही होता। तो फिर किसीको बुरा मानना क्या मिथ्या नही है? अर्थात् अवश्य है। बुराई की प्रतीति अपने मे हो अथवा दूसरे मे, आशिक होती है, और वह भी सदैव नही रहती। व्यक्ति प्रमादवश भूतकाल की बुराई के आधार पर अपने को वर्तमान मे बुरा मान लेता है। यह मान्यता, की हुई बुराई की स्मृति-मात्र है, बुराई नही। यदि को हुई बुराई की स्मृति को अहम्भाव मे स्थापित कर दिया गया तो बुराई की पुनरावृत्ति स्वत होने लगती है। इस कारण की हुई बुराई की स्मृति की स्थापना न अपने मे करनी चाहिये और न दूसरो मे। हाँ, यदि बुराई की स्मृति वेदना जागृत करती है, तो वह वेदना बुराई-जनित सुख का राग मिटाने मे साधन-रूप है पर कब? जब उस प्रकार की बुराई को, जिसकी कि वह स्मृति है, न दुहराने

का दृढ सकल्प कर लिया जाय, और उसके विपरीत जो निर्दोषता है उसकी स्थापना कर ली जाय। तो सभी दोष स्वत मिट जाते हैं, क्योकि किसी भी दोष की स्वतन्त्र सत्ता नही है।

यह सभी जानते हैं कि अन्धकार प्रकाश को ही न्यूनता है, पर अन्धकार प्रकाश नही है। उसी प्रकार दोष गुण की ही न्यूनता है, पर दोष गुण नही है। हाँ, यह अवश्य है कि दोष का कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। इसी कारण उसकी निवृत्ति हो सकती है। यह नियम है कि निवृत्ति उसी की होती है जो सर्वदा न रहे। जब दोष सर्वदा रहने वाली वस्तु नही हैं। तव किसी को भी दोषी मानना किसी प्रकार भी न्यायसगत नही है। पर प्राणी प्रमादवश अपने को तथा दूसरो को स्थायी रूप से दोषी मान लेता है। चित्तशुद्धि के लिए दोष-युक्त मान्यताओ का त्याग अनिवार्य है।

निर्दोष मान्यताए साधनरूप है। जो साधनरूप मान्यताए हैं वे कर्तव्य की प्रतीक है। कर्तव्य-पालन मे विद्यमान राग की निवृत्ति तथा दूसरो के अधिकार की रक्षा निहित है। इस दृष्टि से कर्तव्य के अर्थ मे केवल सर्व-हितकारी प्रवृत्तिही आ सकती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक निवृत्ति मे स्वत बदल जाती है और निवृत्ति-काल मे वह मान्यता भी मिट जाती है जिस मान्यता से प्रवृत्ति उत्पन्न हुई थी। यदि निवृत्ति-काल मे मान्यता का अन्त नही होता, तो समझना चाहिये कि साधन-रूप मान्यता नही थी, अथवा मान्यता के अनुरूप विधिवत् कर्त्तव्य-पालन नही किया गया। इन्ही दो कारणो से निवृत्ति-काल मे मान्यता का अस्तित्व भासता है। साधनरूप मान्यता बीज है सर्व-हितकारी प्रवृत्ति का। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति वासना-रहित निवृत्ति प्रदान करने मे समर्थ है और निवृत्ति मे सर्व-हितकारी

प्रवृत्ति का सामर्थ्य विद्यमान है। इस दृष्टि से सर्व-हितकारी प्रवृत्ति और वासना-रहित निवृत्ति एक दूसरे के पूरक है और चित्त-शुद्धि मे हेतु है।

वस्तु, व्यक्ति आदि किसी को भी बुरा तथा भला नही मानना चाहिये, अपितु इनका सदुपयोग करना चाहिए। वस्तुओ के सदुपयोग से व्यक्तियो की सेवा सिद्धि होती है और व्यक्तियो की सेवा से समाज मे सदाचार की वृद्धि होती है। स्वरूप से तो सभी वस्तुए परिवर्त्तनशील तथा विनाशी है, अत उनके सम्बन्ध मे कोई एक निश्चित धारणा करना भूल है। इस भूल से ही प्राणी वस्तुओ को भला-बुरा मानकर राग-द्वेष मे आवद्ध हो जाता है, जो चित्त की अशुद्धि मे हेतु है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, वुद्धि आदि सभी करण है, कर्त्ता नही। करण की निन्दा करना कर्त्ता की असावधानी है, और कुछ नही। कर्त्ता का प्रभाव ही करण मे भासित होता है। अत कर्त्ता अपनी शुद्धि-अशुद्धि को ही शरीर, इन्द्रिय, मन, वुद्धि आदि मे देखता है, पर कहता यह है कि मेरे शरीर, इन्द्रिय, मन, वुद्धि आदि अशुद्ध हैं। जव कर्ता अपने मे से वह अशुद्धि निकाल देता है जो उसने भूतकाल की घटनाओ के आधार पर अपने मे आरोपित कर ली है, तव शरीर, इन्द्रिय, मन, वुद्धि आदि अपने आप शुद्ध हो जाते है। इस दृष्टि से अपने मे से अशुद्धि का त्याग और उसमे शुद्धि की स्थापना अनिवार्य है, जिसके करते ही चित्त सदा के लिये शुद्ध हो जाता है। अपने को दोषी मानना दोष को निमन्त्रण देना है। अत 'दोषी था पर अव नही हूँ' ऐसा मानते ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति स्वत हो जायगी।

सभी दोष, सभी वन्धन दोष-युक्त मान्यता पर ही जीवित है। अपने मे निर्दोषता की स्थापना करते ही समस्त दोप तथा वन्धन स्वय मिट जायेंगे। दोष-युक्त मान्यताए रोग के समान हैं

और निर्दोषता की स्थापना औषधि के समान है। जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वत मिट जाती है,उसी प्रकार निर्दोषता की स्थापना दोषो को खाकर स्वत मिट जाती है, अर्थात् गुणो का अभिमान अङ्कित नही होता। दोष का अन्त होते ही अनन्त से नित्य सम्बन्ध तथा अभिन्नता हो जाती है और अहम्भाव गल जाता है,अथवा यो कहो कि अनन्त से नित्यभोग हो जाता है जो सभी मान्यताओ से अतीत है।

साधन-रूप मान्यताएँ कर्त्तव्य-परायणता मे परिवर्तित होकर मिट जाती है और असाधन-रूप मान्यताएँ केवल अस्वीकृति मात्र से मिट जाती है। अब विचार यह करना है कि असाधन-रूप मान्यताएँ चित्त मे क्यो अकित है ? जिन दोष-युक्त प्रवृत्तियो के आधार पर असाधन-रूप मान्यता की स्वीकृति हुई थी, वे प्रवृत्तियाँ वर्तमान मे नही है ,परन्तु फिर भी हम उनका त्याग नही करते है, यह 'नही' को 'है' मानता है। मान्यता की खोज करने से उसका अस्तित्व नही मिलता और फिर उसकी स्वीकृति स्वत मिट जाती है। पर मान्यता की खोज वही कर सकता है जो निज विवेक के प्रकाश मे वस्तु, अवस्था आदि के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करे। यह नियम है कि जिसकी खोज हम ज्ञानपूर्वक करते हैं,यदि उसका अस्तित्व है तो उससे एकता हो जाती है और यदि वह अस्तित्वहीन है तो उससे भिन्नता हो जाती है, अथवा यो कहो कि ज्ञान-द्वारा खोज करने से सत्य की प्राप्ति और असत्य की निवृत्ति हो जाती है। ज्ञान निवृत्ति की प्राप्ति करने मे समर्थ है, वह सम्बन्ध तथा किसी मान्यता मे सद्भाव उत्पन्न नही करता। मान्यता का सद्भाव मिटते ही भेद नष्ट हो जाता है और सम्बन्ध टूटते ही राग-द्वेष मिट जाते हैं। राग-द्वेष-रहित होते ही किसी को बुरा-भला मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता और भेद-नाश

होते ही अभिन्नता तथा आत्मीयता एव स्वरूप से एकता हो जाती है जो योग, बोध, तथा प्रेम की प्राप्ति मे हेतु है। इस दृष्टि से मान्यता केवल ऐसी वस्तु है कि खोज करने पर तो उसका पता ही न चले और बिना खोज किए सत्य प्रतीत हो।

भूतकाल की प्रवृत्तियो को सत्य तथा स्थायी मानकर कोई भी व्यक्ति अपने को सर्वांश मे निर्दोष सिद्ध नही कर सकता और प्रत्येक साधक की हुई भूल न दोहराने का व्रत लेकर वर्त-मान से ही निर्दोपता से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से अपने मे अथवा दूसरो मे दोषी-भाव की स्थापना करना केवल मान्यता के आधार पर उसमे आवद्ध रहना है, जो दोषो की पुनरावृत्ति का कारण है। अत निर्दोष होने के लिए अपने तथा दूसरो मे दोषी-भाव की अस्वीकृति अनिवार्य है, अथवा यो कहो कि सभी मान्यताओ को त्याग, मान्यताओ के प्रकाशक, अनन्त से अभिन्न होने मे ही निर्दोषता है। किमी भी मान्यता को सुरक्षित रखना अपने को दोषी बनाये रखना है। साधनरूप मान्यताओ को कर्त्तव्य-परायणता से तथा असाधनरूप मान्यताओ को अस्वीकृति से मिटाना होगा, तभी चित्त शुद्ध हो सकता है।

मान्यता का सद्भाव विकल्परहित विश्वास है, जो ज्ञान के समान भासता है। विश्वास का महत्त्व केवल कर्त्तव्य के प्रति, अनन्त के प्रति अथवा देह से अतीत अपने प्रति है। इसके अति-रिक्त जो विश्वास है वह प्रमाद है। कर्त्तव्यपरायणता राग-निवृत्ति के लिए है, अनन्त का विश्वास परम प्रेम के लिए है और अपना विश्वास अमरत्व के लिए अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त साधक के जीवन मे विश्वास का कोई सदुपयोग ही नही है। कर्त्तव्य का निर्णय प्राकृतिक विधान तथा निज विवेक पर निर्भर है। इसी कारण कर्त्तव्य-पालन मे अधिकार है, फल मे नही।

कर्त्तव्य के बदले मे किसी फल की आशा करना नवीन राग मे आवद्ध होना है, जो वास्तव मे अकर्त्तव्य है। कर्त्तव्य का सम्बन्ध प्राप्त परिस्थिति से है। अत परिस्थिति के सदुपयोग-मात्र मे ही कर्त्तव्य का महत्त्व है। परिस्थिति का सदुपयोग सभी वस्तु, अवस्था आदि से असग करने में समर्थ है। वस्तु, अवस्था आदि की असगता समस्त कामनाओ का अन्त कर देती है। कामनाओ का अन्त होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है, जिससे जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति स्वत हो जाती है, कारण कि कामनाओ की निवृत्ति होते ही चिरशाति तथा आवश्यक सामर्थ्य स्वत आ जाती है। इस दृष्टि से कामना-निवृत्ति मे ही समस्त कर्त्तव्यो की परावधि है।

असाधन-रूप मान्यता तो, दूसरो की कौन कहे, अपने लिए भी अपने को प्रिय नही होती, क्योकि अपनी दृष्टि मे भी जब हम दोषी रहना नही चाहते तो फिर किसी अन्य को दोषी मानना क्या उसके प्रति घोर अन्याय नही है? अवश्य है। अब रही साधन-रूप मान्यता की बात, जिससे कर्त्तव्य के द्वारा मुक्त होना है। कर्त्तव्य-पालन मे सभी साधको को सर्वदा स्वाधीनता है, क्योकि जो जिसे नही कर सकता वह उसका कर्त्तव्य ही नही है। इतना ही नही,प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक कर्त्ता मे कर्त्तव्य का ज्ञान और उसकी पूर्ति की सामर्थ्य विद्यमान है,पर यह रहस्य वे ही साधक समझ पाते हैं जो वर्तमान वस्तु स्थिति के आधार पर कर्त्तव्य-पालन तथा सत्य की खोज करते हैं। कर्त्तव्य-पालन मे ही भोग की निवृत्ति और योग की प्राप्ति, असत्य की निवृत्ति और सत्य की प्राप्ति, काम की निवृत्ति और अनन्त की प्राप्ति निहित है।

अपने सम्बन्ध मे जो अपनी मान्यता है वह भी विवेकसिद्ध नही है, क्योकि अपने अर्थ मे 'यह' को ले नही सकते। बाह्य

वस्तुओ की तो कौन कहे–शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और सभी वस्तुएँ 'यह' के अर्थ मे आ जाती है। 'यह' से भिन्न जो 'मैं' है उसे किसी ने कभी किसी भी कारण के द्वारा विषय नही किया। इस दृष्टि से अपने मे भी अपनी मान्यता का दर्शन नही होता। इतना ही नही, खोज करने पर शरीर आदि किसी भी वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नही होता। प्रत्येक वस्तु समस्त सृष्टि से अभिन्न है। इस दृष्टि से समस्त सृष्टि भी एक वस्तु ही है। तो फिर किसे अपना और किसे पराया मानोगे ? या तो सभी अपने हैं, या कोई भी वस्तु अपनी नही है। जव सभी अपने हैं तो किसको बुरा समझोगे और जिससे कोई सम्वन्ध नही उसके प्रति कुछ भी कहना वनता नही। अत अपने और दूसरो के सम्वन्ध में जो मान्यताएँ हैं, उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। अस्तित्वहीन को स्वीकार करना विवेक का विरोध है, और कुछ नही। विवेक के अनादर से ही चित्त अशुद्ध हुआ है, अत उसका आदर करना चाहिये।

विवेक का आदर करते ही सृष्टिरूप वस्तु जिस अनन्त के किसी अश-मात्र मे भासित होती है उससे अभिन्नता हो जायगी और सृष्टि की आसक्ति तथा दासता सदा के लिए मिट जायगी, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जायगा और अनन्त से अभिन्नता प्राप्त होगी। इस दृष्टि से सभी मान्यताओ से जो अतीत है, उसी को स्वीकार करना, उसी मे विश्वास करना, उसी से नित्य सम्वन्ध जोडना और उसी का योग, वोध तथा प्रेम प्राप्त करना साधक का परम पुरुषार्थ है, जिसकी सिद्धि चित्त शुद्धि होने पर ही सम्भव है, और चित्त की शुद्धि अपने मे और दूसरो मे निर्दोषता की स्थापना करने मे ही निहित है।

११-५१-५६

१०

परिस्थितियों की अनित्यता

[परिस्थिति मे ही जीवन बुद्धि होने से जडता आ जाती है जिसके आते ही प्राणी इन्द्रियो के स्वभाव मे आबद्ध हो जाता है । इन्द्रियो के स्वभाव मे आबद्ध होते ही वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता उत्पन्न हो जाती है । जब तक साधक वस्तु, व्यक्ति आदि के आश्रय के बिना रह नही सकता तव तक चित्त शुद्ध हो नही सकता, और जब तक वस्तुओ के स्वरूप को जानकर सत्य की खोज नही करता तब तक वस्तु आदि के आश्रय से रहित हो नही सकता । सत्य की खोज मे ही असत्य का त्याग और असत्य के त्याग मे ही चित्त की शुद्धि निहित है ।

सत्य की खोज, प्रिय की लालसा, शान्ति तथा वर्तमान कार्य का आदर, इन चारो की प्रगति होने पर चित्त साधक के अधीन रहता है]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

विरह का उदित न होना, जिज्ञासा की जागृति न होना, शान्ति का सुरक्षित न रहना और निरर्थक सकल्प-विकल्पो का प्रवाह चलना चित्त की अशुद्धि है । यद्यपि विरह, जिज्ञासा तथा शान्ति ये तीनो ही स्वाभाविक है परन्तु चित्त की अशुद्धि के कारण प्रयत्न-द्वारा भी साध्य नही है, यह बडे ही आश्चर्य्य की बात है ।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक कार्य के अन्त मे

विश्राम तथा शान्ति स्वत आनी चाहिए। पर ऐसा नही होता। उसका एकमात्र कारण यह है कि होने वाली प्रवृत्ति मे कोई न कोई दोष है। प्रवृत्ति-जनित दोष की निवृत्ति के अन्त मे विश्राम सम्भव है। जो प्रवृत्ति उत्कण्ठा, एवं उत्साह मे पूर्ण तथा स्वार्थ-भाव से रहित नही होती उस प्रवृत्ति के अन्त मे विश्राम नही मिलता, कारण कि उत्कण्ठा के विना प्रवृत्ति मे रस की उत्पत्ति नही होती और उत्साह के विना प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय नही होता और स्वार्थ-भाव से रहित हुए बिना प्रवृत्ति-जनित दासता से मुक्ति नही मिलती। इन तीनो कारणो से प्रवृत्ति के अन्त मे भी प्रवृत्ति का ही चिन्तन रहता है, सो निरर्थक सकल्प-विकल्प उत्पन्न करने मे हेतु है।

उत्कण्ठा न होने मे कारण है प्राप्त परिस्थिति का अनादर। वह अनादर तभी होता है जव साधक को प्राकृतिक न्याय के अनुसार प्राप्तपरिस्थिति मे अपने हित का दर्शन नही होता। उसका एक-मात्र कारण यह है कि प्राणी उत्पत्ति-विनाश युक्त परिस्थिति को ही अपना अस्तित्व अथवा जीवन मान लेता है। प्रत्येक परि-स्थिति स्वभाव से ही अपूर्ण तथा अभाव-युक्त है। उसी जीवन-बुद्धि होने से अनेक प्रकार के अभाव प्रतीत होने लगते हैं। उन अभावो से पीडित हो प्राणी प्राप्त परिस्थिति से असन्तुष्ट होता है और अप्राप्त परिस्थिति का आवाहन करने लगता है। वह इस वात को भूल जाता है कि ऐसी कोई परिस्थिति हो ही नही सकती जो अभाव-युक्त न हो यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति विद्यमान राग-निवृत्ति का साधन-मात्र है। जो साधन-मात्र है उसे साध्य मानना प्रमाद है। इस प्रमाद से ही प्राणी कामना पूर्ति और अपूर्ति के जाल मे आवद्ध हो जाता है जिससे सुखकी आशा और दु ख का भय स्वत. उत्पन्न होता है, जो निर्दोष प्रवृत्ति मे वाधक है। सदोष

प्रवृत्ति का परिणाम यह होता है कि वर्तमान कार्य करने की उत्कण्ठा ही दब जाती है। जो उत्साह को भग कर देती है। उत्साह भंग होते ही आलस्य तथा शिथिलता का आ जाना स्वाभाविक है। आलस्य के आते ही प्राणी अपने कर्तव्य को भूल जाता है और दूसरो के कर्तव्य की प्रतीक्षा करने लगता है, जिससे स्वार्थ-भाव पुष्ट होता है। ज्यो-ज्यो ये दोष सबल होते जाते है त्यो-त्यो निरर्थक सकल्पो का प्रवाह चलने लगता है और प्रवृति के अन्त में जो स्वत. आने वाला विश्राम है, उससे साधक वञ्चित हो जाता है। विश्राम के बिना शाति सम्भव नही है और शाति के बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति हो नही सकती। अत दोषयुक्त प्रवृत्ति से ही जीवन मे असमर्थता तथा पराधीनता आती है, जो किसी को भी प्रिय नही है।

यह नियम है कि परिस्थिति मे ही जीवन-बुद्धि होने से जडता आ आती है जिसके आते ही प्राणी इन्द्रियो के स्वभाव मे आबद्ध हो जाता है। इन्द्रियो के स्वभाव मे आबद्ध होते ही वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता उत्पन्न हो जाती है जो वस्तुओ से अतीत के जीवन की जिज्ञासा को शिथिल कर देती है। यद्यपि जिज्ञासा प्राणी मे स्वभावसिद्ध है परन्तु इन्द्रिय-जन्य स्वभाव से तादात्म्य होने के कारण इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव चित्त पर अङ्कित हो जाता है जिससे वह बुद्धि-जन्य ज्ञान का अनादर करने लगता है। ज्यो-ज्यो प्राणी बुद्धिजन्य ज्ञान का अनादर करता है त्यो-त्यो इन्द्रियजन्य ज्ञान का प्रभाव बढता जाता है। ज्यो-ज्यो इन्द्रियजन्य ज्ञान का प्रभाव बढता है त्यो-त्यो वस्तुओ मे सत्यता, सुन्दरता एव सुखरूपता प्रतीत होने लगती है, जो कामनाओ को उत्पन्न करने मे समर्थ है। कामना पूर्ति-द्वारा सुख की आशा ने ही जिज्ञासा को शिथिल कर दिया है। यदि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का उपयोग वर्तमान

कार्य को पवित्र भाव से, सुन्दरता पूर्वक करने मे हो और बुद्धि-जन्य ज्ञान से शरीर आदि वस्तुओ के स्वरूप पर विचार किया जाय, तो प्रत्येक वस्तु मे परिवर्तन, क्षण-भगुरता, मलीनता आदि विकारो का दर्शन होगा। बुद्धि-जन्य ज्ञान का प्रभाव ज्यो-ज्यो सबल तथा स्थायी होता जायगा, त्यो-त्यो इन्द्रियो के ज्ञान का प्रभाव स्वत मिटता जायगा, अर्थात् इन्द्रियो के ज्ञान का उपयोग होगा पर उसका प्रभाव न रहेगा। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का प्रभाव मिटते ही राग वैराग्य मे तथा भोग योग मे बदल जावेगा और कामनानिवृत्ति द्वारा चिर शान्ति प्राप्त होगी, जो जिज्ञासा-पूर्ति मे समर्थ है, क्योकि कामनाओ की निवृत्ति मे ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है।

यह सभी जानते है कि चित्त को स्वभाव से ही रस की माँग है जिसकी प्राप्ति प्रीति से ही सम्भव है। जिस प्रकार प्राणी को सामर्थ्य तथा जीवन की माँग है, उसी प्रकार उसे प्रेम भी अभीष्ट है। पर प्रेम का उदय तभी सम्भव होगा जब तक साधक कामना उत्पत्ति के दु ख से भयभीत न हो, कामना-पूर्ति के सुख मे आबद्ध न हो और कामना-निवृत्ति की शान्ति मे रमण न करे, अपितु प्रवृत्ति मे सेवा का भाव और निवृत्ति मे शान्ति से अतीत की लालसा उत्तरोत्तर बढती रहे, क्योकि प्रीति उसी को प्राप्त होती है जिसकी दृष्टि सदैव प्रिय को रस प्रदान करने मे रहती हो, सुख की आशा मे नही। सुख की आशा ने ही प्राणी को प्रेम से विमुख किया है। यद्यपि प्रेम का आदान-प्रदान सभी को सर्वदा अत्यन्त प्रिय है, क्योकि प्रेम का रस निवृत्ति-पूर्ति से विलक्षण है, इसीसे उसके आदान-प्रदान मे अगाध अनन्त रस है, परन्तु सुख-भोग की रुचि ने नित-नूतन विरह का उदय नही होने दिया। इस दृष्टि से सुख-भोग की रुचि का अन्त होने पर ही विरह की जागृति

सम्भव है।

यह नियम है कि जो प्राणी की स्वाभाविक माग है,अर्थात् जिज्ञासा, प्रिय लालसा और शान्ति, उसकी प्राप्ति की साधना मे भी स्वाभाविकता होनी चाहिए। पर भुक्त-अभुक्त इच्छाओ के प्रभाव ने उस स्वाभाविकता का अपहरण कर लिया है। जिन इच्छाओ की पूर्ति प्राणी अनेक बार कर चुका है, उन इच्छाओ की पूर्ति की वास्तविकता को उसने नही जाना। उसका परिणाम यह हुआ है कि भुक्त इच्छाओ ने अभुक्त इच्छाओ को जन्म देकर साधक को सकल्प-विकल्पो के द्वन्द्व मे आवद्ध कर दिया है।

यदि साधक सावधानीपूर्वक इच्छापूर्ति की वास्तविकता को जानने का प्रयास करता तो उसे भली-भाँति ज्ञात हो जाता कि इच्छाओ की पूर्ति मे सुख कितना है और परिणाम मे पराधीनता, जडता एव शक्तिहीनता कितनी है। इच्छा-पूर्ति के परिणाम का प्रभाव ज्यो-ज्यो सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यो-त्यो इच्छा-पूर्ति की दासता स्वत मिटती जाती है। जिस काल मे साधक सर्वांश मे उस दासता से मुक्त हो जाता है, उसी काल मे इच्छापूर्ति का प्रभाव मिट जाता है, जिसके मिटते ही साधन मे स्वत स्वाभाविकता आ जाती है।

कामना-पूर्ति के सुख का प्रभाव रहते हुए साधक जब बल-पूर्वक शान्ति एव जिज्ञासा तथा प्रिय लालसा को जागृत करने का प्रयास करता है तव सफल नही होता, कारण कि भुक्त इच्छाओ के सुख के प्रभाव ने चित्त को अशुद्ध कर दिया है। अत चित्त के अशुद्ध रहते हुए शान्ति, जिज्ञासा एव लालसा की जागृति सम्भव नही है।

जब तक साधक वस्तु, व्यक्ति आदि के आश्रय के बिना रह नही सकता तब तक चित्तशुद्ध हो नही सकता और जब तक

वस्तुओ के स्वरूप को जानकर सत्य की खोज नही करता तव तक वस्तु आदि के आश्रय से रहित नही हो सकता। इस दृष्टि से सत्य की खोज मे ही असत्य का त्याग और असत्य के त्याग मे ही चित्त की शुद्धि निहित है।

प्राप्त विवेक के प्रकाश मे साधक वस्तुओ के वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयास किये विना ही वलपूर्वक चित्त को वस्तुओ से हटाना चाहता है, अथवा यो कहो कि चित्त मे जो वस्तुओ का अस्तित्व अङ्कित है उसे निकालना चाहता है पर सफल नही होता। उसका एकमात्र कारण यह है कि वलपूर्वक जिसे दवाया जाता है वह कभी न कभी निकल ही जाता है, क्योकि श्रम के वाद विश्राम अनिवार्य है। इसी कारण दवा हुआ चित्त साधक के अधीन नही रहता। कभी साधक चित्त को दवाता है और कभी चित्त साधक को दवाता है। साधक और चित्त के मध्य सघर्ष उस समय तक चलता ही रहता है जव तक साधक विवेकपूर्वक वस्तुओ की वास्तविकता को जान, वस्तुओ से अतीत के जीवन से नित्य सम्वन्ध तथा उससे स्वरूप की एकता स्वीकार नही कर लेता।

वस्तुओ से अतीत के जीवन से नित्य सम्वन्ध स्वीकार करते ही साधक मे स्वभाव से ही उसके प्राप्त करने की उत्कट लालसा जागृत होती है, जिसके होते ही चित्त को वस्तुओ से हटाने का प्रयास नही करना पडता, अपितु चित्त स्वत हट जाता है। यह नियम है कि असत् को असत् जान लेने पर सत् की खोज स्वत जागृत होती है। ज्यो-ज्यो सत् की खोज सवल तथा स्थायी होती जाती है त्यो-त्यो असत् से सम्वन्ध तथा असत् की कामना अपने आप मिटती जाती है, जिसके मिटते ही चित्त स्वभाव से ही असत् से विमुख होकर सत् से अभिन्न हो जाता है। परन्तु असत्

को असत् जाने बिना असत् से चित्त को हटाने का प्रयास निरर्थक ही सिद्ध होता है। अत असत् को असत् जानकर ही सत् की खोज करनी चाहिए, कारण कि असत् के ज्ञान मे ही सत् की खोज करने की सामर्थ्य निहित है।

वर्तमान कार्य ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है। इस रहस्य को जान लेने पर चित्त स्वभाव से ही वर्तमान कार्य मे लग जाता है। चित्त पर दबाव डालकर उसे लगाना नही पडता है। यह नियम है कि वर्तमान कार्य ठीक होने पर बिगडे हुए भूत का परिणाम मिट सकता है और भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। इस दृष्टि से वर्तमान कार्य ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है। वर्तमान बिगडने से भविष्य कभी सुन्दर नही हो सकता। प्राकृतिक नियम के अनुसार वर्तमान का परिणाम ही भविष्य होता है। इस दृष्टि से साधक को वर्तमान कार्य बडी ही सुन्दरतापूर्वक, पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिए।

आवश्यक कार्य की पूर्ति और अनावश्यक कार्य के त्याग मे ही शान्ति निहित है, क्योकि आवश्यक कार्य न करने से और अनावश्यक कार्य चित्त मे जमा रखने से ही अशाति रहती है। अत आवश्यक कार्य कर डालने पर और अनावश्यक कार्य का त्याग करने से चित्त स्वत शात हो जाता है।

सत्य की खोज, प्रिय-लालसा, शाति तथा वर्तमान कार्य का आदर, इन चारो की ओर प्रगति होने पर तो चित्त साधक के आधीन रहता है। इनके अतिरिक्त किसी मे भी यदि चित्त को लगाना चाहे, तो चित्त स्वभाव से लग नही सकता और अस्वाभाविकता से अर्थात् बलपूर्वक लगाया हुआ चित्त कभी स्थिर नही रह सकता। यहाँ तक कि साधारण दैनिक कार्यों मे तो श्रमपूर्वक दबाव डालकर जब चित्त को लगाना पड़ता है तब उसका परिणाम यह होता है कि चित्त मे उत्तरोत्तर नीरसता, मलिनता

और शक्ति-हीनता बढती जाती है, जिससे कार्य के अन्त मे भी चित्त स्थिर नही हो पाता। स्थिरता के विना चित्त शात तथा प्रसन्न तो हो ही नही सकता।

यद्यपि प्रत्येक कार्य के अन्त मे स्थिरता तो स्वभाव से ही आती है पर वह स्थिरता इतनी निर्जीव हो गई है कि उसमे चित्त शात नही हो पाता, कारण कि कार्य मे प्रवृत्ति आसक्तिपूर्वक होती है। यह नियम है कि जो कार्य जिस भाव से किया जाता है अन्त मे उसका परिणाम भी वही होता है। अत आसक्तिपूर्वक किया हुआ कार्य आसक्ति को ही दृढ करता है, जिससे कार्य के अन्त मे चित्त मे स्वाभाविक स्थिरता नही आती। प्राकृतिक नियम के अनुसार तो प्रत्येक आवश्यक कार्य आसक्ति-निवृत्ति का साधन है, किन्तु स्वार्थभाव ने उसे नवीन राग की उत्पत्ति का हेतु बना दिया है। यदि चित्त शुद्ध करना है तो प्रत्येक कार्य स्वार्थभाव को त्याग, सावधानीपूर्वक करना होगा, जिससे विद्यमान राग की निवृत्ति हो जायगी और नवीन राग उत्पन्न न होगा। रागरहित होते ही द्वेष स्वत मिट जायगा, जिसके मिटते ही हृदय मे स्नेह की वृद्धि होगी। स्नेह की वृद्धि से चित्त की नीरसता तथा खिन्नता मिट जायगी, जिसके मिटते ही चित्त शात तथा प्रसन्न हो जायगा। ज्यो-ज्यो चित्त मे शाति तथा प्रसन्नता बढती जायगी त्यो-त्यो चित्त स्वस्थ होता जायगा। चित्त के स्वस्थ होते ही जो करना है वह स्वत होने लगेगा और जो नही करना है उसकी उत्पत्ति ही न होगी, अर्थात् चित्त निर्दोष हो जायगा। निर्दोषता आते ही चित्त मे से वस्तुओ का आश्रय स्वत मिट जायगा और सत्य की खोज उदित होगी, जो समस्त कामनाओ को खा जायगी। कामनाओ का अन्त होते ही निरर्थक सकल्प स्वत मिट जायगे और आव-

श्यक सकल्प अपने आप पूरे हो जायगे, पर सकल्प पूर्ति का सुख चित्त मे अङ्कित न होगा, जिससे निर्विकल्पता स्वभाव से ही आ जायगी जिसके आते ही जो हो रहा है उसी मे अखण्ड प्रसन्नता सुरक्षित रहेगी। अनुकूलता की दासता तथा प्रतिकूलता का भय मिट जायगा। निर्भय होते ही चिर विश्राम, अगाध-प्रीति, निस्सन्देहता स्वत प्राप्त होगी जो वास्तविक जीवन है। अत साधक को बडी ही सावधानीपूर्वक सब प्रकार के प्रलोभन तथा भय को त्याग, चित्त शुद्ध करने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिये।

१२—५—५६

११

भय तथा प्रलोभन से मुक्ति

[भय तथा प्रलोभन मे आबद्ध होना ही चित्त की अशुद्धि है ।

वस्तु व्यक्ति आदि के वियोग के भय से ही चित्त अशुद्ध होता है । यद्यपि इनका वियोग स्वाभाविक है, परन्तु उनके वियोग मे जो नित्य योग स्वत सिद्ध है उसकी ओर अग्रसर न होने से प्राणी व्यर्थ ही भयभीत होता है ।

वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता मे प्राणी आवद्ध हो गया है उन्हे अपना मानकर, वह अनेक वस्तु, व्यक्ति आदि की आवश्यकता अनुभव करने लगता है । सम्वन्ध तथा विश्वास के आधार पर वस्तु, व्यक्ति आदि से एकता का भाव होता है । वस्तुओ के स्वरूप का ज्ञान होने पर उनका विश्वास मिट जाता है । वस्तुओ का विश्वास मिटते ही लोभ, मोह आदि सभी दोष मिट जाते हैं । इन दोषो के मिटते ही हानि का भय और लाभ का प्रलोभन, वियोग का भय और सयोग का प्रलोभन स्वत मिट जाता है ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

भय तथा प्रलोभन मे आबद्ध होमा ही चित्त की अशुद्धि है । अत चित्तशुद्धि के लिए इन दोनो का अन्त करना होगा । अब विचार यह करना है कि भय तथा प्रलोभन की उत्पत्ति ही क्यो होती है ? जव हमारी प्रसन्नता किसी और पर,अर्थात् जो अपना नही है अथवा अपने से भिन्न है, उस पर निर्भर हो जाती है, तब

अनेक प्रकार के भय तथा प्रलोभन उत्पन्न हो जाते है, जो चित्त को अशुद्ध कर देते हैं।

वस्तुओ की ममता, विश्वास मे विकल्प, विवेक का अनादर, इन तीन कारणो से ही समस्त दोषो की उत्पत्ति होती है। यद्यपि कोई भी वस्तु प्राकृतिक नियम के अनुसार व्यक्तिगत नही है, क्योकि किसी भी वस्तु का समष्टि शक्तियो तथा सृष्टि से विभाजन नही हो सकता, परन्तु प्राणी प्रमादवश काल्पनिक भेद स्वीकार कर, वस्तुओ को अपनी मान लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो अपना है उसे अपना नही मान पाता और जो अपना नही है उसे अपना मान बैठता है। जो अपना है उसे अपना न मानना उससे मानी हुई भिन्नता स्वीकार करना है और जो अपना नही है उसे अपना मानना मानी हुई एकता स्वीकार करना है। मानी हुई भिन्नता ने अपने से अपनी प्रीति नही होने दी और मानी हुई एकता से अनेक प्रकार की आसक्तिया उत्पन्न हो गईं, जिन्होने प्राणी को पराधीन बना दिया, जडता मे आबद्ध कर दिया, जिससे अनेक प्रकार के भय तथा प्रलोभन उत्पन्न हो गए। जब तक मानी हुई एकता और मानी हुई भिन्नता का अन्त न कर दिया जाय, तब तक प्रलोभन से मुक्त होना सम्भव नही है। इन दोनो मे से किसी एक का अन्त होने पर दोनो का अन्त हो जाता है, क्योकि मानी हुई एकता से ही अपने से मानी हुई भिन्नता की उत्पत्ति होती है और मानी हुई भिन्नता से ही पर से मानी हुई एकता की उत्पत्ति होती है।

क्या कोई ऐसी वस्तु है जिससे मानी हुई एकता न हो? अर्थात् सभी वस्तुओ से एकता केवल मानी हुई है। जब साधक विवेकपूर्वक किसी भी वस्तु को अपना नही मानेगा, तब सुगमतापूर्वक वस्तुओ की दासता से मुक्त हो जावेगा। वस्तुओ की

दासता से मुक्त होते ही सभी कामनाए मिट जायेगी। कामनाओ का अन्त होते ही अपने से जो अपनी दूरी तथा भेद प्रतीत होता था, वह स्वत मिट जायेगा, जिसके मिटते ही समस्त भय तथा प्रलोभन निर्मूल हो जायेगे।

वस्तुओ को अपना न मानने मे कठिनाई क्या है? 'जो जानते है उसे नही मानते', यही भूल वस्तुओ को अपना न मानने मे प्राणी को समर्थ नही होने देती। अपनी जानकारी के विरोध को सहन कर लेने से ही प्राणी वस्तुओ को अपनी मानता है। जानकारी के विरोध को सहन कर लेना ही असावधानी है, जो मृत्यु के समान है।

यद्यपि साधक के जीवन मे असावधानी के लिए कोई स्थान ही नही है, क्योकि असावधानी ही प्राणी को अमरत्व से मृत्यु, सत्य से असत्य और चेतना से जडता की ओर ले जाती है। भोगासक्ति ने ही प्राणी को असावधान बना दिया है। अत असावधानी का अन्त करने के लिए भोगासक्ति का अन्त करना होगा और भोगासक्ति का अन्त करने के लिए भोग की वास्तविकता को जानना अनिवार्य है। भोग की रुचि मे जितनी मधुरता है उतनी तो भोग-प्रवृत्ति मे भी नही है। भोग-प्रवृत्ति के आरम्भ-काल मे जितना सुख है उतना मध्य मे नही है और अन्त मे तो सुख की गध भी नही रहती, अपितु उसके परिणाम मे तो अनेक प्रकार के रोग ही उत्पन्न होते हैं। भोग की वास्तविकता का परिचय हो जाने पर भोग की रुचि योग की लालसा मे बदल जाती है। योग की लालसा ज्यो-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यो-त्यो भोग-वासनाए स्वत मिटती जाती हैं। जिस काल मे भोग-वासनाओ का अन्त हो जाता है, उसी काल मे योग की उपलब्धि हो जाती है और सभी वस्तुओ से ममता मिट जाती है,

जिसके मिटते ही वस्तुओ से अतीत के जीवन मे प्रवेश हो जाता है, जिसके होते ही निर्भयता स्वत आ जाती है । इस दृष्टि से साधक बडी ही सुगमतापूर्वक प्राप्त वस्तुओ की ममता से और अप्राप्त वस्तुओ की कामना से रहित हो सकता है, जो विवेक-सिद्ध है। अब यह विचार करना है कि भोग की रुचि की उत्पत्ति क्यो होती है ? अपने को देह मानकर इन्द्रिय-जन्य स्वभाव से तद्रूप हो जाने से भोग की रुचि उत्पन्न होती है। यदि विवेकपूर्वक अपने को देह से असग कर लिया जाय, अर्थात् देह से जो मानी हुई एकता है उसका त्याग कर दिया जाय, तो बडी ही सुगमता-पूर्वक भोग की रुचि का अन्त हो सकता है । भोग की रुचि के अन्त मे ही भोग-वासनाओ का अन्त निहित है।

अब विचार यह करना है कि देह से असग होने मे प्रतिबध क्या है? निज विवेक का अनादर और इन्द्रियो के ज्ञान का आदर ही साधक को देह से असग नही होने देता। इन्द्रियो के ज्ञान का उपयोग भले ही हो, पर आदर निज-विवेक का होना चाहिए। निज-विवेक के आदर से इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव, जो चित्त पर अकित है, वह मिट जायगा, जिसके मिटते ही भोग की रुचि स्वत नष्ट हो जायगी, जिसके होते ही देह से असगता आ जायगी, जो भोग-वासनाओ का अन्त करने मे समर्थ है। भोग-वासनाओ का अन्त होते ही अपने से जो भिन्न है उससे वियोग और अपने से अपना नित्य योग स्वत हो जाता है, जिसके होते ही चिर-शान्ति,स्वाधीनता एव अमरत्व तथा चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जायगी उसके हुए बिना साधक न तो वस्तुओं की दासता से मुक्त हो सकता है और न भय तथा प्रलोभन ही मिटा सकता है। इस दृष्टि से जिन वस्तुओ से मानी हुई एकता स्वीकार कर ली थी उनसे असगता और जो अपने से अपनी मानी हुई दूरी

तथा भेद उत्पन्न हो गया था उसका अन्त करना अनिवार्य है। इसके विना चित्त शुद्ध नही हो सकता । अपने मे अपना योग स्वाभाविक है और वस्तुओ से सयोग अस्वाभाविक है। वस्तुओ के सयोग मे ही अपना महत्त्व समझना दीनता तथा अभिमान मे आवद्ध होने के अतिरिक्त और कुछ नही है। यह नियम है कि जो अस्वाभाविक है उससे नित्य सम्वन्ध हो ही नही सकता। जिससे नित्य सम्वन्ध नही हो सकता उसमे जीवन नही है। अत जो साधक वस्तुओ से अतीत के जीवन पर विकल्परहित विश्वास कर लेता है, वह बडी ही सुगमतापूर्वक समस्त प्रलोभनो से मुक्त हो जाता है और उसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नही रहती, अपितु अपने ही मे अपने परम प्रेमास्पद को पाकर कृत-कृत्य हो जाता है। वास्तव मे अपने से अपना वियोग हो ही नही सकता, परन्तु वस्तुओ के सयोग मे जीवन-वुद्धि स्वीकार करने से ही प्राणी अपने नित्य-योग को भूल गया है, जिसे शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर लेना चाहिए अथवा यो कहे कि जो नित्य प्राप्त है उससे प्रीति हो जानी चाहिए । वह तभी सम्भव होगी जव सभी कामनाओ का अन्त कर दिया जाय, जो विवेकसिद्ध है। कामनाओ का अन्त होते ही दृष्टि बिना ही दृश्य के और चित्त विना ही आधार के शान्त हो जाता है, जो सहज योग है ।

वस्तु, व्यक्ति आदि के वियोग के भय से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। यद्यपि वस्तु, व्यक्ति आदि का वियोग स्वाभाविक है, परन्तु उनके वियोग मे जो नित्ययोग स्वत सिद्ध है उसकी ओर अग्रसर न होने से प्राणी व्यर्थ ही भयभीत होता है। यह सभी जानते है कि गहरी नीद मे प्राणी प्रिय से प्रिय वस्तु और व्यक्ति का त्याग स्वभाव से ही अपना लेता है और उस अवस्था में किसी प्रकार के दुख का अनुभव नही करता, अपितु जागृत

अवस्था मे यही कहता है कि बडे सुख से सोया। प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई भी स्मृति अनुभूति के बिना नही हो सकती। गहरी नीद मे कोई दु ख नही था, यह अनुभूति क्या साधक को वस्तु, व्यक्ति आदि से अतीत के जीवन की प्रेरणा नही देती ? अर्थात् अवश्य देती है। इस अनुभूति का आदर न करने से ही प्राणी वस्तु, व्यक्ति आदि के वियोग से भयभीत होता है। अब यदि कोई यह कहे कि गहरी नीद मे तो जडता थी, इस कारण दु ख नही प्रतीत हुआ। गहरी नीद के समान स्थिति यदि जागृत मे प्राप्त करली जाय, तो यह सन्देह निर्मूल हो जायेगा और यह स्पष्ट बोध हो जायेगा कि वस्तु, व्यक्ति आदि के बिना भी जीवन है और उस जीवन मे किसी प्रकार का अभाव नही है।

वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता मे प्राणी क्यो आबद्ध हो गया है ? अपने को वस्तु मानकर। यद्यपि वस्तु का ज्ञान जिसको है वह स्वय वस्तु नही है, परन्तु यदि वह अपने को ही वस्तु मान बैठे तो वह फिर अनेक वस्तु, व्यक्ति आदि की आवश्यकता अनुभव करने लगता है। साधक इन्द्रियो के द्वारा जिन वस्तुओ, व्यक्तियो को देखता है और बुद्धि के द्वारा जिन वस्तुओ, व्यक्तियो को जानता है और जिस ज्ञान से बुद्धि तथा इन्द्रियो को जानता है, उस ज्ञान के अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत होता है वह वस्तु है। वस्तु और ज्ञान मे अन्तर यह है कि कोई भी वस्तु अपने को अपने आप प्रकाशित नही करती, किन्तु ज्ञान अपने को और अपने से भिन्न वस्तुओ को प्रकाशित करता है। उस स्वय प्रकाश ज्ञान को वस्तु नही कह सकते। उस ज्ञान मे जिसका योग है वह बडी ही सुगमतापूर्वक गहरी नीद के समान उस स्थिति को प्राप्त कर सकता है जिसमे दु ख नही है। इतना ही नही, गहरी नीद मे जडता के कारण साधक उस ज्ञान से अभिन्न नही हो पाता, परन्तु जागृत मे अभिन्न हो सकता है। अत यह निर्विवाद सिद्ध

हो जाता है कि वस्तु, व्यक्ति आदि से अतीत के जीवन मे दु ख तथा अभाव नही है। तो फिर वस्तु, व्यक्ति आदि के वियोग से भयभीत होना केवल अपनी भूल के अतिरिक्त और क्या हो सकता है, अत भूल का अन्त होते ही वस्तु, व्यक्ति आदि के वियोग का भय स्वत मिट जाता है और उसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है । सम्बन्ध तथा विश्वास के आधार पर ही वस्तु, व्यक्ति आदि से एकता का भास होता है। वस्तुओ के स्वरूप का ज्ञान होने पर उनका विश्वास मिट जाता है और सम्बन्ध-विच्छेद होने पर वस्तुओ से भिन्नता का बोध हो जाता है। वस्तुओ का विश्वास मिटते ही लोभ, मोह आदि सभी दोष मिट जाते हैं और वस्तुओ से भिन्नता का अनुभव होते ही अमरत्व प्राप्त होता है। लोभ, मोह आदि दोषो के मिटते ही हानि का भय और लाभ का प्रलोभन, वियोग का भय और संयोग का प्रलोभन स्वत मिट जाता है।

वस्तुओ और व्यक्तियो के विश्वास और सम्बन्ध को अल्प से अल्प काल के लिए भी यदि तोड कर अनुभव किया जाय तो उस जीवन मे कितना रस है इसकी तुलना उस सुख से नही की जा सकती जो अनन्त काल से वस्तु और व्यक्तियो के सम्बन्ध से मिलता रहा है। पर ऐसा विश्वास उन्ही साधको को होना सम्भव है जो चित्त की अशुद्धि को सहन नही कर सकते। अशुद्धि-जनित सुख की लोलुपता मे आसक्त बेचारा प्राणी उस रस की लालसा ही नही कर पाता जो उसका अपना ही है।

वस्तुओ से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही प्राणी राग-रहित हो जाता है। राग-रहित होते ही योग के साम्राज्य मे स्वत प्रवेश हो जाता है, अर्थात् अनावश्यक सकल्प मिट जाते हैं, आवश्यक संकल्प कर्तृत्व के अभिमान के बिना ही स्वतः पूरे हो जाते हैं और

उन सकल्पो की पूर्ति का सुख चित्त मे अकित नही होता। उसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त मे स्वत योग हो जाता है। यदि योग से प्राप्त सामर्थ्य का व्यय पुनः भोग मे न किया जाय तो साधक का बोध के साम्राज्य मे प्रवेश हो जाता है जो अखण्ड, नित्य जीवन है। योग के साम्राज्य मे पराधीनता, असमर्थता एव अशान्ति नही रहती। बोध के साम्राज्य मे किसी प्रकार का भय तथा सन्देह नही रहता। निस्सन्देहता तथा निर्भयता आते ही अपने मे ही अपने प्रेमास्पद को प्राप्त कर प्राणी अगाध, अनन्त रस से छक जाता है, क्योकि प्रेमी और प्रेमास्पद मे प्रेम का ही आदान-प्रदान है,जो रस रूप है। प्रेम प्रेमी का जीवन और प्रेमास्पद का स्वभाव है। प्रेम के साम्राज्य मे प्रवेश होने पर किसी प्रकार का प्रलोभन शेष नही रहता, क्योकि समस्त प्रलोभन व्यक्तित्व के अभिमान से ही जीवित हैं। और प्रेम के साम्राज्य मे प्रवेश तभी होता है जब व्यक्तित्व का अभिमान गल जाय। इस दृष्टि से योग, बोध तथा प्रेम के साम्राज्य मे अशान्ति, भय एव प्रलोभन आदि सब प्रकार की अशुद्धियो का अन्त हो जाता है। बस यही चित्त की शुद्धि है।

१३—५—५६

१२

नीरसता और खिन्नता से मुक्ति

[वर्तमान नीरस हो जाने पर चित्त अशुद्ध हो जाता है। प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्रतिकूल परिस्थिति से भयभीत होना सर्वथा निरर्थक है। भयभीत होते ही प्राणी प्राप्त सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग नहीं कर पाता। अपने पर अविश्वास होने से अपने कर्तव्य पर भी विश्वास नहीं रहता।

अकर्तव्य से असफलता होती है। ऐसी दशा में किसी प्रकार यदि उसे अपने पर विश्वास हो जाय और वह प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में लग जाय, तो उसके सभी विकार मिट जावेंगे। अनुकूल परिस्थिति में जो सरसता उदारता से आती है, वही सरसता प्रतिकूल परिस्थिति में त्याग से प्राप्त होती है।

वस्तुओं के विश्वास के आधार पर ही प्राणी अपने वास्तविक विश्वास को खो बैठा है। अपने विश्वास को खोकर ही प्राणी खिन्नता, नीरसता, क्षोभ, क्रोध, आदि में आबद्ध हो गया है।

समस्त विकारों की भूमि चित्त की खिन्नता है और सब प्रकार का विकार चित्त की प्रसन्नता में निहित है। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि जीवन का आवश्यक अंग है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

वर्तमान नीरस हो जाने पर, अर्थात् सरस न रहने से भी चित्त अशुद्ध हो जाता है, कारण कि नीरसता खिन्नता को, खिन्नता क्षोभ को, क्षोभ क्रोध को और क्रोध कर्तव्य की विस्मृति को उत्पन्न करता है। यह नियम है कि कर्तव्य की विस्मृति से ही अकर्तव्य मे प्रवृत्ति होती है, जो अवनति का मूल है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान नीरस क्यो होता है ? प्राकृतिक विधान मे अपना हित निहित है—इसको भूलने से, प्रतिकूलताओ से भयभीत होकर अपने पर अविश्वास करने से, निर्बल से निर्बल प्राणी का भी कर्तव्य है और कर्तव्य-परायणता मे विकास है—इस मूल सिद्धान्त को न मानने से वर्तमान नीरस हो जाता है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय मे किसी का अहित नही है, क्योकि प्राकृतिक न्याय, क्षोभ तथा क्रोध से रहित है। इतना ही नही, अपितु उदारता तथा हित-कामना से भरपूर भी है। अत प्रतिकूल परिस्थिति से भयभीत होना सर्वथा निरर्थक है। भयभीत होते ही प्राणी प्राप्त सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग नही कर पाता। इस कारण वर्तमान नीरस हो जाता है।

अपने पर अविश्वास होने से अपने कर्तव्य पर भी विश्वास नही रहता। यह नियम है कि जिसे कर्तव्य पर विश्वास नही रहता उसे अपने लक्ष्य पर भी विश्वास नही रहता। लक्ष्य-विहीन प्राणी किंकर्त्तव्यविमूढ हो, अधीर हो जाता है, अर्थात् जीवन-सग्राम मे हार स्वीकार कर व्यर्थ चिन्तन मे आबद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से अपने पर अविश्वास समस्त अनर्थों का मूल है। अपने पर विश्वास का अर्थ देह आदि वस्तुओ का विश्वास नही है

प्रत्युत वस्तुओ पर अविश्वास होने पर ही पर अपने विश्वास होता है —और अपने पर विश्वास होने पर ही उस अनन्त पर विश्वास होता है, जो सभी का सव कुछ है। अपने पर विश्वास होने पर ही प्राकृतिक विवान मे श्रद्धा होती है। इस दृष्टि से अपने पर अपना विश्वास ही सव प्रकार के विकास का मूल है।

अपने पर विश्वास होते ही निर्वल से निर्वल प्राणी भी कर्तव्य-परायण हो सकता है, कारण कि निर्वलता अनन्त वल पर निर्भर होने की प्रेरणा देती। निर्वलता अनन्त वल की माग है और कुछ नही। यदि वल कामना-पूर्ति के लिए सावन-मात्र है, तो निर्वलता की वेदना कामना-निवृत्ति की ओर अग्रसर करने में समर्थ है। प्रत्येक प्राणी कामना-पूर्ति के पश्चात् उस स्थिति मे आता है जिस स्थिति मे वह कामना-उत्पत्ति से पूर्व था। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति का कोई विशेप महत्त्व नही है। उसकी अपेक्षा कामना-निवृत्ति का कही अविक महत्त्व है। अत. निर्वल से निर्वल प्राणी का कर्तव्य है। कर्तव्य से निराश होना केवल अपने पर अविश्वास करना है, और कुछ नही। यह नियम है कि कर्तव्य-परायणता सफलता की कुँजी है। अत जीवन-संग्राम मे हार स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नही है।

वर्तमान की नीरसता कर्तव्य से विमुख कर देती है और फिर प्राणी अकर्तव्यपूर्वक उस नीरसता को मिटाने का प्रयास करता है, परन्तु वह उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त होती है,क्योकि अकर्तव्य से असफलता ही होती है। इस दृष्टि से अकर्तव्य का सावक के जीवन मे कोई स्थान ही नही है। वर्तमान की नीरसता के कारण ही प्राणी क्षुभित और क्रोधित होता है। क्षुभित होने से प्राप्त शक्ति का ह्रास और क्रोधित होने से प्रमाद की उत्पत्ति होती है, जिससे वेचारा प्राणी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग मे

अपने को असमर्थ पाता है, अर्थात् उसे उचित मार्ग नही मिलता। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार प्राणी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग मे सर्वथा स्वाधीन है, परन्तु अधीर हो जाने के कारण जानते हुए न जानने के समान और मानते हुए न मानने के तुल्य हो जाता है। इतना ही नही, जो कर सकता है उसके करने मे भी अपने को असमर्थ मान बैठता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो न होने वाली बाते हैं उनका चिन्तन करने लगता है और जो होने वाली बातें है उनसे अपने को बचाता है। इस भयकर परिस्थिति मे ही प्राणी पागल होता है, आत्म-हत्या करने की सोचता है, दूसरो के दु ख की ओर ध्यान ही नही देता। उसका मस्तिष्क इच्छापूर्ति के चिन्तन मे ही लगा रहता है, जिससे प्राप्त परिस्थिति का अनादर होने लगता है। यह नियम है कि प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से वर्तमान सरस होता है और भविष्य आशाजनक हो जाता है। अत. प्राप्त परिस्थिति का अनादर करना सर्वथा त्याज्य है, क्योकि उससे चित्त अशुद्ध ही होता है। किन्तु वर्तमान की नीरसता से अपने प्रति ग्लानि और प्राप्त परिस्थिति से खीझ होने लगती है, जिससे प्राणी के स्वभाव मे चिडचिडापन, कटुता आदि अनेक दोष आ जाते हैं, जिससे मानसिक व्यथा उत्तरोत्तर बढती जाती है। उस व्यथा को मिटाने के लिए बेचारा प्राणी मादक द्रव्यो का सेवन करने लगता है, पर-निन्दा मे रत रहता है और अपने में मिथ्या गुणो एव वैभव का आरोप करता है, अर्थात् हवाई किले बनाता रहता है। पर इन सब मिथ्या उपचारो से उसकी मानसिक व्यथा दूर नही होती, अपितु उत्तरोत्तर बढती ही जाती है। ऐसी दशा मे किसी प्रकार यदि उसे अपने पर विश्वास हो जाय और वह प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग मे लग जाय, तो बडी ही सुगमतापूर्वक उसके सभी विकार मिट जायेगे। पर यह तभी सम्भव होगा

जब वह अपनी परिस्थिति के अनुसार किसी न किसी कार्य मे लगा रहे।

यह नियम है कि श्रमी जीवन मे संयम तथा सदाचार स्वत आने लगता है जिसके आते ही मानसिक खीझ मिटने लगती है। ज्यो-ज्यो खीझ मिटती जाती है त्यो-त्यो मन मे स्थिरता तथा शान्ति अपने आप वढती जाती है। ज्यो-ज्यो स्थिरता एव शान्ति वढती जाती है, त्यों-त्यो पराधीनता मिटती जाती है और स्वाधीनता का प्रादुर्भाव होने लगता है, जिसके होते ही वर्तमान सरस हो जाता है, जो विकास का मूल है।

नीरसता केवल प्रतिकूलता से ही नही आती और सरलता केवल अनुकूलता की देन नही है। कितनी ही भयङ्कर प्रतिकूलता क्यो न हो, यदि प्राणी हार स्वीकार नही करता और धैर्य को नही त्यागता, तो उसका वर्त्तमान नीरस नही हो सकता, अपितु प्रतिकूलता की वेदना एक नवीन सामर्थ्य को जन्म देती है, यह प्राकृतिक नियम है। इस दृष्टि से प्रतिकूल परिस्थिति तो विकास का ही साधन है, नीरसता का नही। अनुकूलता तो प्राणी को सुख मे ही आवद्ध करती है। यह नियम है कि सुख से दु.ख दव जाता है, मिटता नही। दबा हुआ दु ख वढता ही है, घटता नही। अत अनुकूलता से ही नीरसता मिटेगी, यह मान लेना भूल है। इतना ही नही, अनुकूलता जडता मे आवद्ध कर वर्तमान को नीरस वना देती है। वर्तमान को सरस वनाने मे अनुकूलता भी तभी समर्थ हो सकती है जब उसमे उदारता जनित करुणा आ जाय, अर्थात् पर दु ख को अपना ले। इस दृष्टि से सरसता का हेतु प्रत्येक परिस्थिति मे दु ख ही है। प्रतिकूल परिस्थिति का जो दु ख है, उससे यदि हम भयभीत न हो तो त्याग के द्वारा वर्त्तमान सरस वन सकता है।

अनुकूल परिस्थिति मे जो सरसता उदारता से आती है वही सरसता प्रतिकूल परिस्थिति मे त्याग से प्राप्त होती है। इस दृष्टि से अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति वर्तमान को सरस बनाने मे हेतु नही है, अपितु उनका सदुपयोग ही नीरसता मिटाने मे समर्थ है। अब यदि कोई यह कहे कि प्रतिकूलता जीवन मे आती ही क्यो है जब कि प्राकृतिक न्याय उदारतापूर्ण है ? तो उसे यह स्मरण रखना चाहिये कि अनुकूल परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा जब प्राणी सभी परिस्थितियो से अतीत के जीवन की ओर अग्रसर नही हो पाता, अपितु अनुकूल परिस्थिति की दासता मे ही आबद्ध हो जाता है, तब उस दासता से मुक्त करने के लिये प्रतिकूल परिस्थिति आती है। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय सर्वदा प्राणी के लिये हितकर ही है। अत प्राकृतिक न्याय के प्रति सदैव श्रद्धा रखनी चाहिए। इस दृष्टि से जो कुछ स्वत हो रहा है, उसमे प्राणी का कभी अहित नही है। अहित होता है प्राप्त परिस्थितियो का सदुपयोग न करने से यह नियम है कि परिस्थिति के सदुपयोग के बिना प्राणी सभी परिस्थितियो से अतीत के जीवन मे प्रवेश नही कर सकता है। अत अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से रहित, प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग मे ही प्राणी का विकास निहित है।

जब तक प्राणी अपने विकास के लिए अपने को पराधीन मानता है, तब तक उसका चित्त शुद्ध नही हो सकता, क्योकि चित्त की शुद्धि अपने ही कर्तव्य पर निर्भर है, उसके लिए किसी दूसरे के कर्तव्य की ओर नही देखना है और न अप्राप्त वस्तु, योग्यता आदि का आवाहन करना है। कर्तव्यनिष्ठ होने पर अप्राप्त योग्यता तथा वस्तु स्वत प्राप्त होती है। वस्तुओ तथा योग्यता का अभाव तभी तक रहता है, जब तक प्राणी प्राप्त वस्तु तथा योग्यता का सदुपयोग नही करता। कर्तव्यपालन के

प्रत्युत वस्तुओ पर अविश्वास होने पर ही पर अपने विश्वास होता है –और अपने पर विश्वास होने पर ही उस अनन्त पर विश्वास होता है, जो सभी का सब कुछ है। अपने पर विश्वास होने पर ही प्राकृतिक विधान में श्रद्धा होती है। इस दृष्टि से अपने पर अपना विश्वास ही सब प्रकार के विकास का मूल है।

अपने पर विश्वास होते ही निर्बल से निर्बल प्राणी भी कर्तव्य-परायण हो सकता है, कारण कि निर्बलता अनन्त बल पर निर्भर होने की प्रेरणा देती। निर्बलता अनन्त बल की माग है और कुछ नही। यदि बल कामना-पूर्ति के लिए साधन-मात्र है, तो निर्बलता की वेदना कामना-निवृत्ति की ओर अग्रसर करने मे समर्थ है। प्रत्येक प्राणी कामना-पूर्ति के पश्चात् उस स्थिति मे आता है जिस स्थिति मे वह कामना-उत्पत्ति से पूर्व था। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति का कोई विशेष महत्त्व नही है। उसकी अपेक्षा कामना-निवृत्ति का कही अधिक महत्त्व है। अत निर्बल से निर्बल प्राणी का कर्तव्य है। कर्तव्य से निराश होना केवल अपने पर अविश्वास करना है, और कुछ नही। यह नियम है कि कर्तव्य-परायणता सफलता की कुंजी है। अत जीवन-सग्राम मे हार स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नही है।

वर्तमान की नीरसता कर्तव्य से विमुख कर देती है और फिर प्राणी अकर्तव्यपूर्वक उस नीरसता को मिटाने का प्रयास करता है, परन्तु वह उत्तरोत्तर वृद्धि को ही प्राप्त होती है,क्योंकि अकर्तव्य से असफलता ही होती है। इस दृष्टि से अकर्तव्य का साधक के जीवन मे कोई स्थान ही नही है। वर्तमान की नीरसता के कारण ही प्राणी क्षुभित और क्रोधित होता है। क्षुभित होने से प्राप्त शक्ति का ह्रास और क्रोधित होने से प्रमाद की उत्पत्ति होती है, जिससे बेचारा प्राणी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग मे

अपने को असमर्थ पाता है, अर्थात् उसे उचित मार्ग नही मिलता। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार प्राणी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग मे सर्वथा स्वाधीन है, परन्तु अधीर हो जाने के कारण जानते हुए न जानने के समान और मानते हुए न मानने के तुल्य हो जाता है। इतना ही नही, जो कर सकता है उसके करने मे भी अपने को असमर्थ मान बैठता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो न होने वाली बातें है उनका चिन्तन करने लगता है और जो होने वाली बातें है उनसे अपने को बचाता है। इस भयकर परिस्थिति मे ही प्राणी पागल होता है, आत्म-हत्या करने की सोचता है, दूसरो के दु ख की ओर ध्यान ही नही देता। उसका मस्तिष्क इच्छापूर्ति के चिन्तन मे ही लगा रहता है, जिससे प्राप्त परिस्थिति का अनादर होने लगता है। यह नियम है कि प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से वर्तमान सरस होता है और भविष्य आशाजनक हो जाता है। अत प्राप्त परिस्थिति का अनादर करना सर्वथा त्याज्य है, क्योकि उससे चित्त अशुद्ध ही होता है। किन्तु वर्तमान की नीरसता से अपने प्रति ग्लानि और प्राप्त परिस्थिति से खीझ होने लगती है, जिससे प्राणी के स्वभाव मे चिडचिडापन, कटुता आदि अनेक दोष आ जाते हैं, जिससे मानसिक व्यथा उत्तरोत्तर बढती जाती है। उस व्यथा को मिटाने के लिए बेचारा प्राणी मादक द्रव्यो का सेवन करने लगता है, पर-निन्दा मे रत रहता है और अपने मे मिथ्या गुणो एव वैभव का आरोप करता है, अर्थात् हवाई किले बनाता रहता है। पर इन सब मिथ्या उपचारो से उसकी मानसिक व्यथा दूर नही होती, अपितु उत्तरोत्तर बढती ही जाती है। ऐसी दशा मे किसी प्रकार यदि उसे अपने पर विश्वास हो जाय और वह प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग मे लग जाय, तो बडी ही सुगमतापूर्वक उसके सभी विकार मिट जायेंगे। पर यह तभी सम्भव होगा

जब वह अपनी परिस्थिति के अनुसार किसी न किसी कार्य मे लगा रहे।

यह नियम है कि श्रमी जीवन मे संयम तथा सदाचार स्वत आने लगता है जिसके आते ही मानसिक खीझ मिटने लगती है। ज्यो-ज्यों खीझ मिटती जाती है त्यो-त्यो मन मे स्थिरता तथा शान्ति अपने आप बढती जाती है। ज्यो-ज्यो स्थिरता एव शान्ति बढती जाती है, त्यो-त्यो पराधीनता मिटती जाती है और स्वाधीनता का प्रादुर्भाव होने लगता है, जिसके होते ही वर्तमान सरस हो जाता है, जो विकास का मूल है।

नीरसता केवल प्रतिकूलता से ही नही आती और सरलता केवल अनुकूलता की देन नही है। कितनी ही भयङ्कर प्रतिकूलता क्यो न हो, यदि प्राणी हार स्वीकार नही करता और धैर्य को नही त्यागता, तो उसका वर्त्तमान नीरस नही हो सकता, अपितु प्रतिकूलता की वेदना एक नवीन सामर्थ्य को जन्म देती है, यह प्राकृतिक नियम है। इस दृष्टि से प्रतिकूल परिस्थिति तो विकास का ही साधन है, नीरसता का नही। अनुकूलता तो प्राणी को सुख मे ही आबद्ध करती है। यह नियम है कि सुख से दुख दब जाता है, मिटता नही। दबा हुआ दुख बढता ही है, घटता नही। अत अनुकूलता से ही नीरसता मिटेगी, यह मान लेना भूल है। इतना ही नही, अनुकूलता जडता मे आबद्ध कर वर्तमान को नीरस बना देती है। वर्तमान को सरस बनाने मे अनुकूलता भी तभी समर्थ हो सकती है जब उसमे उदारता जनित करुणा आ जाय, अर्थात् पर दुख को अपना ले। इस दृष्टि से सरसता का हेतु प्रत्येक परिस्थिति मे दुख ही है। प्रतिकूल परिस्थिति का जो दुख है, उससे यदि हम भयभीत न हो तो त्याग के द्वारा वर्त्तमान सरस बन सकता है।

अनुकूल परिस्थिति मे जो सरसता उदारता से आती है वही सरसता प्रतिकूल परिस्थिति मे त्याग से प्राप्त होती है। इस दृष्टि से अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति वर्तमान को सरस बनाने मे हेतु नही है, अपितु उनका सदुपयोग ही नीरसता मिटाने मे समर्थ है। अब यदि कोई यह कहे कि प्रतिकूलता जीवन मे आती ही क्यो है जब कि प्राकृतिक न्याय उदारतापूर्ण है ? तो उसे यह स्मरण रखना चाहिये कि अनुकूल परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा जब प्राणी सभी परिस्थितियो से अतीत के जीवन की ओर अग्रसर नही हो पाता, अपितु अनुकूल परिस्थिति की दासता मे ही आबद्ध हो जाता है, तब उस दासता से मुक्त करने के लिये प्रतिकूल परिस्थिति आती है। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय सर्वदा प्राणी के लिये हितकर ही है। अत प्राकृतिक न्याय के प्रति सदैव श्रद्धा रखनी चाहिए। इस दृष्टि से जो कुछ स्वत हो रहा है, उसमे प्राणी का कभी अहित नही है। अहित होता है प्राप्त परिस्थितियो का सदुपयोग न करने से यह नियम है कि परिस्थिति के सदुपयोग के बिना प्राणी सभी परिस्थितियो से अतीत के जीवन मे प्रवेश नही कर सकता है। अत अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से रहित, प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग मे ही प्राणी का विकास निहित है।

जब तक प्राणी अपने विकास के लिए अपने को पराधीन मानता है, तब तक उसका चित्त शुद्ध नही हो सकता, क्योकि चित्त की शुद्धि अपने ही कर्तव्य पर निर्भर है, उसके लिए किसी दूसरे के कर्तव्य की ओर नही देखना है और न अप्राप्त वस्तु, योग्यता आदि का आवाहन करना है। कर्तव्यनिष्ठ होने पर अप्राप्त योग्यता तथा वस्तु स्वत प्राप्त होती है। वस्तुओ तथा योग्यता का अभाव तभी तक रहता है, जब तक प्राणी प्राप्त वस्तु तथा योग्यता का सदुपयोग नही करता। कर्तव्यपालन के

लिए सामर्थ्य देना उस अनन्त का विधान है, साधक को तो केवल प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय करना है। अत बल के सदुपयोग तथा विवेक के आदर में अप्राप्त की प्राप्ति निहित है। विवेक के अनादर तथा बल के दुरुपयोग से ही प्राणी पराधीन हो गया है। यह पराधीनता उसकी अपनी बनाई हुई भूल है। यह नियम है कि भूल को भूल जान लेने पर भूल स्वत मिट जाती है। कर्तव्यपालन प्रत्येक परिस्थिति मे सम्भव है। कर्तव्य-निष्ठ होते ही समाज का सहयोग, तथा प्राकृतिक विधान की अनुकूलता स्वत. प्राप्त होती है। प्राणी अपने अकर्तव्य से ही वर्तमान को नीरस बना लेता है। अभाव की वेदना मे अभाव का अभाव करने की सामर्थ्य है। वेदना और नीरसता मे एक बड़ा भेद है। नीरसता खिन्नता प्रदान कर क्षुब्ध कर देती है, जिससे प्राणी भयभीत होकर कर्तव्य से च्युत हो जाता है, किन्तु वेदना ज्यो-ज्यो सबल होती है, त्यो-त्यो प्राणी मे उत्कण्ठा तथा उत्साहपूर्वक कर्तव्य-परायणता आती है और ज्यो-ज्यों कर्तव्य-परायणता आती है, त्यो-त्यो आवश्यक सामर्थ्य स्वत आती है। आए हुए सामर्थ्य के सदुपयोग से प्राणी स्वाधीनता और निस्सन्देहता प्राप्त कर लेता है। स्वाधीनता तथा निस्सन्देहता आने पर नित्य, चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

प्रतिकूल परिस्थिति भोग मे भले ही बाधक हो, पर योग में नही। इस दृष्टि से प्रतिकूलता का भय सत्य के जिज्ञासु साधक के लिए कुछ अर्थ नही रखता, अपितु सत्य की खोज में सहयोग ही देता है। प्रतिकूलता से भय उन्ही प्राणियो को होता है, जो वस्तुओ से अतीत के जीवन मे विश्वास नही करते। वस्तुओ के विश्वास के आधार पर ही प्राणी अपने वास्तविक विश्वास को खो बैठा है। अपने विश्वास को खोकर ही बेचारा प्राणी खिन्नता, नीरसता, क्षोभ, क्रोध आदि मे आबद्ध हो गया है।

इस दृष्टि से अपने विश्वास को सुरक्षित रखने के लिये वस्तुओ की दासता से मुक्त होना अनिवार्य है। जो अपने पर विश्वास कर सकता है, उसकी प्राकृतिक न्याय मे श्रद्धा हो सकती है और वही अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर सब प्रकार से अभय हो सकता है। यह नियम है कि निर्भय प्राणी का ही वर्तमान सरस होता है और जिसका वर्तमान सरस होता है वही विकास की ओर अग्रसर होता है।

समस्त विकारो की भूमि चित्त की खिन्नता है और सब प्रकार का विकास चित्त की प्रसन्नता मे निहित है। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि जीवन का आवश्यक अग है। वह तभी सम्भव होगी जब प्राणी कामना-अपूर्ति के भय और कामना-पूर्ति की दासता से रहित होकर कामना-निवृत्ति की शान्ति से असग हो जाय। यही प्राणी का परम पुरुषार्थ है, जो प्रत्येक परिस्थिति मे सम्भव है।

१५—४—५६

जो हो रहा है उस पर यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिसे हम उत्पत्ति कहते हैं वह किसी का विनाश है और जिसे हम विनाश कहते हैं वह किसी की उत्पत्ति है। उत्पत्ति-विनाश के क्रम मे ही स्थिति का भास होता है। उसी के आधार पर जब हम किसी वस्तु की सत्यता अथवा उसका अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं तब चित्त मे उन वस्तुओ का राग अङ्कित हो जाता है जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। राग की भूमि मे ही समस्त कामनाए उत्पन्न होती है उनकी अपूर्ति में प्राणी क्षुभित होता है, अभाव का अनुभव करता है जिससे प्रसन्नता भङ्ग हो जाती है। कामनाओ की पूर्ति मे प्राणी सुख का अनुभव करता है और जिन वस्तुओ से कामना की पूर्ति होती है उन वस्तुओ के आधीन हो जडता मे आबद्ध हो जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि वह अपने अस्तित्व को ही भूल जाता है और अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो जाते हैं।

इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा जो कुछ प्रतीत हो रहा है, क्या उसमे सतत परिवर्तन नही है ? अर्थात् अवश्य है। तो फिर किसी भी वस्तु के अस्तित्व को उसी रूप मे स्वीकार करना जिस रूप मे इन्द्रियो के द्वारा प्रतीत हो रहा है, क्या प्रमाद नही है ? अर्थात् अवश्य है। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु की स्थिति सिद्ध नही होती। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नही होती, उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना चित्त को अशुद्ध करना है। उसी का परिणाम यह हुआ है कि प्राणी लोभ, मोह आदि विकारो मे आबद्ध हो गया है। लोभ मे आबद्ध होने से ही सग्रह की रुचि उत्पन्न हो गई है और सग्रह से ही जीवन मे जडता आ गई है, जिसने परिवर्तनशील वस्तुओ का महत्व इतना बढ़ा दिया है कि

जिन वस्तुओं का उपयोग प्राणियो की सेवा मे था उनका प्रयोग उसमे न करके वह उनके द्वारा सिक्को का ही सग्रह करने लगा है, जिसने परस्पर अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न कर दिए है जो सघर्ष का मूल है। इतना ही नही, वस्तु मे ही जीवन-बुद्धि हो गयी है जिससे प्राणी अपनी चेतना से ही अपने को विमुख कर बैठा है और मोह मे आबद्ध हो गया है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार लोभ दरिद्रता का कारण है और मोह भेद को उत्पन्न करता है। भेद सीमित अहम्‌भाव को पुष्ट करता है और दरिद्रता अभाव को जन्म देती है, जिससे प्राणी के चित्त मे न तो प्रसन्नता रहती है और न निर्भयता। प्राकृतिक विधान मे वस्तुओ की न्यूनता नही है, कारण कि प्रत्येक वस्तु अनन्त है। ऐसा कोई बीज नही जिसमे अनेक वृक्ष न विद्यमान हो, अर्थात् कोई गणना ही नही कर सकता कि प्रत्येक दाने मे से कितने दाने निकल सकते हैं। इतना ही नही, 'कुछ नही' से ही 'सब कुछ' उत्पन्न होता है। तो फिर जीवन मे आवश्यक वस्तुओ का अभाव क्यो? अर्थात्, अभाव नही होना चाहिए। परन्तु लोभ ने उदारता का अपहरण कर लिया और सग्रह को जन्म दिया। उदारता के बिना सर्व-हितकारी सद्भावनाएँ सुरक्षित नही रहती, सर्व-हितकारी भाव के बिना कोई भी प्राणी कर्त्तव्य-निष्ठ नही हो सकता, कर्त्तव्य-परायणता के बिना न तो परस्पर मे स्नेह ही रहता है और न आवश्यक वस्तुए प्राप्त होती है। इस दृष्टि से वस्तुओ के महत्व ने प्राणी को वस्तुओ से भी वचित किया और चिन्मय जीवन से भी विमुख कर दिया।

यह नियम है कि जिससे जितना अधिक हित होता है, उसको प्रकृति के विधान से उतनी ही अधिक सामर्थ्य प्राप्त होती है। इस दृष्टि से सामर्थ्य का अभाव केवल स्वार्थ-भाव तथा प्राप्त

१३

स्थिरता, प्रसन्नता और निर्भयता की आवश्यकता

[चित्त शुद्धि के विना न तो चित्त मे स्थिरता ही आती है और न प्रसन्नता तथा निर्भयता ।

जो हो चुका है उसकी स्मृति और उसका सम्बन्ध चित्त मे अङ्कित है। पर जिस वस्तु की स्मृति है वह वस्तु अव उस रूप में नही है। जो वस्तुए नही हैं उनके अस्तित्व को स्वीकार करने मे निज अनुभूति का विरोध है। इस विरोध के अनादर से चित्त अशुद्ध हो जाता है।

जो हो रहा है उस पर यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट है कि जिसे हम उत्पत्ति कहते है वह किसी का विनाश है और जिसे हम विनाश कहते हैं वह किसी की उत्पत्ति है। उसीके आधार पर जव हम किसी वस्तु का अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं तव चित्त मे उन वस्तुओ का राग अङ्कित हो जाता है जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। राग की भूमि मे ही समस्त कामनायें उत्पन्न होती हैं। उसीका परिणाम यह हुआ है कि प्राणी लोभ, मोह आदि विकारो मे आवद्ध हो गया है। लोभ मे आवद्ध होने से ही सग्रह की रुचि उत्पन्न हो गई है और सग्रह से ही जीवन मे जडता आ गई है। इतना ही नही, वस्तु मे ही जीवन-वुद्धि हो गई है जिससे प्राणी अपनी चेतना से ही अपने को विमुख कर वैठा है और मोह मे आवद्ध हो गया है।

यदि अप्राप्त वस्तुओ के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया जाय और

प्राप्त वस्तुओ से हम निर्भय होजाय तो बडी ही सुगमतापूर्वक चित्त स्थिर हो सकता है ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

चित्तशुद्धि के बिना न तो चित्त मे स्थिरता ही आती है और न प्रसन्नता तथा निर्भयता । स्थिरता के बिना न तो प्राणी शाति ही पाता है और न किसी कार्य की ही सिद्धि होती है । प्रसन्नता के बिना न तो क्षोभ का ही अन्त होता है और न नित-नव-उत्साह की जागृति होती है। निर्भयता के बिना न तो आवश्यक शक्ति का विकास ही होता है और न प्राप्त शक्ति का सदुपयोग ही। इस दृष्टि से चित्त मे स्थिरता, प्रसन्नता एवं निर्भयता का होना जीवन की सार्थकता के लिए परम आवश्यक है । पर वह तभी सम्भव होगा जब प्राणी अपनी अनुभूति का आदर करने मे समर्थ हो, जो जानता है उसका अनादर न करे, अर्थात् उसके ज्ञान और जीवन मे एकता हो जाय । ज्ञान और जीवन की एकता मे ही चित्त की शुद्धि निहित है। चित्त शुद्ध होते ही उसमे स्थिरता, प्रसन्नता तथा निर्भयता स्वत आ जायगी ।

अब विचार यह करना है कि जो हो चुका है और जो हो रहा है उसका प्रभाव चित्त पर क्या है ? जो हो चुका है उसकी स्मृति और उसका सम्बन्ध चित्त मे अङ्कित है, पर जिस वस्तु की स्मृति है वह वस्तु अब उस रूप में नही है, अर्थात् उसका वियोग हो गया है, परन्तु फिर भी उससे सम्बन्ध बना हुआ है । स्मृति और सम्बन्ध के आधार पर ही चित्त मे उन वस्तुओ का अस्तित्व अङ्कित है जो वर्त्तमान में नही । जो वस्तुएं नही हैं उनके अस्तित्व को स्वीकार करने मे निज अनुभूति का विरोध है । इस विरोध के अनादर से ही, चित्त अशुद्ध हो गया है, जिससे चित्त की स्थिरता भग हो गई है ।

जो हो रहा है उस पर यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिसे हम उत्पत्ति कहते है वह किसी का विनाश है और जिसे हम विनाश कहते हैं वह किसी की उत्पत्ति है। उत्पत्ति-विनाश के क्रम मे ही स्थिति का भास होता है। उसी के आधार पर जब हम किसी वस्तु की सत्यता अथवा उसका अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं तब चित्त मे उन वस्तुओ का राग अङ्कित हो जाता है जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। राग की भूमि मे ही समस्त कामनाएं उत्पन्न होती है उनकी अपूर्ति में प्राणी क्षुभित होता है, अभाव का अनुभव करता है जिससे प्रसन्नता भङ्ग हो जाती हैं। कामनाओ की पूर्ति मे प्राणी सुख का अनुभव करता है और जिन वस्तुओ से कामना की पूर्ति होती है उन वस्तुओ के आधीन हो जडता मे आवद्ध हो जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि वह अपने अस्तित्व को ही भूल जाता है और अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो जाते है।

इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा जो कुछ प्रतीत हो रहा है, क्या उसमे सतत परिवर्तन नही है? अर्थात् अवश्य है। तो फिर किसी भी वस्तु के अस्तित्व को उसी रूप मे स्वीकार करना जिस रूप मे इन्द्रियो के द्वारा प्रतीत हो रहा है, क्या प्रमाद नही है? अर्थात् अवश्य है। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु की स्थिति सिद्ध नही होती। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नही होती, उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना चित्त को अशुद्ध करना है। उसी का परिणाम यह हुआ है कि प्राणी लोभ, मोह आदि विकारो में आवद्ध हो गया है। लोभ मे आवद्ध होने से ही संग्रह की रुचि उत्पन्न हो गई है और सग्रह से ही जीवन मे जडता आ गई है, जिसने परिवर्तनशील वस्तुओ का महत्व इतना बढा दिया है कि

जिन वस्तुओ का उपयोग प्राणियो की सेवा मे था उनका प्रयोग उसमें न करके वह उनके द्वारा सिक्को का ही सग्रह करने लगा है, जिसने परस्पर अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न कर दिए है जो सघर्ष का मूल है। इतना ही नही, वस्तु मे ही जीवन-बुद्धि हो गयी है जिससे प्राणी अपनी चेतना से ही अपने को विमुख कर बैठा है और मोह मे आबद्ध हो गया है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार लोभ दरिद्रता का कारण है और मोह भेद को उत्पन्न करता है। भेद सीमित अहम्भाव को पुष्ट करता है और दरिद्रता अभाव को जन्म देती है, जिससे प्राणी के चित्त मे न तो प्रसन्नता रहती है और न निर्भयता। प्राकृतिक विधान मे वस्तुओं की न्यूनता नही है, कारण कि प्रत्येक वस्तु अनन्त है। ऐसा कोई बीज नही जिसमे अनेक वृक्ष न विद्यमान हो, अर्थात् कोई गणना ही नही कर सकता कि प्रत्येक दाने मे से कितने दाने निकल सकते हैं। इतना ही नही, 'कुछ नही' से ही 'सब कुछ' उत्पन्न होता है। तो फिर जीवन मे आवश्यक वस्तुओं का अभाव क्यो? अर्थात्, अभाव नही होना चाहिए। परन्तु लोभ ने उदारता का अपहरण कर लिया और सग्रह को जन्म दिया। उदारता के बिना सर्व-हितकारी सद्भावनाएँ सुरक्षित नही रहती, सर्व-हितकारी भाव के बिना कोई भी प्राणी कर्त्तव्य-निष्ठ नही हो सकता, कर्त्तव्य-परायणता के बिना न तो परस्पर मे स्नेह ही रहता है और न आवश्यक वस्तुए प्राप्त होती है। इस दृष्टि से वस्तुओ के महत्व ने प्राणी को वस्तुओ से भी वचित किया और चिन्मय जीवन से भी विमुख कर दिया।

यह नियम है कि जिससे जितना अधिक हित होता है, उसको प्रकृति के विधान से उतनी ही अधिक सामर्थ्य प्राप्त होती है। इस दृष्टि से सामर्थ्य का अभाव केवल स्वार्थ-भाव तथा प्राप्त

सामर्थ्य के दुरुपयोग मे ही निहित है। ज्यो-ज्यो स्वार्थ-भाव गलता जाता है, त्यो-त्यो प्रकृति उसे सामर्थ्यशाली बनाती है। जैसे जिन वृक्षो से दूसरे वृक्षो को पोषण मिलता है, उनकी आयु भी अपेक्षाकृत अधिक होती है और वे दूसरे वृक्षो से पोषित भी होने लगते है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राकृतिक विधान के अनुसार वे ही सुरक्षित रह सकते है जो उदार है, उदार वे ही हो सकते हैं जो निर्लोभ हैं और निर्लोभ वे ही हो सकते है जो वस्तुओ से अपना महत्व अधिक जानते है।

निर्लोभता आते ही मोह-रहित होने का सामर्थ्य भी स्वत आ जाता है, क्योकि निर्लोभता वस्तुओ मे जीवनबुद्धि नही होने देती। वस्तु मे जीवनबुद्धि विना हुए मोह की उत्पत्ति ही नही हो सकती। मोह की उत्पत्ति के विना भेद की उत्पत्ति ही सिद्ध नही होती और भेद की उत्पत्ति के बिना सीमित अहम् का भास ही नही होता। अहम्भाव के बिना काम की उत्पत्ति ही नही हो सकती और काम की उत्पत्ति के विना चित्त अशुद्ध नही हो सकता। इस दृष्टि से वस्तुओ के महत्व ने ही काम को उत्पन्न किया और उसी से अभाव की उत्पत्ति हुई। उसका परिणाम यह हुआ कि इच्छाओ की उत्पत्ति हो गई और इच्छित वस्तुओ का अभाव हो गया, अर्थात्, इच्छाओ की अपूर्ति की परिस्थिति मे आबद्ध होकर प्राणी स्थिरता, प्रसन्नता और निर्भयता से रहित हो गया, जो चित्त की अशुद्धि है।

इन्द्रियों के ज्ञान से जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है वही वस्तु बुद्धि के ज्ञान से उसी काल मे वैसी नही प्रतीत होती। इन्द्रियाँ वस्तु मे सत्यता एव सुन्दरता का भास कराती हैं, पर बुद्धि का ज्ञान उन वस्तुओ में सतत परिवर्त्तन का दर्शन कराता है। जब प्रत्येक वस्तु निरन्तर बदल रही है, तब उसके अस्तित्व को

स्वीकार करना केवल वस्तुओ के राग को ही जन्म देना है। राग से भोग की रुचि उत्पन्न होती है, भोग की रुचि से इद्रियाँ और उनके विषयों मे सबन्ध की स्थापना होती है। जब इन्द्रिया अपने विषयो मे प्रवृत्त होती हैं तब मन इद्रियो के अधीन हो जाता है। जब मन इन्द्रियो के अधीन हो जाता है तब बुद्धि मन के अधीन हो जाती है, जिसके होते ही विषयो मे सत्यता तथा सुन्दरता का भास होने लगता है। विषयो की सत्यता दृश्य के अस्तित्व को सिद्ध करने मे समर्थ होती है। दृश्य का अस्तित्व स्वीकार करते ही त्रिपुटी बन जाती है, अर्थात् समस्त दृश्य उसकी प्रतीति कराने वाली इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि और उनका द्रष्टा। जिस द्रष्टा ने बुद्धि आदि के द्वारा समस्त दृश्य को जाना है वह सर्वदा दृश्य से अतीत है। दृश्य की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार न करने पर राग का अत हो जाता है। उसका अन्त होते ही भोग की रुचि मिट जाती है और उसके मिटते ही प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त मे इद्रिया, स्वत विषयो से विमुख होकर मन मे विलीन हो जाती हैं तथा मन निर्विकल्प होकर बुद्धि मे विलीन हो जाता है, जिसके होते ही बुद्धि सम होकर त्रिपुटी का अभाव हो जाता है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

अब विचार यह करना है कि चित्त की स्थिरता भङ्ग क्यो होती है ? प्राकृतिक नियम के अनुसार तो प्रत्येक प्रवृत्ति के अत मे चित्त को स्वभाव से ही स्थिर रहना चाहिए, क्योंकि आवश्यक सकल्प की पूर्ति के पश्चात् अनावश्यक सकल्पो की निवृत्ति हो जानी चाहिए। आवश्यक सकल्प की पूर्ति और अनावश्यक सकल्प की निवृत्ति से चित्त मे स्वत स्थिरता आ जायगी, पर ऐसा क्यो नही हो पाता? उसका एकमात्र कारण यह है कि जिन वस्तुओ का वियोग हो गया है उनका भी अस्तित्व चित्त मे ज्यों

का त्यो अंकित है और जो वस्तुए प्रतीत हो रही हैं यद्यपि उनमे निरन्तर परिवर्तन हो रहा है परन्तु प्राणी परिवर्तन पर दृष्टि न रखकर उनकी सत्यता को स्वीकार कर लेता है,जिसका परिणाम यह होता है कि उन वस्तुओ से सबध की स्थापना हो जाती है। तात्पर्य यह निकला कि जिन वस्तुओ से वियोग हो चुका है,उनकी स्मृति और जिन वस्तुओ मे परिवर्तन हो रहा है उनका सम्बन्ध, अर्थात् अप्राप्त वस्तुओ की स्मृति और प्राप्त वस्तुओ की ममता चित्त को स्थिर नही होने देती। यदि अप्राप्त वस्तुओ के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया जाय और प्राप्त वस्तुओ से हम निर्मम हो जायं तो वडी ही सुगमतापूर्वक चित्त स्थिर हो सकता है।

वस्तुओ के उत्पादन तथा उनके सदुपयोग का जीवन मे भले ही कोई स्थान हो, पर उनकी ममता का जीवन मे कोई स्थान नही है और न वस्तुओ का महत्त्व अपने से अधिक स्वीकार करना है। जव साधक वस्तुओ की ममता से रहित हो जाता है तब उसमे उदारता स्वत आ जाती है, जिसके आते ही वस्तुओ का सद्व्यय अपने आप होने लगता है, वस्तुओ से प्राणियो का महत्त्व अधिक हो जाता है, जिसके होते ही साधक स्वयं जड़ता से चेतना की ओर अग्रसर हो जाता है।

जड़ता से चेतना की ओर अग्रसर होने मे किसी प्रकार की पराधीनता नही है और न कोई अभाव व विषमता है। विषमता का अंत होते ही खिन्नता सदा के लिए विदा हो जाती है, अथवा यो कहो कि अखण्ड प्रसन्नता आ जाती है। इतना ही नही, वैर-भाव तथा भय का भी अन्त हो जाता है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

चित्त की अशुद्धि से ही वस्तुओ का इतना महत्त्व वढ गया है कि साधक अपने अस्तित्व को ही भूल गया है। जो अभावरूप

है उसका भाव स्वीकार कर लिया है और जिसमे सतत परिवर्तन है उसकी स्थिति को ही सत्य मान लिया है। यदि साधक विवेकपूर्वक जो भावरूप नही है उसका अभाव स्वीकार कर ले जिसकी स्थिति नही है उससे विमुख हो जाय, तो वर्तमान मे ही चित्त शुद्धि होते ही सभी समस्याएं स्वत हल हो जायगी— ध्यानी का ध्यान अखण्ड हो जायगा, योगी योग से अभिन्न हो जायगा तथा जिज्ञासु को तत्त्व-साक्षात्कार एव प्रेमी को परम प्रेम की उपलब्धि होगी, और फिर नव प्रकार के भय का अन्त हो जायगा। फिर किसी दोष की उत्पत्ति ही न होगी, अर्थात् मन मे स्थिरता, चित्त मे प्रसन्नता और हृदय मे निर्भयता सदा के लिए निवास करेगी। पर यह तभी सम्भव होगा जब कि साधक अपनी अनुभूति का आदर कर वस्तुओ के सम्बन्ध तथा स्मृति का अन्त करने मे समर्थ हो जाय। यही चित्तशुद्धि का सुगम उपाय है।

१५—५—५६

१४

कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अन्त

[भोग की रुचि से ही कर्तृत्व के अभिमान का जन्म होता है और कर्तृत्व के अभिमान से ही भोग मे प्रवृत्ति होती है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व के कारण ही होने वाली प्रवृत्तियो का प्रभाव चित्त पर अङ्कित होता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य और वस्तु किसी भी प्राणी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नही है, सभी को समष्टि शक्तियो से प्राप्त है। यदि प्राणी मिली हुई वस्तुओ का सदुपयोग कर डाले, तो वह अभिमान रहित हो सकता है। निरभिमानता आते ही कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व स्वत मिट जाते हैं।

कर्म-सामग्री भी अपनी नही है और कर्म का फल भी अपने अधीन नही है। अत विवेक-पूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिये और जो कुछ हो उसी मे सन्तुष्ट होना चाहिए।

उद्देश्य की पूर्ति के लिये जो कार्य किया जाता है उसका राग चित्त पर अकित नही होता। उसी कार्य का राग चित्त पर अकित होता है जो सुख की आशा से प्रेरित होकर किया जाता है। इस दृष्टि से चित्त मे विद्यमान स्मृति को अकित न होने देना ही चित्तशुद्धि का सुगम उपाय है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

चित्त स्वभाव से गतिशील है, चचल नही। परन्तु उसमे जो चचलता भासती है उसका कारण उसमे इन्द्रियो के ज्ञान का प्रभाव अङ्कित होना है। यदि उस प्रभाव को विवेक पूर्वक मिटा दिया जाय तो चित्त स्वभाव से ही अपने अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर हो शान्ति पा जाता है। चित्त सदैव शान्ति तथा रस की खोज मे लगा रहता है। इसीसे अधिक काल तक किसी भी परिवर्तनशील वस्तु, अवस्था आदि मे नही ठहरता। प्राणी उसके इस स्वभाव को साधारणत चचलता मान लेता है। वास्तव मे तो वह अपने रसरूप प्रेमास्पद की खोज मे लगा है।

कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व-भाव से की हुई प्रवृत्ति का अभाव चित्त मे अङ्कित होता है। करने और भोगने की रुचि इन्द्रियो के ज्ञान मे सद्भाव होने से उत्पन्न होती है। यद्यपि प्रत्येक प्रवृत्ति का महत्त्व विद्यमान राग की निवृत्ति मे है, परन्तु प्राणी असावधानी से विद्यमान राग की निवृत्ति की तो कौन कहे, अपितु नवीन राग उत्पन्न कर लेता है, जिससे बेचारा चित्त अशुद्ध हो जाता है।

चित्त स्वरूप से अशुद्ध नही है। वह तो अनन्त की विभूति है। जब उसकी गतिशीलता उद्देश्य की ओर हो जाती है तब वह योगी को योग से, जिज्ञासु को तत्त्वज्ञान से और प्रेमी को प्रेमास्पद से अभिन्न कर देता है। इस दृष्टि से चित्त बडे ही महत्त्व की वस्तु है।

चित्त मे जो राग-द्वेष अङ्कित है वह बीती हुई घटनाओ का प्रभाव है, और कुछ नही। प्राकृतिक नियम के अनुसार परिवर्तनशील जीवन की प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ रखती है। यदि प्राणी उस अर्थ को अपनाए और घटनाओ को भूल जाय, अर्थात् उनकी सत्यता को स्वीकार न करे, तो घटनाओ से प्राप्त

प्रकाश साधन बन जाता है। परन्तु असावधानी के कारण प्राणी घटनाओ के अर्थ को भूल जाता है और घटनाओ की स्मृति को अङ्कित कर लेता है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। घटनाओ की स्मृतिमात्र को वस्तुस्थिति मान लेना भूल है। वह तो भोगे हुए सुख-दु ख का प्रभाव है, सुख-दु ख नही।

यदि प्राणी आये हुए सुख-दु ख का सदुपयोग करे और उसमे जीवन-बुद्धि की स्थापना न होने दे, तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुख-दु ख के प्रभाव से मुक्त हो सकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार उत्पत्ति और विनाश युगपद है, अर्थात् न तो उत्पत्ति मे ही स्थिरता और न विनाश मे ही सत्यता है। इस दृष्टि से सुख की उत्पत्ति मे ही सुख का विनाश और दु ख की उत्पत्ति काल मे ही दु ख का विनाश आरम्भ हो जाता है। जिस सुख-दु.ख की स्थिति ही नही है, उसके प्रभाव को चित्त मे अकित रखना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नही है। जब प्राणी चित्त में अकित स्मृति को घटना के रूप मे स्वीकार कर लेता है तब वह चित्त मे उत्पन्न हुए सकल्पो को बलपूर्वक दबाता है और चित्त की निन्दा करने लगता है, अथवा राग-जनित सकल्पो का सुखद स्वप्न देखने लगता है। अर्थात् प्रतिकूल मनोराज्यो से भयभीत होता है और रुचिकर मनोराज्य का सुख भोगता है। भोग चाहे प्रवृत्ति के आधार पर हो अथवा चित्त में अङ्कित स्मृति के आधार पर, उन दोनो से राग-द्वेष की उत्पत्ति समान ही होती है। परन्तु प्रवृत्ति के योग मे और स्मृति के भोग मे एक बडा अन्तर यह रहता है कि प्रवृत्ति के भोग का परिणाम स्पष्ट प्रतीत होने लगता है और स्मृति के द्वारा भोग का परिणाम स्पष्ट प्रतीत नही होता। इस दृष्टि से विषय-प्रवृत्ति की अपेक्षा विषय-चिन्तन कही अधिक अहितकर सिद्ध होता है। इस रहस्य को जान लेने पर साधक को चित्त

मे अकित स्मृति को मिटाने के लिये अथक प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु इस बात का ध्यान रहे कि चित्त को बलपूर्वक न दबाया जाय, अपितु विवेकपूर्वक उसमे अकित स्मृति को मिटाने का प्रयास किया जाय। स्मृति वस्तुस्थिति नही है, अपितु स्मृति मात्र है। यह जान लेने पर स्मृति स्वत मिट जायगी। अब हमे चित्त मे अकित स्मृति के वास्तविक स्वरूप के विषय मे विचार करना है। यह बात किसी भी विज्ञान से सिद्ध नही हो सकती कि जो वस्तु जिस काल मे जैसी देखी-सुनी थी वह वास्तव मे वैसी ही है, क्योकि प्रत्येक वस्तु मे निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। परन्तु स्मृति काल मे उसकी सत्यता भासती है। यदि परिवर्तन की अनुभूति के आधार पर उसकी सत्यता अस्वीकार कर दी जाय तो चित्त मे से उसका अस्तित्व निकल जायगा, जिसके निकलते ही चित्त मे स्वभाव से ही स्थिरता आ जायगी। स्थिरता के आते ही आवश्यक सामर्थ्य आ जायगी जो चित्त को शुद्ध करने मे समर्थ है।

चित्त मे जिन घटनाओ की स्मृति अकित हो गयी है यदि उन घटनाओ मे परिवर्तन-बुद्धि होती अथवा आज उन घटनाओ का आभाव है, यह बोध होता, अथवा घटनाओ मे सद्‌बुद्धि न होती तो उनकी स्मृति ही चित्त मे अकित न होती और न चित्त अशुद्ध होता परन्तु परिवर्तनशील, अभावरूप घटनाओ को प्राणी सत्य मान लेता है जो वास्तव मे केवल प्रतीति मात्र है। इस कारण चित्त मे उनकी स्मृति अङ्कित हो जाती है। जितनी सत्यता जागृत अवस्था की घटनाओ मे प्रतीत होती है और जितना उनका राग-द्वेष अङ्कित होता है, उतनी सत्यता स्वप्न मे होने वाली घटनाओ के प्रति दृढ नही होती। उसका परिणाम यह होता है कि स्वप्न मे होने वाले सुख-दुख, हानि-लाभ, जय-पराजय आदि का प्रभाव चित्त मे अधिक काल तक अकित

नही रहता, क्योंकि स्वप्न की घटना को जागृत मे मिथ्या मान लेता है और स्वप्न-द्रष्टा स्वप्न की सृष्टि को अपने से भिन्न नही मानता। मिथ्या बुद्धि तथा अभिन्नता का भाव होने से स्वप्न की घटना से चित्त मे राग-द्वेष अङ्कित नही होता अपितु अङ्कित राग-द्वेष की निवृत्ति ही होती है, अथवा यो कहो कि चित्त की दशा का बोध हो जाता है। यह नियम है जिसकी वास्तविकता का बोध हो जाता है उससे या तो एकता हो जाती है अथवा असंगता। उससे सम्बन्ध नही रहता। एकता से ही चित्त शुद्ध होता है और असगता से भी—अर्थात् एकता और असगता से चित्त शुद्ध ही होता है, अशुद्ध नही। जिस प्रकार स्वप्न मे होने वाली घटनाओ का प्रभाव घटनाओ मे मिथ्या-बुद्धि होने से,चित्त में अङ्कित नही होता, प्रत्युत कालान्तर मे उन घटनाओ की स्वत विस्मृति हो जाती है, उसी प्रकार यदि जागृत मे होने वाली घटनाओ के प्रति अभाव-बुद्धि हो जाय तो उनकी भी विस्मृति ही सकती है क्योकि स्वप्न और जागृत दोनो मे होने वाली घटनाओ का कालान्तर मे अभाव ही सिद्ध होता है। स्वप्न की घटना स्वप्न-काल मे तो जागृत के ही समान सत्य है और जागृत मे भूतकाल की घटनाएं वर्तमान मे स्वप्न मे समान ही मिथ्या है। इस दृष्टि से स्वप्न और जागृत की घटनाए समान ही अर्थ रखती हैं। परन्तु प्राणी जागृत घटना को सत्य मानकर उनके राग-द्वेप मे आबद्ध हो चित्त को अशुद्ध कर लेता है।

घटनाओ के अर्थ पर दृष्टि रखने से तो कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान हो सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक घटना प्राणी के लिए हितकर सिद्ध हो सकती है। परन्तु घटनाओ मे सद्बुद्धि रखने से तो अहित ही होता है। यदि गम्भीरतापूर्वक घटनाओ के अर्थ पर विचार किया जाय तो होने वाली घटनाए त्याग तथा प्रेम का ही पाठ पढाती है। त्याग तथा प्रेम को अपना

लेने पर राग-द्वेष स्वत मिट जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक घटना चित्तशुद्धि का साधनमात्र है, और कुछ नही। अत घटनाओ के अस्तित्व को अभावरूप जानकर उनके अर्थ को अपना लेने के लिए सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। ऐसा करने से चित्त सुगमता-पूर्वक शुद्ध हो जायगा। जो कुछ होरहा है उसकी स्मृति चित्त पर अंकित नही होती, जो कर रहे है उसी की स्मृति चित्त पर अकित होती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक वस्तु मिट रही है, पर उसका प्रभाव चित्त पर नही होता, यदि उसका प्रभाव हो जाय तो बडी सुगमता से चित्तशुद्धि होजाय। परन्तु जिन वस्तुओ का उपभोग हम कर रहे है उनका प्रभाव चित्त पर अकित होता है जो प्राणी के चित्त में वस्तुओ की स्मृति अकित कर देता है, जिससे वास्तविकता की स्मृति हो जाती है। यदि किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि की स्मृति न हो तो अपने आप उसकी स्मृति जागृत हो जाय, जो वस्तु, व्यक्ति आदि से अतीत है। वस्तुओ की स्मृति ने ही अनन्त की विस्मृति उत्पन्न कर दी है, जिससे प्राणी सब प्रकार से दीन-हीन होगया है।

भोग की रुचि से ही कर्तृत्व के अभिमान का जन्म होता है और कर्तृत्व के अभिमान से ही भोग मे प्रवृत्ति होती है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व के कारण ही होनेवाली प्रवृत्तियो का प्रभाव चित्त पर अकित होता है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। वास्तव मे जो कुछ हो रहा है वह समष्टि-शक्तियो के द्वारा ही होता है परन्तु समष्टि-शक्तियो मे कर्तृत्व का अभिमान नही है, जिस प्रकार सूर्य से ही सभी नेत्र देखते है और सूर्य से ही रूप बनता है, परन्तु सूर्य किसी भी रूप का भोग नही करता और न नेत्र से देखने का अभिमान ही करता है। परन्तु प्राणी सूर्य के द्वारा प्राप्त नेत्र को अपना मानता है और सूर्य के ही उत्पन्न किए हुए

रूप का नेत्र के द्वारा ही भोग करने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह स्वय अपने को कर्त्ता और भोक्ता मानकर सुख-दुख मे आबद्ध हो जाता है। यदि प्राणी समष्टि-शक्तियों से मिली हुई वस्तुओ को अपना न माने और उन्हे सर्व-हितकारी कार्यों मे लगा दें तो बडी सुगमतापूर्वक राग-द्वेष-रहित हो सकता है। ज्यों-ज्यो राग त्याग मे और द्वेष प्रेम मे बदलता जाता है, त्यो-त्यो चित्त स्वत शुद्ध होता जाता है।

प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य और वस्तु किसी भी प्राणी की व्यक्तिगत नही है, सभी को समष्टि-शक्तियो से प्राप्त है, अथवा यो कहो कि उस अनन्त की देन है। मिली हुई वस्तुओ को अपना मान लेना और उनके अभिमान मे आबद्ध हो जाना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नही है। यदि प्राणी मिली हुई वस्तुओ का सदुपयोग, जिससे मिली है, उसी के नाते कर डाले, तो वह बडी ही सुगमतापूर्वक अभिमान-रहित हो सकता है। निरभिमानता आते ही कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व स्वत मिट जाता है जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

कर्म-सामग्री भी अपनी नही है और कर्म का फल भी अपने अधीन नही है। केवल प्राप्त सामग्री का उपयोग करने मात्र मे प्राणी का अधिकार है। जिसने कर्म करने का सामर्थ्य दिया है, उसने विवेक के स्वरूप मे विधान भी दिया है। अत विवेक-पूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिए और जो कुछ हो उसी मे सन्तुष्ट होना चाहिए। ऐसा करने से सभी दोष स्वत मिट जायंगे और चित्त शुद्ध हो जायगा।

इद्रियो के द्वारा जो कुछ किया है उसका प्रभाव तभी तक चित्त पर अकित रहता है, जब तक प्राणी धैर्यपूर्वक, भलीभाँति, बुद्धि के द्वारा उस प्रवृत्ति की वास्तविकता को जान नही लेता।

प्रत्येक प्रवृत्ति स्वभाव से ही मिट जाती है, परन्तु उसका प्रभाव चित्त पर रह जाता है । प्रवृत्ति के अभाव का ज्ञान उस प्रभाव को, जो चित्त पर अङ्कित है, नष्ट कर देता है और तब चित्त शुद्ध हो जाता है । अत चित्त पर प्रभाव बुद्धि के ज्ञान का हो, प्रवृत्ति-जनित सुख-दु ख का नही । इन्द्रियो के ज्ञान का सदुपयोग तो वर्तमान कार्य करने मात्र मे ही है ।

जब प्राणी निस्सन्देहता पूर्वक अपने लक्ष्य का निर्णय कर लेता है और पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर उसी लक्ष्य के नाते प्रत्येक कार्य सावधानी पूर्वक करने लगता है तब प्रत्येक कार्य साधन हो जाता है और उसके अन्त मे स्वत अपने लक्ष्य के लिए उत्कट लालसा तथा जिज्ञासा जागृत होती है । इस दृष्टि से कार्यों मे भिन्नता होने पर भी उद्देश्य की एकता सुरक्षित रहती है, जिससे प्रत्येक कार्य या तो सत्य की खोज मे, अथवा प्रिय की लालसा जागृत करने मे सहयोगी हो जाता है । पर यह सम्भव तभी होता है जब साधक की दृष्टि सतत लक्ष्य पर रहे और कार्यों में ऊँची-नीची, छोटी-बडी, भली-बुरी बुद्धि न रहे । सभी कार्य एक ही उद्देश्य की पूर्ति मे साधन हो । पवित्र उद्देश्य का निर्णय हो जाने पर दूषित कार्यों का तो जन्म ही नही होता, जैसे किसी सती-साध्वी महिला का प्रत्येक कार्य पति-प्रेम मे ही विलीन होता है, वैसे ही साधक का प्रत्येक कार्य साध्य की प्रीति मे ही विलीन होता है ।

प्राणी का उद्देश्य वही हो सकता है जो सभी वस्तु, अवस्था एव परिस्थिति से अतीत हो, क्योंकि किसी भी वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व तो है ही नही । उद्देश्य वही हो सकता है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व हो । परिस्थितियाँ तो किसी राग का परिणाम हैं और उनके सदुपयोग मे ही राग-निवृत्ति की मुख्यता

है। परिस्थितियो मे जीवन-बुद्धि प्रमाद है, उद्देश्य नही। परन्तु प्राणी से भूल यह होती है कि या तो वह प्राप्त कार्य को भोग-बुद्धि से करता है, अथवा उपेक्षा-भाव से किये हुए कार्य से तो नवीन राग की उत्पत्ति होती है और उपेक्षा-भाव से कार्य करने पर कर्त्ता मे जो करने का राग विद्यमान था, उसकी निवृत्ति नही होती, क्योकि कार्य मे अधूरापन होने से उसकी वास्तविकता का ज्ञान नही होता, जिससे विद्यमान राग नष्ट नही होता। जो व्यक्ति यह सोचता है कि बडे-बडे कार्य सावधानी पूर्वक करना चाहिए और छोटे-छोटे कार्यों मे विशेष ध्यान नही देना है, उसका कोई भी कार्य पूरा नही होता। अत साधक को प्राप्त कार्य न तो भोग-बुद्धि से करना चाहिए, न उपेक्षा-भाव से और न असावधानी से, प्रत्युत अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिए, जिससे प्रत्येक कार्य सत्य की जिज्ञासा तथा प्रेमास्पद की लालसा मे विलीन हो जाय और करने के राग की भी निवृत्ति हो जाय। राग-निवृत्ति होते ही जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति स्वत हो जाती है।

उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो कार्य किया जाता है उसका राग चित्त पर अङ्कित नही होता। उसी कार्य का राग चित्त पर अङ्कित होता है जो सुख की आशा से प्रेरित होकर किया जाता है। उसी से चित्त अशुद्ध होता है। प्रेमास्पद के नाते प्रत्येक कार्य चित्तशुद्धि मे समर्थ है। इस दृष्टि से चित्त मे विद्यमान स्मृति को नाश करना और नवीन स्मृति को अङ्कित न होने देना ही चित्तशुद्धि का सुगम उपाय है।

१६-५-५६

१५

निस्संकल्पता की आवश्यकता

[व्यर्थ चिन्ता मे आबद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है। जिन वस्तुओ की प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, उन वस्तुओ का चिन्तन व्यर्थ चिन्तन है।

जिन सकल्पो का त्याग सभव नही है उनकी पूर्ति समष्टि शक्ति के द्वारा स्वत हो जाती है। कर्तृत्व के अभिमान के बिना जो सकल्प पूरे होते हैं उनमे भोग-बुद्धि की स्थापना नही होती अत जो सकल्प मिटाये नही जा सकते, उनकी पूर्ति भी सकल्प-निवृत्ति का ही साधन है। सकल्पो के त्याग से अनावश्यक सकल्प उत्पन्न नही होते और आवश्यक सकल्प पूरे होकर मिट जाते है।

निस्सकल्पता आते ही सार्थक चिन्तन स्वत उत्पन्न होता है, कारण कि निस्सकल्पता समस्त वस्तुओ से अतीत के जीवन की जिज्ञासा जागृत करती है। वह ज्यो-ज्यो सबल होती जाती है त्यो-त्यो कामनायें स्वत मिटती जाती हैं। जिस काल मे सभी कामनाए मिट जाती हैं उसी काल मे जिज्ञासा की पूर्ति अपने आप हो जाती है।

शुद्ध तथा आवश्यक सकल्पो की पूर्ति से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है। सकल्प-पूर्ति भी सकल्प-निवृत्ति के लिये ही हो, नवीन सकल्प की उत्पत्ति के लिए नही। सकल्प पूर्ति का महत्त्व मिटते ही

सकल्प अपूर्ति का भय अपने आप मिट जाता है। यदि सकल्प-पूर्ति के क्षणिक सुख को त्याग दिया जाय तो प्रत्येक साधक अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

व्यर्थ चिन्तन मे आबद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है और सार्थक चिन्तन से चित्त शुद्ध हो जाता है। अब विचार यह करना है कि व्यर्थ चिन्तन और सार्थक चिन्तन मे भेद क्या है? जिन वस्तुओ की प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, उनका चिन्तन व्यर्थ चिन्तन है और जिसकी प्राप्ति जिज्ञासा अथवा लालसा-साध्य है उसका चिन्तन सार्थक चिन्तन है। कर्म का सम्पादन प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तुओ से होता है और उसका परिणाम भी किसी न किसी परिस्थिति के रूप मे ही होता है। यह नियम है कि सभी परिस्थितियाँ उत्पत्ति-विनाश-युक्त है। इस दृष्टि से कर्म का फल नित्य नही है। प्रत्येक कर्म के मूल मे सकल्प-पूर्ति का महत्त्व है। सकल्प-पूर्ति का सुख किसी न किसी वस्तु, व्यक्ति देश, काल आदि मे ही आबद्ध करता है। इस दृष्टि से कर्म के द्वारा वस्तु, व्यक्ति, आदि की आसक्ति ही मिलती है जो प्राणी को पराधीन बना देती है और अनेक प्रकार के अभाव ही प्रदान करती है। अत. सकल्प पूर्ति का सुख अहितकर ही सिद्ध होता है।

सकल्प-पूर्ति से जो परिस्थिति बनती है वह स्वभाव से ही अपूर्ण तथा परिवर्तनशील है। अत सकल्प-पूर्ति मे जो सुख का भास है वह परिस्थिति मे नही है, अपितु सकल्प-पूर्ति-मात्र मे ही निहित है; अथवा यों कहो कि सकल्प-उत्पत्ति मे जो दु ख की अनुभूति है वह संकल्प-पूर्ति से मिट जाती है और जब तक दूसरा संकल्प उत्पन्न नही होता तब तक दु ख का भास नही होता, अर्थात्

सकल्प-पूर्ति-मात्र से सकल्प-उत्पति-जन्य दु ख दब जाता है, मिटता नही। इस दृष्टि से सकल्प-पूर्ति का महत्व सकल्प-उत्पति के दु ख मे है,सकल्प-पूर्ति मे नही। यदि साधक को सकल्प-उत्पति से पूर्व के जीवन का अनुभव हो जाय तो सकल्प-उत्पति का दु ख और पूर्ति का सुख कुछ अर्थ नही रखता, अर्थात् सुख-दु ख दोनो ही का अस्तित्व सिद्ध नही होता।

अब विचार यह करना है कि सकल्प-उत्पति से पूर्व जो जीवन है उसका अनुभव कैसे हो। प्रत्येक उत्पति के मूल मे किसी न किसी अनुत्पन्न तत्व का होना अनिवार्य है, क्योकि प्राकृतिक नियम के अनुसार उत्पति किसी से होगी। जिससे उत्पति होगी वह स्वय उत्पतिरहित होगा। यह नियम है कि जिसकी उत्पति नही होती उसका विनाश भी नही होता। अत प्रत्येक उत्पति का मूल आधार अविनाशी है। जिसका नाश नही होता, उससे देश-काल की दूरी सम्भव नही है। जिससे देश-काल की दूरी सम्भव नही है उसको अपने ही मे पा सकते है,अथवा उसकी खोज अपने ही मे हो सकती है। इस दृष्टि से सकल्प-उत्पति से पूर्व का जीवन अपने ही मे निहित है। जो अपने ही मे है उससे किसी प्रकार की दूरी तथा भेद सिद्ध नही हो सकता। जिससे भेद तथा दूरी नही है, उसकी प्राप्ति के लिए सकल्प अपेक्षित नही है। अत सकल्पो के त्याग से ही सकल्प-उत्पति से पूर्व के जीवन का अनुभव हो सकता है।

अब यदि कोई यह कहे कि सर्व सकल्पो का त्याग तो सम्भव नही है जैसे भूख, प्यास इत्यादि। जिन सकल्पो का त्याग संभव नही है उनकी पूर्ति समष्टि शक्ति के द्वारा स्वत हो जाती है। यह नियम है कि कर्तृत्व के अभिमान के बिना जो सकल्प पूरे होते हैं उनमे भोगबुद्धि की स्थापना नही होती। जिन सकल्पो मे भोग

वृद्धि नही होती उन सकल्पो की पूर्ति का सुख चित्त मे अकित नही होता और जिन सकल्पो की पूर्ति का सुख अङ्कित नही होता वे नवीन सकल्प की उत्पत्ति मे हेतु नही होते। अत जो सकल्प मिटाए नही जा सकते, उनकी पूर्ति भी सकल्प-निवृत्ति का ही साधन है। सकल्पो के त्याग से अनावश्यक सकल्प उत्पन्न नही होते और आवश्यक संकल्प पूरे होकर मिट जाते हैं। जिस प्रकार भुना हुआ दाना भूख दूर करता है, उपजता नही, उसी प्रकार संकल्पो के त्याग से प्राकृतिक नियम के अनुसार कुछ सकल्प पूरे भी होते है तो उनसे नवीन सकल्प उत्पन्न नही होते, अर्थात् निस्सकल्पता स्वभाव से ही आ जाती।

निस्सकल्पता आते ही सार्थक चिन्तन स्वत उत्पन्न होता है, कारण कि निस्सकल्पता समस्त वस्तुओ से अतीत के जीवन की जिज्ञासा जागृत करती है। वह ज्यो-ज्यो सवल होती जाती है त्यो-त्यो कामनाये स्वत मिटती जाती है। जिस काल मे सभी कामनाए मिट जाती है उसी काल मे जिज्ञासा की पूर्ति अपने आप हो जाती है, जिसके होते ही पराधीनता स्वाधीनता मे और जडता चिन्मयता मे वदल जाती है,जो वास्तविक जीवन है। देह आदि वस्तुओ से तादात्म्य स्वीकार करने पर कामनाओं की उत्पत्ति होती है। कामना-पूर्ति का प्रलोभन वस्तुओ से सम्वन्ध जोड देता है। वस्तुओ के स्वरूप का ज्ञान होने पर जिज्ञासा जागृत होती है, जो काम का अन्त कर निस्सदेहता प्रदान करने मे समर्थ है। जिस प्रकार देहाभिमान रखते हुए भोग की रुचि स्वाभाविक है उसी प्रकार देहाभिमान गल जाने पर प्रीति की लालसा स्वाभाविक है। प्रीति ऐसा अलौकिक तत्व है कि जिसकी आवश्यकता मिटाई नही जा सकती। प्रीति स्वभाव से सभी को अत्यत प्रिय है,कारण कि प्रीति रसरूप है। प्रीति का रस इतना

मधुर तथा विलक्षण है कि उससे कभी किसी की तृप्ति नही होती, जितना भी हो कम ही मालूम होता है। इसी कारण वह नित नव है। प्रीति का उदय कामना-निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति मे है। प्रीति की लालसा यद्यपि प्राणी मे स्वाभाविक हैं, परन्तु उसका उदय तभी होता है जब वह सब प्रकार की कामनाओं से रहित हो जाय और प्रीति के रस का पान वही कर सकता है जो सब प्रकार से पूर्ण हो। जो कुछ भी चाहता है, वह प्रीति का रस पान नही कर सकता। जिसे किसी भी वस्तु अवस्था आदि की आवश्यकता है उसे प्रीति प्राप्त नही होती। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रीति उस अनन्त की वस्तु है जिसे इन्द्रिय, बुद्धि आदि द्वारा नही जाना जा सकता। यह नियम है कि जिसको जान नही पाते उस पर ही विश्वास होता है। अधूरी जानकारी मे सन्देह के कारण जिज्ञासा जागृत होती है, और जिसके सम्बन्ध मे पूरा जानते है, उसके स्वरूप का वोध होता है। जिसके सम्बन्ध मे कुछ नही जानते उस पर विश्वास करना पडता है। अत प्रीति जिसकी भोग्य वस्तु है, उस पर विश्वास करना अनिवार्य है। उसकी ही लालसा वास्तविक लालसा है। इस दृष्टि से जिज्ञासा तथा प्रिय-लालसा ही सार्थक चिन्तन है। जिस काल मे जिज्ञासा कामनाओ को खाकर पूरी होती है, उसी काल मे देहाभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही स्वत प्रीति का उदय होता है जो अनन्त से अभिन्न करने मे समर्थ है। सार्थक चिन्तन वस्तुओ से अतीत के जीवन मे प्रवेश कराता है और परम प्रेम प्रदान करता है, पर सार्थक चिन्तन तभी उत्पन्न होता है जब व्यर्थ चिन्तन का अन्त हो जाय अथवा चित्त शुद्ध हो जाय। वस्तुओ का चिन्तन चित्त को मलिन करता है और जो वस्तुओ से अतीत है उसका चिन्तन चित्त को निर्मल करता है। निर्मल चित्त मे ही प्रेम का

सूर्य उदय होता है।

सकल्प वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध जोडता है। जिज्ञासा वस्तुओ से अतीत के जीवन से अभेद करती है और प्रियलालसा प्रेमास्पद का प्रेम प्रदान करती है, अथवा यो कहो कि प्रेमी और प्रेमास्पद मे नित-नव प्रेम का ही आदान-प्रदान कराती है। अशुद्ध तथा अनावश्यक सकल्पो का त्याग होने पर शुद्ध तथा अनावश्यक सकल्प स्वत पूरे हो जाते है, पर जिज्ञासा तथा लालसा साधक को सकल्प-पूर्ति के सुख मे आवद्ध नही होने देती। सकल्प-पूर्ति का महत्त्व मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से लालसा तथा जिज्ञासा का जागृत होना ही व्यर्थ चिन्तन मिटाने मे समर्थ है, जिसके मिटते ही सार्थक चिन्तन की सार्थकता सिद्ध हो जाती है, अर्थात् योग, ज्ञान तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है।

शुद्ध तथा आवश्यक सकल्पो की पूर्ति से किसी का अहित नही होता, अपितु सभी का हित होता है। इतना ही नही, उनकी पूर्ति से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और सुन्दर समाज का निर्माण होता है, क्योंकि आवश्यक तथा शुद्ध-सकल्प प्राकृतिक विधान के अनुरूप ही होते है। प्राकृतिक विधान मे प्राणिमात्र का हित निहित है। परन्तु सकल्प-पूर्ति का जो सुख है उससे नवीन राग की उत्पत्ति होती है। इसी कारण साधक को साव-धानीपूर्वक सकल्प-पूर्ति के सुख से सर्वदा मुक्त रहना चाहिए; अथवा यो कहो कि सकल्प-पूर्ति का महत्व चित्त से निकाल देना चाहिए। सकल्प-पूर्ति का स्थान केवल विद्यमान राग की निवृत्ति और दूसरो के हित मे ही है। सकल्प-पूर्ति-मात्र मे जीवन-बुद्धि नही रखनी चाहिए। जिन संकल्पो को साधक विचारपूर्वक न मिटा सके उन्हें पूरा करके मिटाना चाहिए। सकल्प-पूर्ति भी

सकल्प-निवृत्ति के लिए ही हो,नवीन सकल्प की उत्पत्ति के लिए नही। बस,सकल्प-पूर्ति का साधकके जीवन मे इतना ही मूल्य है।

यदि सकल्प-पूर्ति सकल्प-निवृत्ति का साधन नही है तो सकल्प-पूर्ति का अर्थ हो जायगा वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध, अर्थात् भोग। भोग का परिणाम है रोग और शोक। अत जो प्राणी सकल्प-पूर्ति को ही महत्व देते हैं वे बेचारे रोग तथा शोक मे ही आबद्ध रहते हैं। सकल्प चाहे कैसा ही हो, उसकी पूर्ति मे सुख तो समान ही होता है, पर सकल्प-पूर्ति से जो परिस्थिति उत्पन्न होती है, उसमे भेद होता है, जैसे शुद्ध सकल्प की पूर्ति से सुन्दर समाज का निर्माण होता है, और अशुद्ध सकल्प की पूर्ति से समाज दूषित हो जाता है। इस दृष्टि से अशुद्ध सकल्पो का त्याग अनिवार्य है।

सकल्प-पूर्ति का सुख उतने ही काल तक भासता है, जब तक दूसरा सकल्प उत्पन्न नही होता। सकल्प-पूर्ति से जो परिस्थिति उत्पन्न होती है उसकी उपस्थिति मे ही नवीन सकल्प की उत्पत्ति से सकल्प-पूर्ति का सुख मिट जाता है। इस दृष्टि से सकल्प-पूर्ति-मात्र मे सुख है, उससे उत्पन्न हुई परिस्थिति मे कुछ नही। सकल्प-पूर्ति के सुख का भोग नवीन सकल्प की उत्पत्ति मे समर्थ है। इस दृष्टि से सकल्प-पूर्ति का परिणाम क्षणिक सुख और उसके आदि और अन्त मे घोर दु ख है। इस रहस्य को जान लेने पर सकल्प-पूर्ति का कुछ महत्व ही नही रहता, जिसके मिटते ही सकल्प-निवृत्ति, अर्थात् योग स्वत. प्राप्त होता है।

भोग मे पराधीनता, परिश्रम आदि अनेक कठिनाइयाँ हैं और योग श्रम-रहित,स्वाधीन, शान्त तथा सामर्थ्य से युक्त जीवन है। पर उसकी उपलब्धि तभी सम्भव है जब सकल्प-पूर्ति का

महत्व न रहे। सर्वोत्कृष्ट भोग भी योग की समानता नही कर सकता क्योंकि ऐसा कोई भोग है ही नही जो प्राणी को पराधीनता,शक्ति-हीनता आदि अनेक विकारो में आवद्ध न कर दे।

सुख-दुःख संकल्प की पूर्ति तथा अपूर्ति में ही है, किसी परिस्थिति मे नही। यदि किसी का सकल्प भोजन न करने का हो तो उसको भूख लगने पर भी भोजन न करने मे ही सुख प्रतीत होगा और उस समय उसे कोई आग्रहपूर्वक कितना ही सुन्दर भोजन कराए,उसे भोजन करने में दु:ख ही प्रतीत होगा। इसके विपरीत यदि भोजन करने का संकल्प हो और भोजन न मिले तो भोजन न मिलने मे दु:ख होगा। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति मे ही सुख-दु ख है, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति मे नही। सकल्प-पूर्ति का महत्व मिटते ही संकल्प-अपूर्ति का भय अपने आप मिट जाता है,जिसके मिटतेकुछ ही अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थिति मे समता का ही दर्शन होता है। विपमता का अन्त संकल्प-पूर्ति का महत्व मिट जाने मे ही निहित है। संकल्प-पूर्ति का प्रलोभन और संकल्प-अपूर्ति का भय रहते हुए न तो व्यर्थ चिन्तन का अन्त ही होगा, न सार्थक चिन्तन का उदय ही होगा और न चित्त ही निर्मल होगा। यदि सकल्प-पूर्ति के क्षणिक सुख का त्याग कर दिया जाय तो वड़ी ही सुगमता पूर्वक प्रत्येक साधक अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है, क्योकि जिज्ञासु को तत्वज्ञान और प्रेमी को प्रेमास्पद प्रदान करने मे निस्सकल्पता ही समर्थ है, पर यह ध्यान रहे कि निस्सङ्कल्पता की शान्ति मे रमण न हो। शान्ति से अतीत जो जीवन है, उसी मे स्वाधीनता है, चिन्मयता है, अमरत्व है, और उसी मे परम प्रेम निहित है। इस दृष्टि से व्यर्थ चिन्तन का अन्त कर चित्त की शुद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिये।

१७—५—५६

१६

वस्तुओं से सम्बन्ध विच्छेद

[अपने मे वस्तुओ की और वस्तुओ मे अपनी स्थापना करने से चित्त अशुद्ध होता है ।

वस्तुओ मे अपनी स्थापना करने का परिणाम यह होता है कि जिस वस्तु मे हम अपनी स्थापना कर लेते हैं, उस वस्तु की सत्यता भासने लगती है और अपने वास्तविक स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। इस विस्मृति से ही सीमित अहम् भाव भासने लगता है, जिससे अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हो जाते हैं। भेद उत्पन्न होते ही कामनाए उत्पन्न हो जाती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है ।

वस्तुओ से सम्वन्ध-विच्छेद होते ही अहम् और मम का अन्त हो जाता है। यदि साधक निज विवेक के प्रकाश मे वस्तुओ से जो भेद-अभेद सम्वन्ध है उसका त्याग कर दे, तो सीमित अहम्भाव और सीमित प्यार सदा के लिये विदा हो जाय। अहम्भाव के मिटते ही अनन्त से अभिन्नता और सीमित प्यार के मिटते ही असीम प्रेम स्वत प्राप्त होगा, जो वास्तविक जीवन है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

अपने मे वस्तुओ की और वस्तुओ मे अपनी स्थापना करने

से ही चित अशुद्ध होता है जिसके होते ही नित्य-सम्वन्ध की और स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। उसका परिणाम यह होता है कि सीमित अहम् भाव तथा अनेक आसक्तिया उत्पन्न हो जाती हैं, जिनसे प्राणी पराधीनता एव अनेक प्रकार के अभावो मे आवद्ध हो जाता है। पराधीनता तथा अभाव किसी भी प्राणी को स्वभाव से प्रिय नही है, क्योकि स्वाधीनता तथा पूर्णता की लालसा उसमे वीजरूप से विद्यमान है। ज्यो-ज्यो पराधीनता तथा अभाव की वेदना सवल तथा स्थायी होती जाती है, त्यो-त्यो स्वाधीनता एवं पूर्णता की लालसा स्वत जागृत होती है। स्वाधीनता तथा पूर्णता की लालसा जागृत होते ही वर्तमान वस्तुस्थिति पर सन्देह होने लगता है। यह नियम है कि सन्देह की वेदना मे जिज्ञासा की जागृति स्वतः होती है, जिसके होते ही वस्तुओ से सम्वन्ध-विच्छेद करने मे अथवा वस्तुओ की वास्त-विकता जानने मे समर्थ होता है। वस्तुओ की वास्तविकता के ज्ञान मे वस्तुओ से अतीत के जीवन की आस्था निहित है। वह आस्था ज्यो-ज्यो दृढ होती जाती है त्यो-त्यो उस जीवन पर विकल्प-रहित विश्वास होता जाता है। यह नियम है कि विकल्प-रहित विश्वास जिस पर होता है उससे सम्वन्ध अवश्य हो जाता है। जिससे सम्वन्ध की स्वीकृति हो जाती है उसकी स्मृति स्वत होने लगती है। यह नियम है कि किसी की स्मृति मे किसी की विस्मृति स्वत. होती है। स्मृति उसी की होती है जिसमे दृढ आस्था है और जिससे सम्वन्ध है। विस्मृति उसी की होती है जिसकी आस्था मे सन्देह हो जाय अथवा जिससे सम्बन्ध न रहे।

वस्तुओ मे अपनी स्थापना करने का परिणाम यह होता है कि जिस वस्तु मे हम अपनी स्थापना कर लेते है, उस वस्तु की सत्यता भासने लगती है और अपने वास्तविक स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। वस्तु के अस्तित्व को ही हम अपना अस्तित्व मान

लेते हैं और जिन वस्तुओ की हम अपने मे स्थापना कर लेते हैं उनमे आसक्ति हो जाती है। वस्तुओ मे अपनी स्थापना वस्तु से अभेद-भाव का और अपने मे वस्तु की स्थापना उनसे भेद-भाव का सम्बन्ध स्थापित करती है। अभेद-भाव का सम्बन्ध सत्यता और भेद-भाव का सम्बन्ध प्रियता उत्पन्न करता है।

प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही सीमित, परिवर्तनशील, उत्पत्ति-विनाश-युक्त और पर-प्रकाश्य है। यद्यपि वस्तुओ का अस्तित्व प्रतीति मात्र है, वास्तविक नही, परन्तु जब उनसे सबध स्वीकार कर लिया जाता है तब उनमे सत्यता तथा प्रियता भासने लगती है, यहाँ तक कि प्राणी वस्तु के अस्तित्व को ही अपना अस्तित्व मान लेता है और अपने अस्तित्व को भूल जाता है। बस यही स्वरूप की विस्मृति है। इस विस्मृति से ही सीमित अहम् भाव भासने लगता है, जिससे अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हो जाते हैं। भेद के उत्पन्न होते ही कामनाए उत्पन्न हो जाती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती हैं। वस्तुओ से भेद-भाव का सम्बन्ध सीमित प्रियता अर्थात् आसक्तियो को उत्पन्न करता है, जिनके उत्पन्न होते ही नित्य-सम्बन्ध की विस्मृति हो जाती है। नित्य सम्बन्ध की विस्मृति प्रीति को जागृत नही होने देती, प्रत्युत आसक्तियो को ही जीवित रखती है। अत वस्तुओ के भेद-अभेद-सम्बन्ध से ही 'अहम्' और 'मम' उत्पन्न हो जाता है, जो चित्त को अशुद्ध कर देता है।

'अहम्' और 'मम' के आधार पर ही सकल्पो की उत्पत्ति होती है और उनकी पूर्ति-अपूर्ति मे ही सुख-दु ख की प्रतीत होती है। सुख की दासता और दु ख के भय मे आबद्ध प्राणी अनन्त से विमुख हो गया है। यद्यपि अनन्त से देश-काल की दूरी नही है, फिर भी प्राणी उससे निराश होने लगता है और जिन वस्तुओ मे

केवल मानी हुई एकता है, वास्तविक नही, उनके लिए आशान्वित रहता है।

सत्य से निराश होना और असत्य की आशा करना प्रमाद है। सत्य की जिज्ञासा असत्य को खाकर सत्य से अभिन्न करने मे समर्थ है, अथवा यो कहो कि अनन्त की लालसा वस्तुओ की कामनाओ का अन्त कर अनन्त से अभिन्न कर देती है।

कोई भी वस्तु कामना-मात्र से ही प्राप्त नही हो जाती अपितु उसके लिए विधिवत् कर्म अपेक्षित होता है। उस पर भी वस्तु प्राप्त हो ही जायगी, यह कोई निश्चित नही। इतना ही नही, यदि कोई वस्तु प्राप्त होती भी है, तो उसमे परिवर्तन और उसका वियोग अनिवार्य है। उस पर भी यदि प्राणी वस्तुओ की आशा करता है, तो यह कहाँ तक युक्तियुक्त है। परन्तु अनन्त की प्राप्ति तो लालसा करने-मात्र मे ही निहित है। जिसकी प्राप्ति लालसा करने-मात्र मे ही निहित है उससे निराश होना और जिसकी प्राप्ति मे घोर श्रम है, प्राप्ति भी अप्राप्ति के ही तुल्य है, उसकी आशा मे आबद्ध रहना कहाँ तक वाञ्छनीय है? अर्थात् यह अविवेक के अतिरिक्त और कुछ नही है।

प्राणी ने वस्तुओ से सम्बन्ध कब और क्यो स्वीकार किया इसका तो पता नही, पर वस्तुओ से सम्बन्ध-विच्छेद हो सकता है। इसी आधार पर मान लेना चाहिये कि वस्तुओ से सम्बन्ध स्वीकार किया है। यह नियम है कि प्रत्येक सम्बन्ध स्वीकृति-मात्र से सिद्ध होता है और अस्वीकृति-मात्र से उसका नाश हो जाता है, अर्थात् ऐसी कोई स्वीकृति है ही नही जो अस्वीकृति-मात्र से ही न मिट जाय। कोई भी स्वीकृति अस्वीकृति के अतिरिक्त किसी अन्य अभ्यास से मिट नही सकती। इस दृष्टि से अनन्त काल का सम्बन्ध क्यो न हो, वर्त्तमान मे उसका विच्छेद

हो सकता है।

वस्तुओ से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही अहम् और मम का अन्त हो जाता है। अहम् का अन्त होते ही भेद मिट जाता है, जिसके मिटते ही अनन्त से अभिन्नता हो जाती है और मम के मिटते ही प्राणी राग रहित हो जाता है, जिसके होते ही योग, बोध और प्रेम स्वत प्राप्त होता है, अर्थात् अभेदभाव का संबध न रहने पर स्वरूप की स्मृति और भेदभाव का सम्बन्ध मिटने पर नित्य सम्बन्ध की स्मृति स्वत जागृत होती है। स्वरूप की स्मृति जागृत होते ही अमरत्व और नित्य सम्बन्ध की स्मृति जागृत होते ही परम प्रेम की प्राप्ति होती है।

समस्त माने हुए सम्बन्ध स्वीकृति-मात्र पर ही जीवित है, जो अविचार-सिद्ध हैं और माने हुए सम्बन्धो का विच्छेद अस्वीकृति-मात्र से ही सम्भव है, जो विचारसिद्ध है। यह नियम है कि जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वत मिट जाती है और स्वास्थ्य प्रदान करती है,उसी प्रकार विचार अविचार को खाकर स्वत मिट जाता है और अनन्त से अभिन्नता प्रदान करता है। देह रूपी वस्तु से तद्रूप होने पर इन्द्रिय-ज्ञान मे सत्यता प्रतीत होती है जिससे अनेक कामनाये उत्पन्न हो जाती है, पर वस्तुओ के निरतर परिवर्तन तथा उनके अदर्शन का ज्ञान इद्रिय-ज्ञान मे सन्देह उत्पन्न करता है। सन्देह की भूमि मे ही जिज्ञासा जागृत होती है। जिज्ञासा की जागृति कामनाओ को खा लेती है। कामनाओ का अन्त होते ही विचार रूपी सूर्य उदित होता है जो अविचार रूपी अन्धकार को नष्ट करने मे समर्थ है।

वस्तुओ से अभेद भाव तथा भेदभाव का जो सम्बन्ध है उसकी सत्यता, प्रियता और प्रकाशन निज स्वरूप तथा नित्य सम्बन्ध की सत्ता से ही सिद्ध है क्योकि वस्तुओ का सम्बन्ध

निर्णय भी सम्भव नही है। केवल यही कह सकते है कि प्रेम मे सत्ता उसी की है जिसका वह प्रेम है। प्रेम ही प्रेमास्पद का वास है और प्रेम प्रेमास्पद का ही स्वभाव है। प्रेम एक ऐसा अलौकिक तत्व है जिसकी निवृत्ति, क्षति या पूर्ति सम्भव नही। निवृत्ति कामनाओ की और पूर्ति जिज्ञासा की होती है। प्रेम की तो प्राप्ति ही होती है, पूर्ति या निवृत्ति नही। इस दृष्टि से प्रेम प्रेमास्पद की ही अभिव्यक्ति है, और कुछ नही।

जब तक वस्तुओ से सम्बन्ध विच्छेद न होगा तब तक संकल्पो की उत्पत्ति, पूर्ति और निवृत्ति होती ही रहेगी, क्योकि क्षण-मात्र मे कई सकल्प उत्पन्न होते हैं। इससे यह तो स्पष्ट विदित हो ही जाता है कि संकल्प-निवृत्ति-काल भी है। यदि न होता तो अल्प काल मे कई एक सकल्प की उत्पत्ति-पूर्ति सिद्ध ही नही होती, क्योकि संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति के मूल मे सकल्प-निवृत्ति होनी ही चाहिए। अल्पकाल की संकल्प-निवृत्ति मे सही जिज्ञासा जागृत होती है, जिससे साधक वस्तुओ से सम्बन्ध-विच्छेद करने मे अथवा काम का अन्त करने मे समर्थ होता है। सकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति का दु ख-सुख जब असह्य होने लगता है तब सकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति के जीवन मे सन्देह उत्पन्न होता है। सदेह की वेदना जिज्ञासा को पूर्ण रूप से जागृत करती है। जिज्ञासा की जागृति मे ही काम की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति निहित है।

यद्यपि काम की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति वर्तमान की वस्तु है, पर असावधानी के कारण न जाने प्राणी ने कितने जन्म बिताए है और वर्तमान जीवन का भी बहुत बडा भाग बीत गया, पर समस्या हल नही हुई। इसका एकमात्र कारण यह है कि वस्तुओ से भेद-अभेद के सबधो की स्वीकृति ने चित्त को

अशुद्ध कर दिया है अभेद भाव के सम्बन्ध से सीमित अहम् की और भेदभाव के सम्बन्ध से सीमित प्यार की उत्पत्ति हो गयो है। यदि साधक निज विवेक के प्रकाश मे वस्तुओ से जो भेद-अभेद सम्बन्ध है उसका त्याग कर दे, तो सीमित अहम् भाव तथा सीमित प्यार सदा के लिये विदा हो जायँ, अहम्भाव के मिटते ही अनत से अभिन्नता और सीमित प्यार के मिटते ही असीम प्रेम स्वत प्राप्त होगा जो वास्तविक जीवन है। अत वस्तुओ के सम्बन्ध को अस्वीकार कर चित्त शुद्ध कर लेना अनिवार्य है। जो समस्या दीर्घ काल से हल नही हुई वह वर्तमान मे बडी सुगमतापूर्वक हल हो सकती है। साधन कितना सहज और फल कितना महान ! पर यह रहस्य वे ही जानते हैं जो वर्तमान मे ही चित्त शुद्ध करने के लिये आकुल तथा व्याकुल हैं।

१८—५—५६

१७

अपनी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नहीं

[जव प्राणी अपनी प्रसन्नता और किसी पर निर्भर कर लेता है तव उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है ।

प्राणी प्रत्येक परिस्थिति मे चित्त शुद्ध कर सकता है क्योकि सभी परिस्थितिया प्राकृतिक नियमानुसार साधन-सामिग्री है । जो कर सकते है उसके करते ही कर्ता मे से करने का राग निवृत्त हो जाता है । करने का राग निवृत्त होते ही भोग की रुचि स्वत मिट जाती है ।

जो साधक कर्तव्य के वदले मे सुख की आशा करता है उसका चित्त कभी शुद्ध हो नही सकता, कारण कि कर्तव्य का महत्व दूसरो के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग मे है । कर्तव्य का वास्तविक ज्ञान तथा सामर्थ्य उसे ही प्राप्त होता है जो राग-द्वेष रहित है । अत अपने विकास तथा दूसरो के हित के लिये चित्त की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

जव प्राणी अपनी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर कर लेता है तव उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही अनेक दोपो की उत्पत्ति अपने आप होने लगती है और चित्त शुद्ध-

हो जाने पर सभी दोष स्वत मिट जाते हैं। इस दृष्टि से चित्त शुद्धि वर्तमान जीवन की वस्तु है, उसे भविष्य पर छोडना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नही है। चित्त को शुद्ध करने मे प्रत्येक साधक सर्वदा स्वतन्त्र है, कारण कि चित्तशुद्धि के लिए ही मानव-जीवन मिला है। उससे निराश होना और उसे छोड देना बडी भारी भूल है।

भूल किसी के भाग्य मे नही लिखी है और न किसी दूसरे के द्वारा मिलती है। जानकारी की भूल होती है, अर्थात् जिसे जानते हैं उसी को भूलते हैं। इस दृष्टि से भूल अपना ही बनाया हुआ दोष है। जो अपना बनाया हुआ दोष है उसे मिटाने का दायित्व भी अपने ही पर है, पर वह तब सम्भव होगा जब साधक प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग न करे, अपितु सदुपयोग करने के लिए सर्वदा तत्पर रहे। यह नियम है कि साधक को साधन करने का सामर्थ्य स्वत' प्राप्त है, अत साधन से निराश होना प्राकृतिक विधान का अनादर है, और कुछ नही।

प्राणी प्रत्येक परिस्थिति मे चित्त शुद्ध कर सकता है क्योकि सभी परिस्थितियाँ प्राकृतिक न्यायानुसार साधन-सामग्री है। साधन मे किसी प्रकार की पराधीनता, असमर्थता एव असफलता नही है, प्रत्युत प्रत्येक साधक प्रत्येक दशा मे साधन करने मे सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ हैं, क्योकि किसी भी साधक को न तो वह जानना है जिसे वह नही जानता और न वह करना है, जिसे वह नही कर सकता। जाना हुआ जान लेने पर न जानने का दोष मिट जाता है, जिसके मिटते ही निस्सन्देहता आ जाती है, जिसके आते ही ज्ञान और जीवन मे एकता हो जाती है। यही सफलता की कुञ्जी है। जो कर सकते है उसके करते ही कर्ता में से करने का राग निवृत्त हो जाता है और उससे सभी के अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं, जिससे उसके प्रति सभी की

सद्भावना हो जाती है और उसे स्वत स्नेह प्राप्त होता है। स्नेह प्राप्ति मे कितना रस है इसका वर्णन तो सम्भव नही है, केवल सांकेतिक भाषा मे यह कह सकते है कि स्नेह की तुलना किसी और रस से नही हो सकती, अर्थात् स्नेह का रस सर्वोत्कृष्ट रस है। इतना ही नहीं, स्नेह मे आदान-प्रदान स्नेह ही का है। स्नेह देने और पाने मे रस ही रस है। स्नेह देने से घटता नही और पाने से तृप्ति होती नही, जितना दिया जाय, और जितना मिले, कम ही प्रतीत होता है।

करने का राग निवृत्त होते ही भोग की रुचि स्वत मिट जाती है, क्योकि जो कर्ता है वही भोक्ता है। करने का राग नाश होते ही कर्ता न रहकर जिज्ञासु तथा प्रेमी हो जाता है, अर्थात् करने का राग निवृत्त होते ही भोग-वासनाओ का अन्त हो जाता है, जिसके होते ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति स्वत हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति मे नित्य-जीवन और प्रेम की प्राप्ति मे अगाध अनन्त रस स्वत सिद्ध है।

जो साधक कर्तव्य के बदले मे सुख की आशा करता है। उनका चित्त कभी शुद्ध नही हो सकता, कारण कि कर्तव्य का महत्त्व दूसरो के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग मे है। अर्थात् साधन मे देने ही की बात है, कुछ भी पाने की नही। इस दृष्टि से साधन मे सर्वदा सफलता ही है। जो किसी से कुछ भी पाने की आशा करता है, वह साधक नही है, अपितु भोगी है। यह नियम है कि जो भोगी है, उसका चित्त कभी शुद्ध नही हो सकता, और चित्तशुद्धि के बिना कभी पराधीनता स्वाधीनता मे, जडता चेतना मे, अभाव पूर्णता मे परिवर्तित नही हो सकता। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि मे ही जीवन की सार्थकता निहित है।

परिस्थितिगो के आधार पर अपना महत्त्व आँकना अथवा अपने को दीन-हीन मानना प्राकृतिक न्याय का अनादर है, कारण कि किसी परिस्थिति के कारण कोई वास्तव मे ऊँचा-नीचा नहीहै, प्रत्युत जो साधक परिस्थिति का सदुपयोग करता है वही ऊँचा है, और जो दुरुपयोग करता है वही नीचा है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति मे प्राणी आदर-अनादरके योग्य हो सकता है। किसी परिस्थिति के आधार पर ही आदर तथा अनादर देना केवल जडता मे जीवनबुद्धि करना है, जिससे चित्त अशुद्ध ही होगा।

प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सारे विश्व से अभिन्न है, परन्तु बाह्य इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर अथवा काल्पनिक भेद के आधार पर हम उस अभिन्नता मे भिन्नता मान बैठे है। उसका परिणाम यह हुआ है कि परस्पर मे स्नेह नही रहा, जिससे एक दूसरे के प्रति जो करना चाहिए वह भी और जो नही करना चाहिए वह भी कर बैठते हैं, जिससे अनेक प्रकार के सघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं और पारस्परिक वैर-भावहो जाने से चित्त अशुद्ध होजाना है। यद्यपि प्राणिमात्र एक ही आकाश से अवकाश, एक ही सूर्य से प्रकाश और एकही वायु से साँस लेता है, अर्थात् समष्टि शक्तियाँ सभी के प्रतिएकता प्रदर्शित करती है, परन्तु बाह्य, कर्म, आकृति आदि के भेद से वह अभेद मे भेद मानकर मिथ्या अहम्भाव में आबद्ध होगया है, जिससे अनेक प्रकार की आसक्तियाँ तथा कामनाएँ उत्पन्न हो गई है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती हैं। चित्त के अशुद्ध हो जाने पर सब प्रकार के विकास स्वत रुक जाते है, क्योकि राग-द्वेष मे आबद्ध प्राणी त्याग तथा प्रेम को अपना ही नही पाता। त्याग के बिना चिर-शान्ति और प्रेम के बिना अगाध अनन्त रस की उपलब्धि नही होती। शान्ति के बिना सामर्थ्य, सामर्थ्य के बिना स्वाधीनता और स्वाधीनता के

बिना जीवन ही सम्भव नही है। इस दृष्टि से चित्त के अशुद्ध होने से प्राणी का विकास नही होता। राग सीमित प्यार मे, और द्वेष वैर भाव से प्राणी को आबद्ध कर देता है। सीमित प्यार सुखासक्ति की और वैरभाव भेद की दृढता उत्पन्न करता है। सुखासक्ति से पराधीनता और भेद की दृढता से अनेक प्रकार के सघर्ष उत्पन्न होजाते हैं जो विनाश के मूल हैं। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि का जीवन मे कोई स्थान ही नही है। चित्त के अशुद्ध रहते हुए न तो चित्त मे स्थिरता ही रहती है और न शाति तथा सामर्थ्य की अभिव्यक्ति ही होती है। सामर्थ्य के सदुपयोग मे ही कर्त्तव्य-परायणता निहित है। कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही आवश्यक सकल्पो की पूर्ति और अनावश्यक सकल्पो की निवृत्ति स्वत हो जाती है, जिसके होते ही चित्त मे स्थिरता आ जाती है और भौतिक विकास भी स्वत हो जाता है, क्योकि आवश्यक सकल्पो की पूर्ति मे ही भौतिक विकास निहित है। भौतिक विकास की पराकाष्ठा मे ही अध्यात्म जीवन, और उसकी पराकाष्ठा मे ही परम प्रेम की प्राप्ति निहित है। इस कारण चित्त की शुद्धि प्रत्येक साधक के लिए परम अनिवार्य है। चित्त शुद्ध हुए बिना निर्भयता, निर्वैरता, समता एव मुदिता आदि दिव्य गुणो की अभिव्यक्ति सम्भव नही है। निर्भयता प्राप्त करने के लिए कर्त्तव्य-परायण होना अनिवार्य है। कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिए चित्त में स्थिरता तथा शान्ति का रहना आवश्यक है।

कर्त्तव्य का वास्तविक ज्ञान तथा सामर्थ्य उसे ही प्राप्त होता है जो राग-द्वेष-रहित हो। अत अपने विकास तथा दूसरो के हित के लिए चित्त की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है।

कर्म तथा मान्यता आदि की भिन्नता होने पर भी यदि सभी के प्रति प्रीति की एकता हो जाय तब भी चित्त शुद्ध हो सकता है

और यदि शरीर आदि वस्तुओ से असगता आ जाय तब भी चित्त शुद्ध हो सकता है परन्तु किसी से एकता और किसी से भेद स्वीकार करने पर चित्त शुद्ध नही हो सकता। वास्तविकता तो यही है कि या तो सारी सृष्टि एक है, अथवा शरीर आदि कोई भी वस्तु अपनी नही है। सभी को अपना मानने से अथवा किसी भी वस्तु को अपना न मानने से चित्त शुद्ध हो जाता है, कारण कि सभी को अपना मानने से द्वेष नही रहता और किसी वस्तु को अपना न मानने से राग का नाश हो जाता है। राग-द्वेष-रहित होते हो चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है। राग-द्वेष-रहित प्राणी के जीवन के कर्त्तव्यपरायणता स्वत आ जाती है, जिसके आते ही वह निर्भय हो जाता है। इतना ही नही, न तो उससे किसी को भय होता है और न उसको किसी से भय होता है, अथवा यो कहो कि वह सब प्रकार के क्षोभ तथा क्रोध से रहित हो जाता है और उससे दूसरे प्राणी भी क्षुभित तथा क्रोधित नही होते, कारण कि वह किसी का बुरा नही चाहता है। यह नियम है कि जो किसी का बुरा नही चाहता उसके मन मे अशुद्ध सकल्पो की उत्पत्ति ही नही होती और उनके बिना अशुद्ध कर्म का जन्म ही नही होता। अशुद्ध कर्म के बिना किसी का अहित हो ही नही सकता, अर्थात् उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति सर्व-हितकारो सद्भावना से युक्त होती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तविक निवृत्ति की साधना है। वास्तविक निवृत्ति मे ही चिर-शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता और अमरत्व आदि निहित है।

विवेकपूर्वक प्राणी देह आदि सभी वस्तुओ से सम्बन्ध तोड सकता है। वस्तुओ से सम्बन्ध टूटते ही निर्लोभता, निर्मोहता आदि दिव्य गुण स्वत आने लगते हैं और चित्त शुद्ध हो जाता है। निर्लोभता आते ही दरिद्रता सदा के लिए मिट जाती है, मोह-

रहित होते ही निस्सन्देहता अर्थात् तत्त्व-ज्ञान स्वत हो जाता है, जिसके होते ही इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव चित्त मे अङ्कित नही होता। इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिटते ही अनेकता मे एकता का दर्शन होने लगता है और बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव मिटते ही विषमता मे समता का बोध होता है, अथवा यो कहो कि वास्तविक ज्ञान से भोग योग मे, अकर्त्तव्य कर्तव्य में स्वत बदल जाता है। इस दृष्टि से निस्सन्देहता जीवन का आवश्यक अङ्ग है, जो निर्मोहिता से ही प्राप्त हो सकती है।

वस्तुओ से अतीत के जीवन मे विकल्प-रहित विश्वास होने से भी प्राणी का चित्त शुद्ध हो जाता है, क्योकि वस्तुओ से अतीत जो अनन्त है, उसका विश्वास प्राणी को वस्तुओं की दासता से मुक्त ही नही कर देता, अपितु उस अनन्त से सम्बन्ध जोडने मे भी समर्थ होता है। यह नियम है कि जिससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर लिया जाता है उसकी स्मृति स्वत होने लगती है, जो वस्तुओ की आसक्ति का अन्त कर देती है। ज्यो-ज्यो स्मृति सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यो-त्यो नित-नव-रस की उत्तरोत्तर वृद्धि स्वत होती जाती है। अनन्त की स्मृति मे कितना रस है उसका वर्णन सम्भव नही है, परन्तु उस रस मे कभी क्षति नही होती। यह नियम है कि रस के अभाव मे ही खिन्नता और खिन्नता से ही काम की उत्पत्ति होती है, जिससे प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है। अत अनन्त की अखण्ड स्मृति उदय होते ही काम का अन्त हो जाता है, और फिर चित्त सदा के लिए निर्मल हो जाता है। अनन्त की स्मृति अनन्त से भिन्न की विस्मृति कर देती है जिसके होते ही स्मृति दिव्य, चिन्मय प्रीति होकर अनन्त को रस प्रदान करती है अथवा यो कहो कि प्रीति और प्रीतम मे प्रेम का ही आदान-प्रदान है जो रस रूप है, जिसकी माग प्राणी को स्वाभाविक है।

किसी का बुरा न चाहने से सर्वात्म-भाव की उपलब्धि स्वत होती है। वस्तुओ से अतीत के जीवन पर विकल्परहित विश्वास तथा उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करने पर अनन्त की अखण्ड स्मृति तथा परम प्रेम का उदय होता है। विवेकपूर्वक सभी वस्तुओ से सम्बन्ध तोड़ने पर अचाह, अप्रयत्न तथा अभिन्नता प्राप्त चित्त शुद्ध हो जाता है और फिर उसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नही रहती, अपितु उसकी आवश्यकता सभी को हो जाती है, क्योकि उससे सभी को प्रेम प्राप्त होता है, अथवा यो कहो कि उसका प्रेम के साम्राज्य मे प्रवेश हो जाता है, जहाँ प्रेम का ही आदान-प्रदान है, जो सभी को स्वभाव से ही अभीष्ट है। अत प्रेम के साम्राज्य मे प्रवेश करने के लिये प्राप्त परिस्थिति का आदर पूर्वक सदुपयोग करना, और किसी से सुख की आशा न रखना अनिवार्य है। यही चित्तशुद्धि का सुगम उपाय है।

१९—५—५६

१८

निषेधात्मक साधन की आवश्यकता

[वस्तु अवस्था एव परिस्थिति के आधार पर ही अपना मूल्याकन करना चित्त को अशुद्ध करना है क्योकि वस्तु आदि से हमारा नित्य सम्बन्ध नही है। जिससे नित्य सम्बन्ध नही है उसका उपयोग किया जा सकता है, उससे ममता नही की जा सकती। उसके आधार पर अपना महत्व घटाया बढाया नही जा सकता और न उसमे जीवन-बुद्धि स्वीकार की जा सकती है।

चित्त की अशुद्धि का कारण कोई और नही है। हमारे प्रमाद से ही हमारा चित्त अशुद्ध हुआ है। अपने प्रमाद के मिटाने मे प्राणी स्वाधीन है। इस दृष्टि से चित्त शुद्धि के लिये सर्वदा तत्पर रहना चाहिये।

साधन के दो प्रधान अग होते है—एक निषेधात्मक और दूसरा विधिआत्मक। निषेधात्मक साधन की पूर्ति मे सभी साधक स्वाधीन हैं क्योकि उसके लिये किसी अप्राप्त वस्तु आदि की अपेक्षा नही होती, और उसमे कभी असिद्धि भी नही होती।

निषेधात्मक साधन से चित्त मे शुद्धि आती है और विधिआत्मक साधन से समस्त जीवन मे अभिव्यक्ति होने लगती है।

केवल विधिआत्मक साधन से चित्त शुद्ध नही हो सकता, अपितु मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न होता है जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। इस दृष्टि से निषेधात्मक साधन ही वास्तविक साधन है। विधिआत्मक

साधन तो केवल उसका शृंगार मात्र है। साधक की साधना से अभिन्नता तो निषेधात्मक साधन से ही होती है।

कर्त्तव्य परायणता राग रहित करने मे और अकर्त्तव्य का त्याग कर्त्तव्यपरायणता की सामर्थ्य प्रदान करने मे समर्थ है।

अकर्त्तव्य के त्याग और कर्त्तव्यपरायणता से प्राणी वीतराग हो जाता है जिसके होते ही सभी समस्याएँ स्वत हल हो जाती है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

वस्तु, अवस्था एव परिस्थिति के आधार पर ही अपना मूल्याङ्कन करना चित्त को अशुद्ध करना है, क्योकि वस्तु आदि से हमारा नित्य सम्बन्ध नही है। जिससे नित्य सम्बन्ध नही है उसका उपयोग किया जा जकता है, उससे ममता नही की जा सकती, उसके आधार पर अपना महत्त्व घटाया बढाया नही जा सकता और न उसमे जीवन-बुद्धि ही स्वीकार की जा सकती। वस्तुओआदि की ममता से लोभ-मोह आदि बिकारो की उत्पत्ति होती है। उनके आधार पर अपना महत्त्व घटाने बढाने से विषमता आती है और हृदय मे दीनता तथा अभिमान की अग्नि प्रज्ज्वलित होती है। वस्तुओ मे जीवन-बुद्धि करने से जडता, परिच्छिन्नता आदि दोषो की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से वस्तु, अवस्था एव परिस्थिति के आधार पर अपना मूल्याङ्कन करना चित्त की अशुद्धि मे हेतु है। वस्तु अवस्था आदि का सदुपयोग विद्यमान राग की निवृत्ति का साधन है, इसके अतिरिक्त वस्तु आदि का जीवन मे कोई स्थान नही है।

वस्तु आदि की ममता के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति नही होगी और सदुपयोग से विद्यमान राग की निवृत्ति होगी। नवीन राग की उत्पत्ति न हो,और विद्यमान राग निवृत्त होजाय तो बडी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध होजाता है, जिसके होते ही

वस्तु आदि से अतीत के जीवन मे अविचल श्रद्धा हो जाती है।

यह नियम है कि वस्तु आदि से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही समस्त कामनाएँ स्वत मिट जाती है। कामनाओ की निवृत्ति मे ही वास्तविक जीवन की उपलब्धि निहित है।

वास्तविक जीवन हमारा अपना जीवन है। उस जीवन मे किसी प्रकार की विषमता,अभाव एव जडता आदि विकार नही हैं। चित्त की अशुद्धि के कारण आज हम अपने को अपने जीवन से विमुख कर बैठे है, और जो जीवन नही है उसमे आसक्त हो गए है। उसका परिणाम यह हुआ है कि हम अनेक प्रकार के अभावो मे आवद्ध हो गए है। यद्यपि वास्तविक जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा प्राणी मे बीजरूप से विद्यमान है परन्तु अस्वाभाविक इच्छाओ ने जिज्ञासा की जागृति को ढक दिया है, जिससे प्राणी वस्तु आदि की दासता मे आबद्ध हो कामना की अपूर्ति और पूर्ति के दु ख-सुख को ही जीवन मान बैठा है।

सुख-दु ख, दिन-रात के समान आने-जाने वाली वस्तुएँ हैं। भला उनसे नित्य सम्बन्ध कैसे हो सकता है? जिससे नित्य सम्बन्ध हो ही नही सकता वह हमारा जीवन कैसे हो सकता है? कदापि नही। चित्त की अशुद्धि के कारण जो जीवन नही है, हम उसकी आशा करते है और जो जीवन है, उससे निराश हो गए है। उसका परिणाम यह हुआ है कि अनेक प्रकार की आसक्तियाँ, क्षोभ, क्रोधविस्मृति, पराधीनता आदि दोष उत्पन्न होगए हैं। आसक्तियो ने स्वाधीन नही रहने दिया,क्षोभ ने शाति का अपहरण कर लिया, क्रोध ने प्रसन्नता का अन्त कर दिया और विस्मृति ने कर्तव्यपरायणता, अमरत्व एवं प्रेम से वञ्चित कर दिया। स्वाधीनता, शान्ति, प्रसन्नता, कर्त्तव्यपरायणता, अमरत्व और प्रेम के बिना जीवन ही क्या हो सकता है?

जिन दिव्य गुणो के प्राप्त करने मे प्राणी स्वाधीन था उनकी प्राप्ति मे अपने को असमर्थ मानता है और जिन वस्तुओ की प्राप्ति मे प्राणी सर्वदा पराधीन है उनकी प्राप्ति के लिए अपने को स्वाधीन तथा समर्थ मानता है, जो सम्भव नही है। यह अनहोनी बात जीवन मे चित्त की अशुद्धि से आ गई है।

चित्त की अशुद्धि का कारण कोई और नही है। किसी और के द्वारा हमारा चित्त अशुद्ध नही हो सकता, हमारे प्रमाद से ही हमारा चित्त अशुद्ध हुआ है। अपने प्रमाद के मिटने मे प्राणी स्वाधीन है। जिस जीवन मे हमारा सदैव अधिकार है उसमे हमे निराश नही होना चाहिये। वास्तविक जीवन की आशा ज्यो-ज्यो सबल तथा स्थायी होती जाएगी, त्यो-त्यो जो अस्वाभाविक इच्छाये हैं उनका त्याग स्वत होता जाएगा। यह नियम है कि अस्वाभाविक इच्छाओ के त्याग मे ही वास्तविक जीवन की प्राप्ति निहित है, पर बडे दुख की बात यह है कि जिसकी प्राप्ति सभव है उससे निराश हो बैठे है। उस निराशा का अन्त कर देना ही चित्त-शुद्धि का मुख्य उपाय है। प्राणी किसी भी परिस्थिति मे क्यो न हों, वास्तविकता की ओर अग्रसर होने के लिये समष्टि शक्तियाँ उसे सहयोग देकर सफल बनाती है। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिये।

साधन के दो प्रधान अङ्ग होते है, एक निषेधात्मक और दूसरा विधि-आत्मक। यह नियम है कि निषेधात्मक साधन की पूर्ति मे सभी साधक स्वाधीन हैं, क्योकि उसके लिए किसी अप्राप्त वस्तु आदि की अपेक्षा नही होती और उसमे कभी असिद्धि भी नही होती, जैसे 'हम किसी का बुरा नही चाहेगे' इस साधन मे किसी भी साधक को कोई भी कठिनाई नही है और उसकी सिद्धि भी वर्तमान मे ही हो सकती है, जिसके होते ही समस्त अशुद्ध

सङ्कल्प स्वत. मिट जाते है और उनके मिटते ही अकर्त्तव्य का अन्त हो जाता है। अकर्त्तव्य के अन्त मे कर्त्तव्यपरायणता निहित है। इस दृष्टि से निषेधात्मक साधन परिपक्व होते ही विधि-आत्मक साधन स्वत. हो जाता है। साधन के किसी एक अङ्ग की परिपक्वता से दूसरे अङ्ग की भी सिद्धि हो जाती है और साधक, साधन तथा साध्य मे भेद नही रहता, जो सभी साधको को अभीष्ट है। यह नियम है कि निषेधात्मक साधन से चित्त मे शुद्धि आती है और विधि-आत्मक साधन द्वारा समस्त जीवन से उसकी अभिव्यक्ति होने लगतीहै। अत चित्त की शुद्धि से कभी निराश नही होना चाहिए।

निषेधात्मक साधना को बिना अपनाए बलपूर्वक विधिआत्मक साधन का वेष बनाने से चित्त शुद्ध नही हो सकता; कारण कि विधि-आत्मक साधन तो स्वत स्वाभाविक होना चाहिए, पर वह तभी सम्भव है जब निषेधात्मक साधन सिद्ध हो जाय। निषेधात्मक साधन विधि-आत्मक साधनकी भूमि है। जिस प्रकार भूमि के बिना कोई भी पौधा न तो उग ही सकता है और न हरा-भरा ही हो सकता है, उसी प्रकार निषेधात्मक साधन के बिना सिद्ध हुए विधि-आत्मक साधन जीवनसे अभिन्न नही हो सकता। जो साधन जीवन नही हो सकता, वह कभी भी प्रतिकूलताओं के भय तथा अनुकूलताओ के प्रलोभन से असाधन मे परिणत हो सकता है, अर्थात् केवल विधि-आत्मक साधन से चित्त शुद्ध नही हो सकता, अपितु उससे मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न होता है, जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। निषेधात्मक साधन निरभिमानता द्वारा ही हो सकता है,क्योकि निषेधात्मक साधन के मूल मे अपने दोष की वेदना होती है, जो अभिमान को गलाती है। इस दृष्टि से निषेधात्मक साधन ही वास्तविक साधन है। विधि-आत्मक

साधन तो केवल उसका शृङ्गार-मात्र है। विधि-आत्मक साधन से तो साधक का प्रकाशन होता है, पर साधक की साधना से अभिन्नता तो निषेधात्मक साधन से ही होती है। निषेधात्मक साधना मे पराधीनता नही है, क्योकि वह दृढ संकल्प-मात्र से सिद्ध हो जाती है। सकल्प-शक्ति सभी साधको को स्वत प्राप्त है। अत चित्त की शुद्धि मे न तो असमर्थता ही है और न असफलता, अथवा यो कहो कि चित्तशुद्धि का दृष्ट संकल्प ही चित्त को शुद्ध कर देता है।

अकर्त्तव्य को अकर्त्तव्य जानकर ही उसका त्याग करना चाहिए, किसी भय से भयभीत होकर अकर्त्तव्य का त्याग कुछ अर्थ नही रखता, प्रत्युत मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है, जो अनर्थ का मूल है। अकर्त्तव्यजनित जो सुख है वह भय से दब जाता है, मिटता नही। इस कारण भयपूर्वक किया हुआ अकर्त्तव्य का त्याग वास्तविक त्याग नही है। इसी कारण कर्त्तव्य में प्रवृत्ति सहज भाव से स्वत नही हो पाती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अकर्त्तव्य के त्याग मे ही कर्त्तव्य-पालन निहित है। पर ऐसा तब होता है जब बुराई को बुराई जानकर न किया जाय और भलाई को भलाई जानकर ही किया जाय, किसी प्रलोभन से नही। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि बुराई के त्याग बिना भलाई सम्भव नही है।

भय और प्रलोभन दोनो ही दोष है। किसी दोष की निवृत्ति के लिए किसी दोष का आश्रय लेना निर्दोषता नही है; अपितु निर्दोषता के वेष मे महान् दोष है। यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि जो बुराई बुराई के रूप मे होती है वह सुगमता से मिट सकती है,पर जो बुराई भलाई के वेष मे आती है उसका मिटना असम्भव हो जाता है। इतना ही नही, उससे अनेक दोष-

उत्पन्न होने लगते है जो चित्त को अशुद्ध कर देते हैं। अत भय का आश्रय लेकर बुराई त्याग करने से बुराई-जनित सुखासक्ति का नाश नही होता। यह नियम है कि जब तक सुखासक्ति का अन्त नही होता तव तक सर्वांश मे निर्दोषता नही आती और उसके बिना चित्त शुद्ध नही होता।

प्रलोभन भी एक वडा दोष है । उसका आश्रय लेकर किसी भी भलाई का करना भलाई नही है, अपितु भलाई के वेप मे बुराई है, क्योकि प्रलोभन की सिद्धि न होने पर भलाई स्थायी नही रह पाती अर्थात् वह जीवन से अभिन्न नही होती। अत जो कर्त्तव्य जीवन नही है वह वास्तव मे कर्त्तव्य ही नही है। इस कारण भलाई को भलाई जानकर ही किया जाय तभी चित्त शुद्ध हो सकता है । इतना ही नही, वास्तविकता तो यह है कि कर्त्तव्य और जीवन एक हो जाने पर कर्तृत्व के अभिमान से रहित कर्त्तव्य-परायणता स्वत आ जाती है और उसी से चित्त शुद्ध होता है।

यह नियम है कि अकर्त्तव्य मे कर्तृत्व का अभिमान अनिवार्य है, क्योकि वह किसी राग से प्रेरित होकर ही किया जाता है और कर्त्तव्य उस अनन्त का विधान है। इस कारण कर्त्तव्यपालन मे कर्तृत्व का अभिमान उत्पन्न ही नही होता। जिस प्रवृत्ति मे कर्तृत्व का अभिमान होता है वह सीमित अहम्-भाव को उत्पन्न करती है और जो प्रवृत्ति कर्तृत्व के अभिमान से रहित होती है उससे सीमित अहम्भाव स्वत मिट जाता है। सीमित अहम्भाव अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न करना है। भेद से कामनाओ का जन्म होता है। कामनाओं की पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख मे आवद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है । इतना ही नही, कामनाएं जिज्ञासा तथा वास्तविक लालसा को भी दवा देती है, जिससे प्राणी न तो सत्य की ही खोज कर पाता है और

न अपने परम प्रेमास्पद के प्रेम को ही प्राप्त कर सकता है । इस दृष्टि से भेद का अन्त करने के लिए सीमित अहम्भाव का अन्त करना अनिवार्य है । पर वह तभी सम्भव होगा जब साधक भय और प्रलोभन से रहित हो कर कर्त्तव्य का पालन करे ।

कर्त्तव्यपरायणता राग-रहित करने मे और अकर्त्तव्य का त्याग कर्त्तव्यपरायणता की सामर्थ्य प्रदान करने मे समर्थ है । राग रहित होते ही काम का नाश हो जाता है, जिसके होते ही इन्द्रियाँ विषयो से विमुख हो मन मे विलीन हो जाती है और मन निर्विकल्प हो कर बुद्धि मे विलीन हो जाता है, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जाती है, जो योग है । योग से चिरशान्ति तथा आवश्यक सामर्थ्य का उदय होता है । यदि उसका सदुपयोग किया जाय तो बडी ही सुगमता पूर्वक साधक को स्वाधीनता, चिन्मयता, निस्सन्देहता, अमरता एव प्रेम की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता मे ही जीवन की सार्थकता निहित है ।

वस्तु अथवा, परिस्थितियो मे जीवन बुद्धि न रहने पर बडी सुगमतापूर्वक प्राणी कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के भेद को जान लेता है क्योकि वस्तु अवस्था आदि से असग होने पर निर्लोभता, निर्मोहता आदि दिव्य गुणो की अभिव्यक्ति स्वत होती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है और चित्तशुद्धि होने पर जो होना चाहिये वह स्वत होने लगता है और नही करना चाहिये उसकी उत्पत्ति ही नही होती । जो होना चाहिये उसके होने से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और जो नही करना चाहिये उसकी उत्पत्ति न होने से नवीन राग उत्पन्न नही होता, अर्थात अकर्त्तव्य के त्याग और कर्त्तव्यपरायणता से प्राणी वीतराग हो जाता है जिसके होते ही सभी समस्याए स्वत हल हो जाती है । २०—५—५६

१६

निज ज्ञान का सामर्थ्य

[चित्त की अशुद्धि की प्रतीति जिस ज्ञान से होती है उसी ज्ञान मे चित्त की शुद्धि का उपाय भी विद्यमान है और उस उपाय को चरितार्थ करने का सामर्थ्य भी उसी ज्ञान मे है ।

समस्त सृष्टि मे जो शक्ति निरन्तर कार्य कर रही है, चित्त उसी शक्ति की सुन्दर अभिव्यक्ति है । वह स्वरूप से अशुद्ध नहीं है, अपितु व्यक्ति अपनी वनाई हुई अशुद्धि को चित्त की अशुद्धि मान लेता है ।

चित्तशुद्धि के साधन मे प्रत्येक सावक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है उसके लिए आवश्यक ज्ञान तथा सामर्थ्य अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्राप्त है । अत चित्त की शुद्धि मे निराश होना केवल अपना ही प्रमाद है और कुछ नहीं ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

चित्त की अशुद्धि की प्रतीत जिस ज्ञान से होती है उसी ज्ञान मे चित्त की शुद्धि का उपाय भी विद्यमान है और उस उपाय को चरितार्थ करने का सामर्थ्य भी उसी ज्ञान में है । अत जिसे चित्त की अशुद्धि की अनूभूति है, वह चित्त को शुद्ध करने मे सर्वदा समर्थ है । यद्यपि वह सामर्थ्य उस अनन्त की ही देन है,

परन्तु उससे इतनी अभिन्नता है कि वह अपनी ही जैसी प्रतीत होती है। यह उस दाता की विलक्षणता है कि उसने वह सामर्थ्य इतनी सुहृदयता से दी है कि जिसे वह मिली है उसे वह अपनी ही जान पडती है। यह नियम है कि सभी सीमित शक्तियाँ उस अनन्त शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं, अथवा यो कहो कि वह अनन्त शक्ति ही अपने को अनेक रूपो मे अभिव्यक्ति कर रही है, क्योकि सारी सृष्टि एक है और उसका आधार भी एक है। वह किसी एक के प्रकाश से ही प्रकाशित है। इतना ही नही, यह सारी सृष्टि उस अनन्त ही के किसी एक अश-मात्र मे है। इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु मे स्वरूप की एकता और केवल गुणो की ही भिन्नता है।

समस्त सृष्टि मे जो शक्ति निरन्तर कार्य कर रही है, चित्त उसी शक्ति की एक सुन्दर अभिव्यक्ति है। वह स्वरूप से अशुद्ध नही है, अपितु व्यक्ति अपनी बनाई हुई अशुद्धि को चित्त की अशुद्धि मान लेता है और फिर चित्त व्यक्ति के अधीन नही रहता। उस स्थिति मे व्यक्ति चित्त की निन्दा करने लगता है और इस बात को भूल जाता है कि मेरा ही दोष चित्त मे प्रतिबिंबित हो रहा है। अब विचार यह करना है कि व्यक्ति का अपना दोष क्या है? इद्रियो के अधूरे ज्ञान का चित्त पर प्रभाव अकित करना और बुद्धि के ज्ञान का अनादर करना व्यक्ति का अपना बनाया हुआ दोष है। जब साधक बुद्धि के ज्ञान से इन्द्रियो के ज्ञान का प्रभाव नष्ट कर देता है तब चित्त मे किसी प्रकार की अशुद्धि का भास नही होता। जाने हुए को न मानना न जानना नही है, अपितु भूलना है। भूल प्राकृतिक दोष नही है, प्रत्युत व्यक्ति का अपना बनाया हुआ दोष है। अपना बनाया हुआ दोष है उसी को मिटाने का दायित्व अपने पर है। यद्यपि उस दोष के मिटाने

की सामर्थ्य अनत की अहैतुकी कृपा से प्रत्येक साधक को प्राप्त है, परन्तु साधक असावधानी के कारण उस प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय नही करता। उसका परिणाम यह हुआ है कि चित्त जैसा हित-चितक अपना साथी अपने अधीन नही रहा। हम जिन दोषो को चित्त मे अकित करते रहते है, बेचारा चित्त उन दोषो को मिटाने के लिए निरन्तर स्वभाव से ही प्रयत्नशील रहता है, पर हम उसकी इस महत्ता तथा उदारता को न मानकर उसकी निन्दा ही करते है और उसे बलपूर्वक दबाते रहते है। यद्यपि चित्त को बलपूर्वक अपने अधीन कर नही सके, परन्तु फिर भी यह चेत नही होता कि वास्तविकता क्या है? हमारा चित्त हमारे अधीन क्यो नही है? हमारे और उसके बीच द्वन्द्व क्यो उत्पन्न हो गया है? यदि हमने किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध न जोडा होता तो क्या भला बेचारे चित्त मे लोभ और मोह की प्रतीति होती? कदापि नही। हम जिससे सम्बन्ध जोड लेते है चित्त पर उसी का प्रभाव अङ्कित हो जाता है। यदि हम अनन्त से नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर ले तो चित्त स्वभाव से ही अनन्त के प्रेम से भर जाता है। इस दृष्टि से चित्त जैसी अलौकिक शक्ति कितने महत्व की वस्तु है! अहम्-भाव की शुद्धि मे चित्त की शुद्धि स्वत. सिद्ध है। प्राणी अपनी अशुद्धि से ही चित्त को अशुद्ध करता है। चित्त वास्तव मे अशुद्ध है ही नही। वह तो एक विभूति मात्र है।

कामना-पूर्ति के प्रलोभन और अपूर्ति के भय ने चित्त मे राग-द्वेष अङ्कित कर दिया है। कामनाओ की उत्पत्ति एक-मात्र अविवेक सिद्ध है। अविवेक का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है, प्रत्युत प्राप्त विवेक के अनादर का नाम ही अविवेक है। प्राप्त विवेक का अनादर किसी और का बनाया हुआ दोष नही है।

जानते हुए न मानना उसी का दोष है जो जानता है। जब साधक अपने इस दोष का अन्त कर देता है तब सभी कामनाएँ स्वत मिटने लगती हैं, जिनके मिटते ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है और फिर चित्त मे लेशमात्र भी अशुद्धि का भास नही रहता।

कामनाओ की उत्पत्ति जो अविवेक सिद्ध है, परिवर्तनशील, क्षणभगुर वस्तुओ से सम्बन्ध जोडती है और जो सर्वदा, सर्वत्र, नित्य प्राप्त है उससे विमुख करती है। यह कामना उत्पत्ति का परिणाम है। वस्तुओ के सम्बन्ध ने ही, जिससे नित्य सम्बन्ध है उसकी विस्मृति और वस्तुओ की स्मृति उत्पन्न कर दी है। वस्तुओ के चिन्तन मे आबद्ध प्राणी चित्त को अशुद्ध कर लेता है। चिन्तन मात्र से किसी वस्तु की उपलब्धि नही होती, अपितु उनकी आसक्ति ही दृढ होती है, क्योकि वस्तुओ की उत्पत्ति कर्म-सापेक्ष है, चिन्तन-जन्य नही। जो कर्म-सापेक्ष है उसका चिन्तन करना चित्त को अशुद्ध करना है और कुछ नही। कर्म-अनुष्ठान प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप ही सम्भव है और उसका फल प्राकृतिक विधान से निर्मित है। कर्म-अनुष्ठान से स्वाधीनता प्राणी को प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप ही है उसके विपरीत नही। इस दृष्टि से कर्म का महत्त्व परिस्थितियो के सदुपयोग मे ही है। प्राकृतिक नियम के अनुसार परिस्थितियो के सदुपयोग मे ही उनकी दासता से मुक्त होने का साधन निहित है। अत प्रत्येक परिस्थिति आदरणीय है। पर उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना और अप्राप्त परिस्थिति का चिंतन करना चित्त को अशुद्ध करना है।

देह आदि वस्तुओ की प्राप्ति प्रतीति-मात्र है, वास्तविक प्राप्ति नही है, क्योकि यदि वस्तुएँ प्राप्त होती तो प्रत्येक सयोग निरन्तर वियोग की अग्नि मे न जलता, न सयोग जनित सुखासक्ति

दु ख मे वदलती और न नित्ययोग की लालसा ही जागृत होती। वस्तुओ के वियोग की वेदना मे नित्य योग की लालसा का जागृत होना स्वत. सिद्ध है। नित्य-योग की लालसा, उसके योग से हेतु है जो नित्य प्राप्त है। जो नित्य प्राप्त है, उससे प्रीति हो जाय, और जिन वस्तुओ का निरन्तर वियोग हो रहा है उनका विधिवत् सदुपयोग कर दिया जाय, तो वडी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है।

वस्तुओ के परिवर्तन का वोध जिसे है, उसे ही अपने अपरिवर्तन का वोध भी है। अपरिवर्तन और परिवर्तन का नित्य सबध सम्भव नही है, प्रत्युत अपरिवर्तनशील को परिवर्तनशील से विमुख होकर अपने ही मे अपने को सन्तुष्ट करना है, तभी चित्त शुद्धि हो सकता है। वडे ही आश्चर्य की वात तो यह है कि जिससे नित्य-सम्वन्ध है, जो नित्य प्राप्त है, जिसका वियोग किसी भी काल मे सम्भव ही नही है, उससे दूरी तथा उसका अभाव भासता है, और जिससे एकता किसी भी काल मे सम्भव ही नही है, जो केवल प्रतीति-मात्र है, जिसमे निरन्तर परिवर्तन है और जिसका अदर्शन है, उसकी समीपता और प्राप्ति भासती है, अर्थात् प्राप्त मे अप्राप्त-वुद्धि और अप्राप्त मे प्राप्त-वुद्धि हो गयी है, यही चित्त की अशुद्धि है।

जिससे स्वरूप की भिन्नता है उसके राग ने, जिससे स्वरूप की एकता है उससे द्वेष तथा भेद उत्पन्न कर दिया है, अर्थात् उससे आत्मीयता नही होने दी। यह नियम है कि आत्मीयता मे ही परमप्रेम निहित है। अत जिससे स्वरूप की एकता है उसी से आत्मीयता होनी चाहिए, तभी प्राप्त में प्रेम होगा।

राग की यह महिमा है कि जिससे हो जाता है उसके दोष का दर्शन नही होता, और वेचारा प्राणी उसी के अधीन हो जाता है। राग ऐसा मधुर वन्धन है कि सुदृढ श्रृखला मे वंधा प्राणी

भले ही छूट जाय पर राग मे आबद्ध, जब तक उसका त्याग न कर दे, छूट ही नही सकता। सुदृढ शृंखला का बन्धन तो दूसरो की सहायता से भी कट सकता है, पर राग का बन्धन तो रागी को स्वय तोडना पडता है। इस दृष्टि से राग का अन्त करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। पर ऐसा तभी सम्भव होगा जब उसका अभेद तथा प्रेम उससे होजाय जिससे उसने भेद तथा द्वेष स्वीकार कर लिया है। जो सर्वकाल मे अपने है उनसे आत्मीयता स्वाभाविक होनी चाहिए, और जो अपने से भिन्न है ही नही उससे अभेदता स्वत सिद्ध होनी चाहिए। जो होना चाहिए उसके न होने से ही चित्त अशुद्ध हुआ है। जिससे राग है उसका त्याग स्वाभाविक है। इस दृष्टि से बेचारा रागी राग को अपने मे भले ही सुरक्षित रखे और उसके कारण पराधीन बना रहे, पर जिससे उसका राग है वह तो रह ही नही सकता। भला ऐसी दशा मे राग से क्या लाभ ? अर्थात् कुछ नही। राग ने ही भोग की रुचि उत्पन्न की है, भोग की रुचि ने ही बेचारे प्राणी को भोग-वासनाओ मे आबद्ध किया है, भोग-वासनाओ ने ही उसे नित्य-योग से विमुख किया है और नित्य-योग की विमुखता ने ही चित्त को अशुद्ध कर दिया है।

जो अपने ही है, अथवा जो अपने से भिन्न नही है उनसे प्रेम हो सकता है और जिनसे मानी हुई एकता है, अथवा जो अपने से भिन्न है, उनकी सेवा की जा सकती है, उनसे ममता नही की जा सकती। समस्त साधन दो ही भागो मे विभाजित है, प्रेम और सेवा। किन्तु सेवा उसकी हो जो पर है, और प्रेम उससे जो पर नही है। समस्त कर्त्तव्य सेवा के प्रतीक हैं और विवेक प्रेम की भूमि है। सेवा से विद्यमान राग की निवृत्ति और सुन्दर समाज का निर्माण होता है। विवेक से अमरत्व की प्राप्ति

तथा प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। जिसकी सेवा की जाय, उनसे ममता न हो,और जिससे प्रेम किया जाय उससे कोई चाह न हो तभी चित्त शुद्ध हो सकता है। ममता-युक्त सेवा और कामना युक्त प्रेम तो चित्त को अशुद्ध ही करता है। अत चित्त को शुद्ध करने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि शरीर आदि सभी वस्तुओ की ममता का अन्त कर दिया जाय और प्राकृतिक नियम के अनुसार उनका सदुपयोग तथा उनकी सेवा की जाय। जिनसे नित्य योग है, जो सब प्रकार से अपने ही हैं, उनसे प्रेम हो, पर किसी प्रकार की चाह न हो। अचाह हुए बिना प्रेम के साम्राज्य मे प्रवेश ही नही होता और स्वार्थ-भाव का अन्त किए बिना सेवा सिद्धि ही नही होती। इस दृष्टि से चाह-रहित होने मे प्रेम और ममता तथा स्वार्थ-भाव से रहित होने मे सेवा निहित है। यह नियम है कि सेवा तथा प्रेम से चित्त स्वत. शुद्ध हो जाता है। पर यह तभी सम्भव होगा कि जब जिस ज्ञान से चित्त की अशुद्धि की अनुभूति हुई है, उसी ज्ञान के द्वारा चित्तशुद्धि की साधना का निर्माण किया जाय। चित्त की शुद्धि मे ही भौतिक विकास तथा योग, बोध एव प्रेम निहित है। भौतिक विकास मे विद्यमान राग की निवृत्ति, योग मे शान्ति और सामर्थ्य, बोध मे निस्सन्देहता और अमरत्व एव प्रेम मे अगाध अनन्त रस निहित है, जो सभी को अभीष्ट है। चित्तशुद्धि के साधन मे प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। अत चित्तशुद्धि से कभी निराश नही होना चाहिए, क्योकि जीवन की सार्थकता चित्त की शुद्धि पर ही निर्भर है, और उनके लिए आवश्यक ज्ञान तथा सामर्थ्य अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्राप्त है। अत चित्त की शुद्धि से निराश होना केवल अपना ही प्रमाद है, और कुछ नही।

२१-५-५६

१०

चित्त की महिमा

[चित्त रस तथा शाति का पुजारी है । वह निरन्तर उसीकी खोज मे लगा है जो सभी अवस्थाओ से अतीत है। इस दृष्टि से चित्त के समान प्राणी का और कोई हित चिंतक तथा आज्ञाकारी नही है। परन्तु प्राणी असावधानी से अपने दोष को चित्त का दोष मान बैठता है।

वल पूर्वक दवाया हुआ चित्त शुद्ध तथा शान्त नही होता । चित्त शुद्धि के लिए वल का सदुपयोग और विवेक का आदर करना है, वल से चित्त को दवाना नही है। वल के सदुपयोग का अर्थ है निर्बलोकी सेवा।

विवेक का आदर करते ही साधक देह आदि वस्तुओ से असग हो लाता है। वल के दुरुपयोग तथा विवेक के अनादर से चित्त मे जिन दोषो की उत्पति हो गई उनकी निवृति किये विना कोई भी चित्त को केवल श्रम मात्र से शुद्ध नही कर सकता । चित्त की शुद्ध चित्त को दबाने मे नही अपितु अपने को कर्तव्यनिष्ठ बनाकर विश्राम पाने मे है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

वलपूर्वक दबाया हुआ चित्त शुद्ध तथा शान्त नही होता, अपितु कुछ काल के लिए स्थिर जैसा भासने लगता है, कारण कि वल के प्रयोग मे शिथिलता का आना अनिवार्य है, जिसके आते ही चित्त साधक को दबाने लगता है, अर्थात् उसके

अधीन नही रहता। चित्त की ऐसी दशा देख साधक उसकी निन्दा करने लगता है और इस वात पर विचार नही करता कि चित्त मेरे अधीन क्यो नही होता। यह नियम है कि वल का उपयोग अखण्ड हो सकता, उसमे शिथिलता आती ही है, जिसके आते ही वस्तुस्थिति मे परिवर्तन हो जाता है। इसी कारण दवा हुआ चित्त पुन चचल होने लगता है। अतः जव तक चित्त शुद्ध न होगा तव तक शान्त न होगा।

चित्तशुद्धि के लिए वल का सदुपयोग और विवेक का आदर करना है, वल से चित्त को दवाना नही है। वल के सदुपयोग का अर्थ है निर्वलों की सेवा। सेवा वह भाव है, जो स्वार्थभाव गलाने मे समर्थ है। स्वार्थ भाव गलते ही पराधीनता स्वाधीनता मे वदल जाती है और फिर चित्त स्वत शुद्धता की ओर अग्रसर होने लगता है। पराधीन प्राणी का चित्त कभी शुद्ध नही हो सकता, क्योकि उसकी प्रसन्नता सदैव प्राप्त एव अप्राप्त वस्तु व्यक्ति आदि पर निर्भर रहती है इसी कारण चित्त प्राप्त की आसक्ति और अप्राप्त के चिन्तन मे आवद्ध हो जाता है। यह नियम है कि प्राप्त वस्तुओ की आसक्ति और अप्राप्ति वस्तुओ का चिन्तन चित्त को अशुद्ध ही करता है। अत स्वाधीनता के विना चित्त शुद्ध हो नही सकता। पर की सेवा मे स्वाधीनता और पर से सुख की आशा मे पराधीनता निहित है। सेवा का अर्थ है पराए दु ख से दु खी होना। पर दु ख से दु.खी होने मे पराधीनता है ही नही। इतना ही नही, पराए दु ख से दु खी होने पर चित्त मे अकित सुख भोग की आसक्ति स्वत मिटने लगती है जिसके मिटते ही चित्त मे शुद्धता स्वत. आती है। दूसरो से सुख की आशा करने मात्र से ही चित्त अशुद्ध होने लगता है, क्योकि

आशा पूरी हो गई तो राग की उत्पत्ति हो जाती है और यदि पूरी नही हुई तो क्रोध उत्पन्न होता है। राग और क्रोध दोनो ही चित्त को अशुद्ध कर देते हैं। राग से प्राणी जडता तथा पराधीनता मे आबद्ध हो जाता है, क्रोध से स्मृति नष्ट होती है और बेचारा प्राणी बिना अग्नि के दग्ध हो जाता है, जिससे प्राप्त सामर्थ्य का भी सदुपयोग नही कर पाता। स्मृति-नाश होने से कर्त्तव्य, स्वरूप तथा अनन्त की अहैतुकी कृपा विस्मृति हो जाती है। कर्त्तव्य की विस्मृति कर्त्तव्य परायणता से वचित कर देती है, स्वरूप की विस्मृति अमरत्व से विमुख कर मृत्यु मे आबद्ध कर देती है और अहैतुकी कृपा विस्मृति नित-नव प्रीति तथा उत्कठा एव उत्साह को नष्ट कर देती है। इस दृष्टि से राग तथा क्रोध चित्त को अशुद्ध ही करता है।

विवेक का आदर करते ही साधक देह आदि वस्तुओ से असग हो जाता है। वस्तुओ की असगता कामनाओ का अन्त कर देती है। कामनाओ के अन्त मे ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति निहित है। जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति से चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से विवेक का आदर चित्त-शुद्धि मे समर्थ है। प्राप्त बल के सदुपयोग तथा विवेक के आदर मे साधक सर्वदा स्वाधीन है। अत चित्त को शुद्ध करने मे लेशमात्र भी पराधीनता नही है। बल के दुरुपयोग से ही चित्त मे हिंसा आदि दोषो की उत्पत्ति होती है और विवेक के अनादर से मोह तथा अकर्त्तव्य आदि का जन्म होता है। इस दृष्टि से बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर ही चित्त की अशुद्धि मे हेतु है। बल तथा विवेक का अत्यन्त अभाव किसी भी साधक मे नही है, अपेक्षाकृत न्यूनता तथा अधिकता भले ही हो। चित्तशुद्धि के लिए अप्राप्त बल-विवेक अपेक्षित नही है, अपितु प्राप्त बल विवेक का ही सदुपयोग करना है। बल तथा

विवेक के अभाव मे तो चित्त की शुद्धि-अशुद्धि का प्रश्न ही नही है क्योकि वल के अभाव मे अकर्त्तव्य मे प्रवृत्तिही सम्भव नही है। अकर्त्तव्य के विना चित्त मे अशुद्धि आती ही नही, तो फिर शुद्धि का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है ! इतना ही नही, सीमित वल के अभाव मे या तो व्यक्तित्व ही सिद्ध नही होता अथवा अनन्त वल से एकता हो जाती है, क्योकि वल के अत्यन्त अभाव मे अहम् की उत्पत्ति ही नही होती, अहम् के विना भेद की सिद्धि नही होती, भेद के विना किसी दोप की उत्पत्ति नही होती और जव दोप की उत्पत्ति नही हुई तो निर्दोपता स्वत. सिद्ध है। अत वल और विवेक के अभाव मे चित्त अशुद्ध नही होता, प्रत्युत वल के दुरुपयोग तथा विवेक के अनादर से चित्त अशुद्ध होता है।

वल के दुरुपयोग तथा विवेक के अनादर से चित्त मे जिन दोपो की उत्पत्ति हो गई है उनकी निवृत्ति विना किये कोई भी चित्त को केवल श्रम-मात्र से ही शुद्ध नही कर सकता। श्रम की सार्थकता वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म को आलस्यरहित हो, करने-मात्र मे ही है, चित्त को दवाने मे नही। कार्य-काल मे चित्त की चंचलता का प्रश्न ही नही आता और कर्त्तव्य-कर्म मे चित्त की अशुद्धि का प्रश्न ही नही आता, कारण कि कार्य-काल मे चित्त का कार्य से तादात्म्य रहता है और कर्तव्य-कर्म विद्यमान राग की निवृत्ति का साधन-मात्र है। अत चित्त की स्थिरता और शुद्धता का प्रश्न एक कार्य की पूर्ति और दूसरे कार्य की उत्पत्ति से पूर्व,मध्य मे ही आता है और उसी काल मे चित्त कैसा है,इसका ज्ञान होता है। कार्य की शुद्धता मे कर्त्ता की शुद्धता प्रतिविम्वत होती है। कार्य कर्त्ता का ही एक चित्र है और कुछ नही। कर्त्ता मे शुद्धि कार्य के आरम्भ से पूर्व होनी चाहिए, अर्थात् शुद्ध कर्त्ता से ही शुद्ध कार्य

की सिद्धि हो सकती है। कर्ता मे शुद्धता भाव की शुद्धि से आती है और भाव मे शुद्धि निज विवेक के आदर मे है। इस दृष्टि से विवेक से भाव मे शुद्धि, भाव की शुद्धि से कर्ता मे शुद्धि और कर्ता की शुद्धि से ही कर्म की शुद्धि होती है। शुद्ध कर्म से ही बल का सदुपयोग एव विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और राग-रहित होने मे ही चित्त की शुद्धि निहित है। इस दृष्टि से श्रम का उपयोग परिस्थिति के सदुपयोग-मात्र मे है। पर चित्त की शान्ति तो वास्तविक विश्राम मे है।

विश्राम तीन प्रकार से उपलब्ध होता है—वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर एव लक्ष्य पर दृष्टि रखकर करने से,विवेक-पूर्वक चाह रहित होने से और विश्वासपूर्वक अनत की अहैतुकी कृपा के आश्रित होने से। विश्राम-काल मे चित्त स्थिर शात तथा शुद्ध तो हो ही जाता है, उसके अतिरिक्त आवश्यक शक्ति का विकास भी होता है। ऐसा कोई सामर्थ्य है ही नही जिसका उद्गम-स्थान विश्राम न हो। श्रम से सामर्थ्य का सद्व्यय हो सकता है और विश्राम से आवश्यक सामर्थ्य की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से श्रम के अत मे विश्राम अपेक्षित है, अथवा यो कहो कि विश्राम से ही श्रम की उत्पत्ति होती है, और विश्राम मे ही श्रम विलीन होता है, क्योकि श्रम के आदि और अन्त मे विश्राम ही है। इस रहस्य को जो साधक जान लेता है वह बडी ही सुगमतापूर्वक चित्त को शुद्ध, शात तथा स्वस्थ कर लेता है। चित्त की शुद्धि मे सर्व-हितकारी सद्भावनाए तथा शान्ति मे सामर्थ्य और स्वाधीनता निहित है और चित्त के स्वस्थ होने पर किसी भी दशा मे न तो शाति भग होती है और न अशुद्धि आती है। तब चित्त को जिसमे लगाना चाहिए उसमे वह स्वभाव से ही लग जाता है, और जिससे हटाना चाहिए उससे हट जाता है,

अथवा यो कहो कि प्रवृत्तिकाल मे चित्त अनासक्त और निवृत्ति-काल मे चिन्मय जीवन मे विलीन हो जाता है । इतना ही नही, आगे-पीछे का व्यर्थ चिंतन सदा के लिए मिट जाता है तथा प्रत्येक दशा मे शाति, प्रसन्नता एवं निर्भयता सुरक्षित रहती है ।

अब यदि कोई यह कहे कि सामर्थ्य का सम्पादन तो श्रम मे है, विश्राम मे नही,क्योंकि श्रम से ही प्राणी को आवश्यक वस्तुए प्राप्त होती हैं । श्रम आलस्य का अत करने के लिए वडे ही महत्व की वस्तु है । शारीरिक और वौद्धिक श्रम तथा प्राकृतिक पदार्थो के संयोग से ही आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन होता है। यह बात भी ठीक ही है,पर वस्तुओ की प्राप्ति तथा उनके सग्रह मे सामर्थ्य है—यह वात विचारणीय है । सामर्थ्य की कसौटी क्या है, यदि इस पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट विदित होता है कि जो करना चाहिए वह स्वत होने लगे और जो नही करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही न हो, ऐसा जिसका जीवन है, वही सामर्थ्य-वान् है । इतना ही नही, सामर्थ्यशाली देश, समाज, वर्ग, जाति, व्यक्ति आदि वे ही माने जा सकते है कि जिनके द्वारा किसी का अहित न हो, और जिनकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर न हो । जो नही होना चाहिए उसके करने मे ही दूसरो का अहित है और राग-द्वेप आदि की उत्पत्ति मे अपनी प्रसन्नता का अभाव है । इस दृष्टि से जिसके द्वारा किसी का अहित नही होता, और जो राग-द्वेप रहित हैं, वही सामर्थ्यशाली है । वस्तुओ के सग्रह-मात्र से कोई सामर्थ्यशाली नही हो जाता अपितु वस्तुओं का सग्रह तथा दुरुपयोग ही कर्त्ता को तथा समाज को असमर्थ वनाता है । जिससे असमर्थता आ जाय उसे सामर्थ्य कहना कहाँ तक युक्तियुक्त है ? सामर्थ्य तो वही है जिससे असमर्थता का विनाश हो। इस दृष्टि से वह सामर्थ्य जिससे असमर्थता मिट जाती

है, विश्राम मे निहित है, श्रम मे नही। हाँ, एक बात विचारणीय है कि कही आलस्य को विश्राम न मान लिया जाय। आलस्य और विश्राम मे बडा भेद है। आलसी के जीवन मे व्यर्थ चिंतन का प्रवाह रहता है और वह वस्तु, व्यक्ति आदि का दास हो जाता है। परन्तु जिन्हे विश्राम प्राप्त है वे सदैव वस्तु, व्यक्ति आदि से अतीत के जीवन मे अविचल भाव से निवास करते हैं। उनमे व्यर्थ चिन्तन की तो गध भी नही रहती, अपितु उनका शरीर विश्व के काम आ जाता है, हृदय मे प्रीति की गगा लहराती है और वे सब प्रकार के अभिमान से रहित हो जाते है जो वास्तव मे चित्तशुद्धि का परिणाम है।

यह प्राकृतिक नियम है कि जो किसी को भी भय देता है अथवा दबाता है उसे स्वय भी भयभीत होना पडता है और उसकी विरोधी शक्ति उसे अवश्य दबाती है। इस दृष्टि से साधक के जीवन मे किसी को भय देने तथा दबाने का कोई स्थान नही है। तो फिर चित्त जैसी अलौकिक दिव्य शक्ति को भय देना, दबाना, उसकी निंदा करना कहाँ तक न्यायसगत है। बेचारा चित्त रस तथा शाति का पुजारी है। वह निरतर उसी की खोज मे लगा है। हम उसे भय तथा प्रलोभन देकर किसी न किसी अवस्था मे आबद्ध करना चाहते हैं। पर वह तो सभी अवस्थाओ से अतीत की ओर जाना चाहता है। इस कारण चित्त कभी भी किसी भी अवस्था मे अधिक देर तक नही ठहरता। किसी भी अवस्था मे देर तक नही ठहरना चित्त का दोष नही है अपितु विशेषता है। यदि साधक चित्त पर से अपना शासन हटा ले और अपने मे से सभी माने हुए संबधो का अत कर दे तो चित्त बडी ही सुगमतापूर्वक शुद्ध, शात तथा स्वस्थ हो जावेगा। बेचारा चित्त देखे-सुने तथा माने हुए सम्बन्धो मे ही भटकता है। साधक असावधानी के

कारण स्वयं तो माने हुए सम्वन्धो का त्याग नही करता, जिस अनंत से नित्य सबध है उसको स्वीकार नही करता और चित्त से यह आशा और करता है कि वह कही न भटके,एक ही मे लगा रहे। भला इसमे चित्त का क्या दोप है ? यदि उस वेचारे का कोई दोष है तो केवल इतना ही कि वह आपके माने हुए सबंधो का आदर करता है। और अधिक देर तक इसलिए नही ठहरता कि उसे उसकी ओर जाना है जिससे प्राणी का नित्य सबंध है। इस दृष्टि से चित्त के समान प्राणी का और कोई हित-चिन्तक तथा आज्ञाकारी नही है। परन्तु प्राणी असावधानी से अपने दोष को चित्त का दोष मान वैठता है।

अव यदि कोई यह वात स्वीकार न करे तो उसे चाहिये कि वह चित्त से सबध तोड दे। चित्त ने एक वार भी किसी से नही कहा कि मैं तुम्हारा हूँ। फिर भी जिसे उसने अपना कहा उसके दोप को उस वेचारे ने अपना दोष मान लिया। जो चित्त की निंदा करता है, क्या वेचारे चित्त ने भी कभी उसकी निंदा की? कदापि नही। चित्त से सम्वन्ध तोडने पर भी चित्त स्वभाव से ही शुद्ध हो जाता है। अत. अपने को निर्दोष वनाकर चित्त को शुद्ध कर लो अथवा चित्त से असग हो जाओ तो चित्त शुद्ध हो जावेगा। इस दृष्टि से चित्त की शुद्धि चित्त को दवाने मे नही है, अपितु अपने को कर्त्तव्य-निष्ठ वनाकर विश्राम पाने मे है।

२२-५-५६

३१

चित्त की चंचलता एवं संकल्पों की निवृति

[चित्त की चचलता की अनुभूति उसी काल मे होती है जिस काल मे चित्त की स्थिरता तथा शान्ति का प्रयास होता है।

प्राकृतिक नियमानुसार सकल्प-पूर्ति राग की वास्तविकता को जानने के लिए है और सकल्प-अपूर्ति का सदुपयोग नवीन राग की उत्पत्ति न होने मे है। पर सकल्प-पूर्ति को हो जीवन मान लेना प्रमाद है जिससे चित्त चचल व अशुद्ध होता है।

सकल्प-अपूर्ति मे यदि यह अनुभव किया जाय कि उसमे उस अनत के सकल्प की पूर्ति है तो वडी सुगमता से सकल्प-अपूर्ति की वेदना अनन्त प्रेम को जागृत कर सकती है। सकल्प-अपूर्ति मे सकल्प निवृत्ति की प्रेरणा है। सकल्प-निवृत्ति वस्तुओ से अतीत के जीवन का महत्व वढाती है। उस जीवन की लालसा मात्र से चित्त शुद्ध हो जाता है]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय

चित्त की चचलता की अनुभूति उसी काल मे होती है जिस काल मे चित्त की स्थिरता तथा शाति का प्रयास होता है। जब तक प्राणी के जीवन मे चित्त की स्थिरता तथा शान्ति का प्रश्न ही नही उत्पन्न होता, तब तक चित्त चञ्चल है, इस बात की

अनुभूति नही होती। इस दृष्टि से चित्त की चाचलता की अनुभूति मे चित्त की स्थिरता की साधना निहित है। अत चित्त की चञ्चलता की अनुभूति जब-जब हो,तब-तब यह समझना चाहिए कि चित्त की स्थिरता की साधना आरम्भ हो गयी।

अब यह विचार करना है कि चित्त की चञ्चलता का भास ही कब होता है? उत्पन्न हुए सकल्पो की पूर्ति तथा पूर्ति के आशा-काल मे चित्त मे चञ्चलता का भास नही होता और यदि उत्पन्न हुए सकल्प का त्याग कर दिया जाय तब भी चञ्चलता का भास नही होता, किन्तु जब उत्पन्न हुए संकल्प की अपूर्ति की सम्भावना होती है तब चित्त की चञ्चलता का भास होता है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि सकल्प-अपूर्त्ति न हो अथवा संकल्प की उत्पत्ति ही न हो तो चित्त की चचलता की किसी को भी अनुभूति नही हो सकती,क्योकि सकल्प-पूर्ति-काल मे तो चित्त शरीर, इन्द्रिय आदि वस्तुओ से तद्रूप हो जाता है और सकल्प-निवृत्ति-काल मे चित्त का स्वत निरोध हो जाता है। अत यह निर्विवाद सिद्ध है कि संकल्पो की अपूर्त्ति-काल मे ही चित्त की चचलता का भास है।

सकल्प-अपूर्ति का चित्र ही क्यो आता है? अनावश्यक सकल्पो की उत्पत्ति से। अनावश्यक सकल्प ही क्यो उत्पन्न होते हैं? संकल्प-पूर्ति मे ही जीवन-बुद्धि होने से। सकल्प-पूर्ति-मात्र मे ही जीवन-बुद्धि क्यो होती है? शरीर, इन्द्रिय आदि वस्तुओ से तादात्म्य स्वीकार करने पर। समस्त सकल्पो का उद्गम-स्थान भी वस्तु से तादात्म्य है और सकल्प-पूर्ति मे भी वस्तुओ की ही महत्ता है, अथवा यो कहो कि वस्तु ही जीवन है, यह दृढता ही वास्तव मे सकल्प का स्वरूप है। वस्तुओ के अस्तित्व की अस्वीकृति मे सकल्पो की उत्पत्ति ही नही है। इस दृष्टि से वस्तुओं के

सूक्ष्म रूपका नाम सकल्प और सकल्प के स्थूल रूप का नाम वस्तु है। वस्तु और सकल्प के स्वरूप मे एकता है। जैसे बीज और वृक्ष मे एकता भी है और भिन्नता भी भासती है, उसी प्रकार संकल्प और वस्तुओ मे एकता होने पर भी भिन्नता भासती है। इसी कारण वस्तु की अस्वीकृति मे सकल्प की उत्पत्ति ही नही होती और निर्विकल्पता मे वस्तु की प्रतीति ही नही होती। अत यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सकल्प और वस्तु, ये दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू है, उसे वस्तु कहो अथवा सकल्प। ऐसा कोई सकल्प नही जिसमे विकल्प न हो,और ऐसी कोई वस्तु नही जिसमे परिवर्तन तथा उसका अदर्शन न हो। इस दृष्टिकोण से भी वस्तु और सकल्प मे एकता ही है, अर्थात् वस्तुओ से तादात्म्य अथवा उनमे जीवन-बुद्धि होने से ही सकल्प-पूर्ति का महत्व बढ जाता है, जिससे सकल्प-पूर्ति के सुख मे आसक्ति हो जाती है और उससे ही सकल्प-अपूर्ति का चित्र आता है। सकल्प-अपूर्ति की वेदना ज्यो-ज्यो बढती जाती है, त्यो-त्यो सकल्प-पूर्ति के सुख की दासता स्वत गलती जाती है। जिस काल मे पूर्ण रूप से सकल्प-अपूर्ति की वेदना जागृत हो जाती है उसी काल मे सकल्प-निवृत्ति की लालसा उदित होती है, जो सकल्पो का अन्त कर निर्विकल्पता प्रदान करती है, जिससे चित्त की चचलता स्थिरता मे बदल जाती है।

यद्यपि सकल्प-पूर्ति तथा अपूर्ति कोई विशेष ह्रास तथा विकास नही है, परन्तु सकल्प-पूर्ति की दासता मे ह्रास और सकल्प-अपूर्ति की वेदना मे विकास निहित है। प्राकृतिक नियमानुसार संकल्प-पूर्ति राग की वास्तविकता को जानने के लिए है और सकल्प-अपूर्ति का सदुपयोग नवीन राग की उत्पत्ति न होने मे है। इस दृष्टि से सकल्प-पूर्ति-अपूर्ति दोनो ही उपयोगी है। पर

सकल्प-पूर्ति को ही जीवन मान लेना तो एक-मात्र प्रमाद ही है, जिससे चित्त चचल तथा अशुद्ध होता है।

संकल्प-पूर्ति की समस्या ही प्राणी का वस्तुओ से सम्बन्ध जोड देती है, कारण कि यदि सकल्प-पूर्ति की रुचि न हो तो बुद्धि मन के, मन इन्द्रियो के और इन्द्रियाँ विषयो के अधीन न हो, अपितु सकल्प-पूर्ति का महत्व मिट जाने से इद्रियाँ प्रत्येक प्रवृत्ति के अत मे स्वभाव से ही विषयो से विमुख होकर मन मे विलीन हो जाय और मन निर्विकल्प होकर बुद्धि मे विलीन हो जाय, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जायगी। बुद्धि सम होते ही वस्तुओं से स्वत सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और फिर संकल्प-पूर्ति-अपूर्ति का प्रश्न ही नही रहता। इस दृष्टि से सकल्प-पूर्ति का महत्व न रहने मे निर्विकल्पता स्वत सिद्ध है, जो चित्त को स्थिर तथा शान्त करने मे समर्थ है।

यद्यपि सकल्प-पूर्ति-अपूर्ति दोनो ही मे उस अनन्त का मगल-मय विधान निहित है, क्योकि दोनो ही के सदुपयोग मे प्राणी का हित है, परन्तु प्राणी असावधानी से सकल्प-अपूर्ति के दुख से भयभीत हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि सकल्प-पूर्ति का महत्व बढ़ जाता है, जो चित्त की अशुद्धि मे हेतु है। संकल्प-अपूर्ति मे यदि यह अनुभव किया जाय कि यह उस अनत के सकल्प की पूर्ति है तो बडी सुगमता से सकल्प-अपूर्ति की वेदना उस अनत के प्रेम को जागृत कर सकती है। इस दृष्टि से सकल्प-अपूर्ति का कितना महत्व है? परन्तु बेचारा प्राणी इस रहस्य को बिना ही जाने संकल्प-अपूर्ति के दु:ख से भयभीत हो जाता है। अत जब-जब जीवन सकल्प-अपूर्ति का चित्र सामने आए तब-तब साधक को यही समझना चाहिए कि मेरे संकल्प की अपूर्ति मे प्रेमास्पद के संकल्प की पूर्ति निहित है, जो प्रेमी के लिए रस-

रूप है। भौतिक दृष्टि से व्यक्ति के संकल्प की अपूर्ति मे समाज के सकल्प की पूर्ति है, और आध्यात्मिक दृष्टि से सकल्प-अपूर्ति मे सकल्प निवृत्ति की प्रेरणा है, अथवा यो कहो कि अभाव की अनुभूति है, जो अभाव का अभाव करने की प्रेरणा देती है। सभी दृष्टियो से सकल्प-अपूर्ति का बडा ही महत्व है। संकल्प-अपूर्ति के महत्व को अपना लेने पर सकल्प पूर्ति का महत्व अपने आप मिट जाता है,जिसके मिटते ही संकल्प-अपूर्ति मे दु ख जैसी कोई वस्तु ही नही रह जाती। अत सकल्प-अपूर्ति-काल मे साधक को एक विशेष प्रसन्नता का अनुभव करना चाहिए। सकल्प-अपूर्ति की प्रसन्नता सकल्प-निवृत्ति प्रदान करने मे समर्थ है। इतना ही नही सकल्प-पूर्ति यदि वस्तुओ का महत्व बढाती है तो सकल्प-निवृत्ति वस्तुओं से अतीत के जीवन का महत्व बढाती है। वस्तुओ से अतीत के जीवन से किसी प्रकार का वैषम्य, अभाव तथा जडता नही है। इसी कारण उस जीवन की लालसा-मात्र से चित्त शुद्ध हो जाता है।

वस्तुओ से अतीत के जीवन की लालसा तभी सबल तथा स्थायी हो सकती है जब सकल्प-पूर्ति की अपेक्षा सकल्प-निवृत्ति मे विशेष अभिरुचि हो। उसमे अभिरुचि तभी होती है जब सकल्प-अपूर्ति की वेदना सकल्प-पूर्ति के सुख के राग को मिटा सके। इस दृष्टि से सकल्प-अपूर्ति की वेदना मे ही सकल्प निवृत्ति की साधना निहित है। परन्तु सकल्प-अपूर्ति के दु ख से भयभीत होना, और सकल्प-पूर्ति की दासता को जीवित रखना कुछ अर्थ नही रखती। सकल्प-अपूर्ति के दु ख से दु खी होना चाहिए,पर सङ्कल्प-पूर्ति की आशा मे आबद्ध नही रहना चाहिए। दु ख का होना कोई दोष नही है पर उसके भय से भयभीत होकर सुख का चिन्तन करना वास्तविक दोप है। दु ख जितना गहरा होता है

उतनी ही स्पष्ट जागृति आती है, क्योकि दुःख ही एक ऐसा मूल मत्र है जिससे वस्तु, व्यक्ति आदि के स्वरूप का वोध होता है। वस्तु आदि का यथार्थ ज्ञान वस्तुओ से असङ्गता प्रदान करने मे समर्थ है। वस्तुओ की असङ्गता मे ही अचाह पद की प्राप्ति, और उसमे ही चित्त-शुद्धि निहित है।

वस्तुओ से तादात्म्य अविवेक-सिद्ध है, वास्तविक नही। अविवेक विवेक का अभाव नही, अपितु विवेक का अनादर है। विवेक का अनादर कव से आरम्भ हुआ है, इसका पता सम्भव नही, परन्तु विवेक का आदर वर्तमान मे ही हो सकता है, और उसके आदर-मात्र से ही अविवेक का अभाव हो सकता है, यह निर्विवाद सत्य है। अभाव उसी का होना है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व न हो, अर्थात् जो किसी और की सत्ता से ही सत्ता पाता है। इसी कारण किसी ने भी अविवेक को विषय नही किया। उसके प्रभाव से भले ही अपने को असावधान कर लिया हो, पर अविवेक को अविवेकी ने अपने से भिन्न कभी नही देखा, जिस प्रकार निर्धन मे धन की लालसा रहती है, अथवा यो कहो कि जैसे धन की लालसा के अतिरिक्त निर्धनता कुछ नही है, उसी प्रकार विवेक की लालसा के अतिरिक्त अविवेक कुछ भी नही है और अविवेक से भिन्न अविवेकी का कोई अस्तित्व नही है। इस दृष्टि से अविवेक कव तक है? जव तक प्राप्त विवेक का आदर नही, और प्राप्त विवेक का आदर कव तक नही? जव तक इंद्रिय-ज्ञान मे ही तादात्म्य तथा सद्‌बुद्धि है। इन्द्रियो के ज्ञान मे सदेह होते ही जिज्ञासा स्वतः जागृत होती है। जिज्ञासा की जागृति सभी कामनाओ का अन्त कर अपनी पूर्ति में आप समर्थ हो जाती है। यह नियम है कि जिज्ञासा की पूर्ति में ही निस्सदेहता तथा निर्भयता निहित है। भय तथा सदेह का अंत होने पर चित्त

स्वभाव से ही शुद्ध तथा शान्त होने लगता है, क्योकि भय तथा सन्देह ने ही चित्त को अशुद्ध किया है। यदि भय तथा सन्देह की वेदना असह्य हो जाय, अथवा यो कहो कि उसका मिटाना वर्त-मान जीवन की वस्तु हो जाय तो बडी सुगमतापूर्वक भय तथा सन्देह का अन्त हो सकता है परन्तु जब तक प्राणी भय तथा सन्देह के रहते हुए चैन से रहता है, तब तक उसका अन्त नही होता। निस्सन्देह एव अभय होने की माग इतनी तीव्र होनी चाहिए कि उसके बदले मे कोई भी प्रलोभन उस माग मे शिथि-लता उत्पन्न न कर सके। प्राणी अपनी माँग की पूर्ति मे भले ही असमर्थ हो, परन्तु अपूर्ति-जनित दु ख मे तो सर्वदा समर्थ है। माग की अपूर्ति का दु ख उस समय तक उत्तरोत्तर बढते रहना चाहिए जब तक माग की पूर्ति न हो जाय। यह तभी सम्भव होगा जब निस्सन्देहता एव निर्भयता की प्राप्ति से लेशमात्र भी निराशा न हो, अपितु नित-नव आशा का सचार होता रहे।

सन्देह तथा भय सदैव सुरक्षित नही रह सकते, क्योकि निस्सन्देहता तथा निर्भयता मे ही जीवन है। जो जीवन है उससे निराश होना प्रमाद है, और कुछ नही प्रमाद अपना ही बनाया हुआ दोष है। प्रमाद को प्रमाद जान लेने पर वह बडी ही सुग-मतापूर्वक मिट जाता है, और उसके मिटते ही चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है। चित्त की शुद्धि मे ही चित्त की शान्ति तथा प्रस-न्नता निहित है। शान्ति सामर्थ्य को प्राप्त कराती है और प्रसन्नता खिन्नता को खाकर काम का अन्त करती है काम के अन्त मे ही सब प्रकार के सुख-दु ख का अन्त हो जाता है, और सुख-दु ख से अतीत के जीवन की प्राप्ति स्वत हो जाती है। इस दृष्टि से चित्त की शुद्धि वर्तमान की ही वस्तु है और उसी मे जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है। २३—५—५६

२२

ज्ञान और जीवन की अभिन्नता

[ज्ञान और जीवन मे भेद प्रतीत होना चित्त की अशुद्धि है ।

वास्तविक ज्ञान मे निस्सन्देहता और अधूरे ज्ञान मे सन्देह है । सन्देह की वेदना मे ही जिज्ञासा की जागृति है, और जिज्ञासा की पूर्ति मे ही वास्तविक ज्ञान है ।

जीवन उसे नही कह सकते जिसका कभी अभाव हो अथवा जिसमे परिवर्तन हो । इस दृष्टि से वास्तविक जीवन वस्तुओ से अतीत होना चाहिए ।

विषयो की विमुखता मे वस्तुओ की महत्ता कुछ नही रहती, जिसके न रहने पर वस्तुओ से अतीत के जीवन मे प्रवेश हो जाता है ।

चित्तशुद्धि मे ही व्यक्ति का पुरुषार्थ है जो अपने मे से वस्तु-भाव का त्याग और वस्तुओ मे अहम्‌भाव का त्याग करने पर स्वत हो जाता है, और फिर ज्ञान और जीवन मे भेद नहीं रहता । अत इस भेद का अन्त करने के लिए चित्त की शुद्धि ही परम पुरुषार्थ है ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

ज्ञान और जीवन मे भेद प्रतीत होना ही चित्त की अशुद्धि है वास्तव मे तो ज्ञान मे ही जीवन और जीवन मे ही ज्ञान है ।

जीवन और ज्ञान मे विभाजन सम्भव नही है। जो सम्भव नही है, उसका भासित होना चित्त की अशुद्धि के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ? क्या वह जीवन हो सकता है जो अपने को अपने आप प्रकाशित न करे ? कदापि नही। जो अपने को अपने आप प्रकाशित कर रहा है, क्या वह ज्ञान-शून्य हो सकता है ? कभी भी नही। इस दृष्टि से ज्ञान ही जीवन, और जीवन ही ज्ञान है।

वास्तविक ज्ञान मे निस्सन्देहता है और अधूरे ज्ञान मे सन्देह है। सन्देह की वेदना मे ही जिज्ञासा की जागृति है, और जिज्ञासा की पूर्ति मे ही वास्तविक ज्ञान है। इसलिए जितने प्रश्न उत्पन्न होते है, उन सबकी भूमि अल्प-ज्ञान है, ज्ञान का अभाव नही। अल्प-ज्ञान मे ही सद्भाव होने से कामनाओ की उत्पत्ति होती है। यद्यपि कामनाओ की उत्पत्ति जिज्ञासा को मिटा नही पाती; परन्तु उसमे शिथिलता अवश्य आ जाती है जिससे सन्देह की वेदना दब जाती है और कामना-पूर्ति के सुख की दासता उत्पन्न हो जाती है। जब तक सन्देह की वेदना सबल नही होती, तब तक कामना-पूर्ति के सुख का प्रलोभन नष्ट नही होता। उसके नष्ट हुए बिना न तो जिज्ञासा की पूर्ति होती है और न परमप्रेम का उदय ही होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार निस्सन्देहता मे ही जीवन तथा प्रेम मे ही रस निहित है। किसी भी प्राणी को रस-विहीन जीवन प्रिय नही, और जीवन-रहित रस भी अभीष्ट नही, अर्थात् रस और जीवन दोनो ही की आवश्यकता है। रस मे जीवन है, अथवा जीवन मे रस है, इसका निर्णय युक्तियुक्त सम्भव नही, किन्तु यह सभी को मान्य है कि यदि जीवन हो तो उसमे रस अवश्य हो।

जीवन उसे नही कह सकते जिसका कभी अभाव हो अथवा जिसमे परिवर्तन हो, और रस उसे नही कह सकते जिसमे क्षति,

पूर्ति तथा निवृत्ति हो । इस दृष्टि से वस्तु आदि से तद्रूप होने मे न तो जीवन की ही सिद्धि है और न रस की ही उपलब्धि सम्भव है, क्योकि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही सतत परिवर्तनशील है, और उसका अदर्शन होता है, अथवा यो कहो कि प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति-विनाश-युक्त है। उत्पत्ति-विनाश के क्रम मे स्थिति केवल भास-मात्र है । जिसकी स्थिति ही सिद्ध नही उसमे जीवन की स्वीकृति कुछ अर्थ नही रखती ।

यद्यपि जीवन की माग प्राणीमात्र मे स्वाभाविक है, परन्तु जिसमे जीवन की माग है, क्या वह स्वय जीवन नही है ? यदि वह स्वय जीवन है तो माग कैसी, और माग हैं तो जीवन कैसा ? क्योकि बिना अभाव की अनुभूति के माग की उत्पत्ति ही नही हो सकती और जिसमे माग की उत्पत्ति होगी, उसका अस्तित्व माग की उत्पत्ति से पूर्व भी होना चाहिए । यदि अस्तित्व है तो फिर जीवन की लालसा कैसी ? यह नियम है कि लालसा तथा जिज्ञासा उसी की हो सकती है जिसका नित्य, स्वतत्र, स्वत सिद्ध अस्तित्व है। किसी भी उत्पत्ति-विनाश-युक्त वस्तु का नित्य, स्वतत्र, स्वत -सिद्ध अस्तित्व नही हो सकता । अत वस्तुओ के आश्रय से जीवन की उपलब्धि सम्भव नही है, अथवा यो कहो कि वस्तुओ मे जीवन-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नही है। इस दृष्टि से वास्तविक जीवन वस्तुओ से अतीत होना चाहिए। वस्तुओ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही वस्तुओ से असगता प्रदान करने मे समर्थ है ।

इन्द्रियो के ज्ञान से वस्तुओ मे सत्यता तथा सुन्दरता भासती है, परन्तु फिर भी कोई वस्तु अपने को अपने आप प्रकाशित नही करती । इतना ही नही, बेचारी इन्द्रियाँ भी अपने को अपने आप प्रकाशित नही करती । इस दृष्टि से इन्द्रियो की गणना

भी वस्तुओ ही मे आती है । यद्यपि प्रत्येक इन्द्रिय जिस वस्तु को विषय करती है उस वस्तु की अपेक्षा उसमे कुछ विलक्षणता है, परन्तु पर-प्रकाश्य होने के कारण इन्द्रियो का भी स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नही हो सकता । जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नही हो सकता, उसमे कितनी ही विलक्षणता क्यो न हो, वह वस्तु ही है । प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय की अपेक्षा सूक्ष्म तथा विभु भले ही हो, परन्तु जिस ज्ञान से इन्द्रियो का ज्ञान होता है, उसकी अपेक्षा तो इन्द्रिया स्थूल तथा सीमित ही है (इन्द्रियो का ज्ञान जिससे होता है उसे बुद्धि का ज्ञान कहते है) । जिस ज्ञान से प्राणी इन्द्रियो को विषय करता है, उस ज्ञान से प्रत्येक वस्तु वैसी नही मालूम होती जैसी इन्द्रियो के ज्ञान से प्रतीत होती है । यद्यपि वस्तु वही है जिसे इन्द्रियो ने विषय किया, परन्तु ज्ञान मे भेद होने के कारण वस्तु के सम्बन्ध मे निर्णय वह नही रहा जो इन्द्रियो का था । इन्द्रियो ने जिसे सत्य और सुन्दर बताया था, उसी को उस ज्ञान ने, जिसने इन्द्रियो को विषय किया, अनित्य तथा असुन्दर बताया । एक ही वस्तु के सम्बन्ध मे विपरीत निर्णय होने के कारण व्यक्ति मे वास्तविकता जानने की जिज्ञासा स्वत होती है । इन्द्रियो के ज्ञान के प्रभाव ने व्यक्ति मे कामनाओ को जन्म दिया और उस ज्ञान ने जिज्ञासा को जागृत किया, जिससे कि इन्द्रियो को जाना था । दोनो प्रकार के ज्ञान का प्रभाव किसी एक पर ही है, और उसी मे कामना तथा जिज्ञासा निवास करती है ।

कामना-पूर्ति का प्रलोभन जिज्ञासा को शिथिल बनाता है और जिज्ञासा की जागृति कामनाओ का नाश करती है । जो व्यक्ति अपने को कामनायुक्त मानता था वही अपने को जिज्ञासु मानता है । जिस ज्ञान से वस्तुएं सत्य और सुन्दर मालूम होती

थी वह ज्ञान उस ज्ञान की अपेक्षा अल्प है जिससे वस्तुए अनित्य तथा असुन्दर मालूम होती हैं। एक काल मे किसी भी व्यक्ति पर एक प्रकार के ज्ञान का ही प्रभाव रहता है। इन्द्रियो के ज्ञान का प्रभाव मिटते ही राग वैराग्य मे और भोग योग मे बदल जाता है, जिसके बदलते ही कामनाए मिट जाती है और जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है, अथवा यो कहो कि कामनाओ का नाश इन्द्रियो को विपयो से विमुख कर देता है । विपयो से विमुख होते ही इन्द्रियो का ज्ञान उस ज्ञान मे विलीन हो जाता है, जिसने इन्द्रियो को विषय किया था।

विषयो की विमुखता मे वस्तुओ की महत्ता कुछ नही रहता, जिसके न रहने पर वस्तुओ से अतीत के जीवन मे प्रवेश हो जाता है। उस जीवन मे पराधीनता नही है, और दीनता तथा अभिमान नही है। जहाँ दीनता और अभिमान नही है, वहाँ विपमता भी नही है। जहाँ विषमता नही रहती, वहाँ प्रसन्नता स्वत उदित होती है । जहाँ प्रसन्नता रहती है वहाँ खिन्नता निवास नही करती और जहाँ खिन्नता निवास नही करती वहाँ काम की उत्पत्ति ही नही होती। काम का अभाव होते ही भेद या भिन्नता स्वत मिट जाती, जिसके मिटते ही निस्सन्देहता, निर्भयता, चिन्तनमयता आदि जीवन मे स्वत प्राप्त होती है। उसी जीवन की माग वस्तुओ मे आवद्ध प्राणी को रहती है। वस्तुओ की दासता ने ही प्राणी को उस जीवन से विमुख किया है। उस जीवन की विमुखता से जीवन की माँग उत्पन्न हुई है जिसकी पूर्ति अनिवार्य है पर कब ? जब वस्तुओ से अपने को असग कर लिया जाय। वस्तुओ से असग होने के लिए इन्द्रियो के ज्ञान का प्रभाव मिटाना होगा। इन्द्रियो के ज्ञान का प्रभाव मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही साधक वास्तविक जीवन

का अधिकारी हो जाता है।

इन्द्रियो के ज्ञान का प्रभाव जिस ज्ञान से मिटता है वह ज्ञान भी अल्प है, क्योकि राग को वैराग्य मे और भोग को योग मे परिवर्तित कर देने के बाद वह ज्ञान अपने को अपने आप प्रकाशित नही करता। जो पर-प्रकाश्य है वह नित्य नही हो सकता। निस्सन्देहता नित्य-ज्ञान मे ही निहित है। यद्यपि नित्य ज्ञान का किसी भी काल मे अभाव नही है, परन्तु अल्प ज्ञान को ही ज्ञान मान लेने पर नित्य-ज्ञान से भिन्नता भासने लगती है। यह नियम है कि वस्तुओ के परिवर्तन का ज्ञान जब वस्तुओ की सत्यता के ज्ञान का अपहरण कर लेता है तब साधक की नित्य-ज्ञान से अभिन्नता स्वत हो जाती है। चित्तशुद्धि के लिए वस्तुओ के परिवर्तन तथा अदर्शन के ज्ञान का अभाव अनिवार्य है।

वस्तुओ की सत्यता तथा सुन्दरता के ज्ञान का प्रभाव और वस्तुओ के परिवर्तन तथा अदर्शन के ज्ञान का प्रभाव जिस पर होता है, उसी मे जीवन तथा रस की माग है, क्योकि वही खिन्नता तथा मृत्यु से भयभीत है। खिन्नता और मृत्यु का भय जीवन तथा रस की आवश्यकता जागृत करता है, परन्तु कब ? जब खिन्नता तथा मृत्यु के भय से साधक अधीर न हो जाय, अपितु उस भय का नाश करने के लिए उत्कण्ठा एव उत्साह-पूर्वक साधन मे तत्पर बना रहे।

भय का अन्त वर्तमान की वस्तु है। उसके लिए भविष्य की आशा करना, अथवा उससे निराश होना साधक का प्रमाद है और इस प्रमाद से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। यद्यपि भय की अनुभूति निर्भयता की लालसा जागृत करने मे समर्थ है, परन्तु भय की अनुभूति-भय से ही अधीर हो जाने पर प्राणी जडता मे आबद्ध हो जाता है, जिससे जिज्ञासा में शिथिलता आ जाती है,

जिसके आते ही 'वस्तु ही जीवन है' और 'जीवन ही वस्तु है' ऐसा मान बैठता है। इस मान्यता ने ही भय का अन्त नही होने दिया। साधक के जीवन मे इस मान्यता का कोई स्थान ही नही है।

वस्तु मे अहम्-बुद्धि स्वीकार करने पर ही वस्तु का महत्त्व वढता है और वस्तुओ की कामना उत्पन्न होती है, क्योकि वस्तु से अतीत होने पर किसी भी वस्तु की कामना उत्पन्न नही होती। वस्तु मे अहम्-वुद्धि जिस देव ने स्वीकार की है, उसका स्वतन्त्र अस्तित्व आज तक किसी को नही मिला, पर वस्तु मे से यदि अहम्-वुद्धि का त्याग कर दिया जाय तो वडी सुगमता-पूर्वक वस्तुओ की कामना मिट जाती है, जिसके मिटते ही जिज्ञासा की पूर्ति अर्थात् निस्सन्देहता और प्रेम का उदय स्वत हो जाता है। निस्सन्देहता तथा प्रेम की प्राप्ति मे कितना रस है, कैसा दिव्य-जीवन है, इसका वर्णन सम्भव नही है, क्योकि वर्णन करने के साधन सीमित है, अनित्य हैं और वह जीवन अगाध है, अनन्त है।

वस्तु मे अहम्-वुद्धि जिसने स्वीकार की यदि उसे वस्तु कहे तो यह भी यथार्थ नही, क्योकि वस्तु पर-प्रकाश्य है और पर-प्रकाश्य मे किसी को स्वीकार अस्वीकार करने की स्वाधी-नता सम्भव नही, और यदि उसे अवस्तु कहें तो अवस्तु को वस्तु की अपेक्षा नही, और न अवस्तु-वस्तु का सम्वन्ध ही सम्भव है। इस दृष्टि से वस्तु मे अहम्-वुद्धि जिसने स्वीकार की है वह वस्तु-अवस्तु से विलक्षण है, और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नही है, क्योकि वस्तु मे अहम्-बुद्धि का अन्त होने से केवल नित्य, चिन्मय जीवन का वोध सिद्ध होता है। उसमे किसी प्रकार की परिच्छि-न्नता का भास नही होता, अर्थात् वस्तुओ से जो अतीत है, वह

अनन्त, नित्य-चिन्मय है। वह अपने को और अपने से भिन्न को प्रकाशित करता है। इतना ही नही, समस्त वस्तुएँ उसके किसी एक अषमात्र मे भासित होती है। अत जो वस्तुओ से परे है, वह स्वय वस्तुओ मे अहम्-बुद्धि स्वीकार नही कर सकता। जिसने वस्तु मे अहम्-बुद्धि स्वीकार की है, उसके सम्बन्ध मे केवल यही कह सकते है कि वह वस्तु-अवस्तु से विलक्षण है, बिना किसी आश्रय के उसका भास नही होता और आश्रय का त्याग करते ही वह अवस्तु मे विलीन हो जाता है, अथवा यो कहो कि उसका योग तथा प्रेम हो जाता है। इसके अतिरिक्त उसके सम्बन्ध मे युक्ति,युक्त कथन कुछ नही बनता। मान्यता की दृष्टि से उसे चाहे कुछ मान लिया जाय। यह मानना भी उसका ही एक रूपान्तर होगा, अर्थात् वस्तु मे अहम्-बुद्धि जैसे मान ली गई और जिससे अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो गई वैसे ही उस विलक्षण देव का कोई भी नाम भले ही रख लिया जाय, वह मान्यता ही होगी, और कुछ नही। उसी इन्द्रियो के ज्ञान के प्रभाव के आधार पर कामना उत्पन्न होती है, और जिस ज्ञान से इन्द्रियो का ज्ञान अल्प-ज्ञान अर्थात् अधूरा ज्ञान सिद्ध होता है, उस ज्ञान के प्रभाव से उसी मे जिज्ञासा जागृत होती है। वही अपने को कभी भोगी और कभी जिज्ञासु नाम से सम्बोधित करता है। भोग-वासनाओ से भिन्न भोगी के अस्तित्व को किसी ने देखा नही, और जिज्ञासा से भिन्न जिज्ञासु को किसी ने जाना नही। वासना और जिज्ञासा के समूह मे ही समस्त समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। जब जिज्ञासा वासनाओ को खा लेती है,तब सभी समस्याएं स्वत हल हो जाती है। जिज्ञासा और वासना का द्वन्द्वात्मक स्वरूप ही वह देव है जिसने वस्तुओ मे अहम्-बुद्धि स्वीकार की है। वासनाओ की निवृत्ति और

जिज्ञासा की पूर्ति के वाद उस द्वन्द्वात्मक स्वरूप का कोई स्वतत्र अस्तित्व नही रहता। निस्सन्देहता, योग और प्रेम से भिन्न की चर्चा करना किसी मान्यता को ही जन्म देना है। योग सामर्थ्य और शान्ति का प्रतीक है, निस्सन्देहता जीवन तथा नित्य ज्ञान का प्रतीक है, और प्रेम नित-नव रस का प्रतीक है। ये तीनो किसी एक मे ही निहित हैं। जिसकी कोई भी परिभाषा नही की जा सकती, अपितु अनेक परिभाषाएँ जिसमे सिद्ध होती हो, और फिर भी जो सभी परिभापाओ से विलक्षण हो, उस अनन्त की महिमा ही योग, ज्ञान तथा प्रेम है। चित्त शुद्ध जाने पर यह रहस्य स्वय खुल जाता है और वस्तु मे अहम्-बुद्धि का अत्यन्त अभाव होने पर चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्तशुद्धि मे ही व्यक्ति का पुरुपार्थ है, जो अपने मे से वस्तु-भाव का त्याग और वस्तु मे से अहम्-भाव का त्याग करने पर स्वत. हो जाता है और फिर ज्ञान और जीवन मे भेद नही रहता। अत इस भेद का अन्त करने के लिए चित्त की शुद्धि ही परम पुरुपार्थ है।

२४-५-५६

———

१३

व्यक्तित्व के मोह का अन्त

[व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के मोह मे आबद्ध होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है।

व्यक्ति मे व्यक्तित्व क्या है, इसको भली भाति जान लेने पर व्यक्तित्व नही रहता। अपने मे अपनी जैसी कोई वस्तु है नही, फिर भी अहम् और मम भासित होता है जिससे द्वन्द्वात्मक स्थिति पोषित होती है।

मिले हुए की ममता व्यक्तित्व के मोह को उत्पन्न करती है और उसका त्याग मोह का अन्त करने मे समर्थ है। मोह का अन्त होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय

व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के मोह मे आवद्ध होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है, जिसके होते ही एक विचित्र द्वन्द्वात्मक स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जो उसे किसी भी दशा मे स्थिर नही रहने देती और न सभी अवस्थाओ से सम्बन्ध-विच्छेद करने देती है, अथवा यो कहो कि द्वन्द्वात्मक स्थिति से जिस अहम्-भाव की उत्पत्ति होती है, उस अहम्-भाव मे इतना मोह हो जाता है कि व्यक्ति को उसका विनाश सहन नही होता, उसको सुरक्षित रखने के लिए वह कभी तो अपने को सुखी और कभी दु खी, कभी

समर्थ और कभी असमर्थ, कभी जानकार और कभी अनजान मानता रहता है। पर सर्वांग मे न अपने को सुखी ही मानता है और न दु खी, सामर्थ्यवान् और न असमर्थ, न जानकार और न अजान। इतना ही नही, न जानने की वेदना से भी अपने को बचाता है। किसी न किसी अश मे यह मान लेता है कि मैं जानता तो हूँ, मुझ मे ज्ञान है, पर उस ज्ञान का आदर कितना है, इस पर ध्यान ही नही देता। उसका परिणाम यह होता है कि वह मान लेता है कि मैं जानता नही, अर्थात् न तो साधक न जानने की वेदना को ही तीव्र होने देता है और न जितना जानता है उसका आदर ही करता है। उससे उसकी वस्तुस्थिति द्वन्द्वात्मक बनी रहती है। उस द्वन्द्वात्मक स्थिति का अत चित्त शुद्ध होने पर ही हो सकता है।

चित्त की शुद्धि के लिए साधक को सरलतापूर्वक अपनी वस्तुस्थिति अपने सामने स्पष्ट रखनी चाहिए। अपने से अपनी दशा को छिपाना नही चाहिये। वस्तुस्थिति का वास्तविक परिचय होते ही या तो व्याकुलता की अग्नि प्रज्ज्वलित होगी अथवा आनन्द की गगा लहराएगी। व्याकुलता की अग्नि मे समस्त अशुद्धि भस्मीभूत हो सकती है और आनन्द की गगा मे भी समस्त विकार गल जाते हैं। इन दोनो मे से किसी भी एक से चित्त शुद्ध हो सकता है। यद्यपि व्याकुलता मे आनन्द और आनन्द मे व्याकुलता ओत-प्रोत है, परन्तु एक काल मे एक ही की प्रधानता प्रतीत होती है। जिस प्रकार काष्ठ मे अग्नि और अग्नि मे काष्ठ स्थित है उसी प्रकार आनन्द मे व्याकुलता और व्याकुलता मे आनन्द है। अग्नि के रहते हुए भी काष्ठ मे शीतलता और काष्ठ के रहते हुये अग्नि मे दाहकता विद्यमान है। उसी भाँति आनन्द मे व्याकुलता और व्याकुलता में आनन्द है।

इसी आनन्द तथा व्याकुलता का सीमित एव स्थूल रूप सुख-दु ख, सामर्थ्य-असामर्थ्य और जानना-न जानना है। व्यक्ति मे व्यक्तित्व क्या है, इसको भली-भाँति जान लेने पर व्यक्तित्व नही रहता, क्योकि अपने मे अपनापन स्वीकार करना वास्तविकता से अपरिचित होता है। यदि अपने मे अपनेपन की खोज की जाय तो अपनापन नही मिलेगा, कारण कि अपने मे अपनी जैसी कोई वस्तु है नही, फिर भी अहम् और मम भासित होता है, जिससे द्वन्द्वात्मक स्थिति पोषित होती है। इस दृष्टि से खोज के अभाव मे ही साधक वास्तविकता से विमुख हो जाता है। सुख, सामर्थ्य और जानने मे पारस्परिक एकता है और दु ख, असमर्थता एव न जानने मे पारस्परिक एकता है। इस दृष्टि से जानना और न जानना कहो, अथवा सामर्थ्य और असमर्थता कहो, अथवा सुख और दु ख कहो, यही द्वन्द्व है। इनमे से किसी एक द्वन्द्व के मिट जाने पर सभी द्वन्द्व मिट जाते हैं। साधक को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार चाहे सुख-दु ख के द्वन्द्व का, अथवा जानने-न जानने के द्वन्द्व का, अथवा सामर्थ्य असमर्थता के द्वन्द्व का अन्त कर डालना चाहिए।

सुख मे दु ख का दर्शन करते ही दुःख मिट जाता है। दु ख के मिटते ही आनन्द की गगा लहराने लगती है। सामर्थ्य मे असमर्थता का दर्शन करते ही निर्भयता आती है, जिसके आते ही असमर्थता मिट जाती है। जानने मे न जानने का दर्शन करते ही जिज्ञासा जागृत होती है, जो न जानने का अन्त कर निस्सन्देहता प्रदान करती है। निस्सन्देहता, सामर्थ्य और आनन्द मे द्वन्द्व नही है, अपितु द्वन्द्वातीत वास्तविक जीवन है।

सुख से दु ख का दर्शन करने का उपाय यह है कि साधक को सुख के आदि और अन्त को जानना चाहिए। ऐसा कोई

सुख है नही जिसके आदि और अन्त मे दु ख न हो । आदि और अन्त के दु ख को ही मध्य के सुख मे देखना चाहिए । सुख मे दु ख का दर्शन करते ही सुख की आसक्ति मिट जायगी, जिसके मिटते ही कामनाओ का अन्त हो जावेगा । कामना-रहित होते ही निस्सन्देहता, सामर्थ्य और आनन्द से अभिन्नता हो जायगी। जानने के अभाव मे जिज्ञासा जागृत नही होती, प्रत्युत कुछ न कुछ जानने मे ही जिज्ञासा जागृत होती है। जब साधक अधूरी जानकारी मे सन्देह अर्थात् न जानना देखने लगता है तब जिज्ञासा जागृत होती है, जो कामनाओ को खाकर निस्सन्देहता से अभिन्न हो जाती है । इस दृष्टि से जानने-न जानने का द्वन्द्व मिटने पर भी वास्तविकता से अभिन्नता हो जाती है। सामर्थ्य के अभाव मे असमर्थता की प्रतीति नही होती, अपितु सीमित सामर्थ्य मे ही असमर्थता का दर्शन होता है । अत सामर्थ्य मे असमथता का दर्शन करते ही अभिमान गल जाता है, जिसके लगते ही सर्वसमर्थ की निर्भयता आ जाती है जो अनन्त से अभिन्न कर देती है ।

समस्त दोषो का मूल एकमात्र अपनी वस्तुस्थिति से अपरिचित रहना, अर्थात् अपने से अपने को छिपाना है। अपने से अपने को साधक क्यो छिपाता है ?—मिथ्या अभिमानजनित सुख की दासता मे आवद्ध होने से अपने को छिपाने का स्वभाव बन जाता है। उस स्वभाव मे आबद्ध होकर साधक कभी तो अपने को समझदार कभी बेसमझ, कभी सामर्थ्यवान कभी असमर्थ, कभी सुखी और कभी दु खी मानने लगता है, पर किसी भी मान्यता पर दृढ नही रहता। उसका परिणाम यह होता है कि जो कर सकता है वह भी नही करता और जो जानता है वह भी नही मानता। जो कर सकता है उसके न करने से करने का राग निवृत्त नही होता।

करने का राग निवृत्त हुए बिना न तो करने से छुटकारा ही मिलता है और न साधक अपने आप को समर्पित ही कर पाता है। इस कारण कभी पुरुषार्थी होने की सोचता है और कभी अपने को असमर्थ मानकर सर्व समर्थ के शरणागत होने मे विश्वास करता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अपनी असमर्थता का परिचय ही सर्वसमर्थ की निर्भरता मे हेतु है और सामर्थ्य की अनुभूति मे ही पुरुषार्थ की प्रेरणा निहित है, क्योकि प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग का ही नाम पुरुषार्थ है।

यद्यपि पुरुषार्थ और शरणागति का परिणाम एक है, परन्तु वह रहस्य तभी खुलता है जब साधक एकनिष्ठ हो जाय, या तो प्राप्त सामर्थ्य के अनुरूप पुरुषार्थी हो जाय अथवा अपनी असमर्थता से परिचित होकर सर्व समर्थ के प्रति समर्पित हो जाय। समर्पण और पुरुषार्थ मे विरोध नही है। पुरुषार्थ से साधक सीमित बल का सदुपयोग कर उसके अभिमान से रहित हो जाता है, जिसके होते ही शरणागति स्वत आ जाती है और शरणागत का अनन्त बल से सम्बन्ध हो जाता है, जिससे आवश्यक पुरुषार्थ स्वत होने लगता है। जब तक दीनता और अभिमान का अभाव नही हो जाता, जब तक पुरुषार्थ अथवा शरणागति किसी न किसी की आवश्यकता बनी ही रहती है। पुरुषार्थ से शरणागति और शरणागति से पुरुषार्थ स्वत होने लगता है। अन्तर केवल इतना है कि शरणागत के पुरुषार्थ मे कर्तृत्व का अभिमान नही रहता और पुरुषार्थी की शरणागति मे दीनता नही रहती, प्रत्युत अभिन्नता रहती है।

निरभिमानता और अभिन्नता का स्वरूप एक है, क्योकि दोनो ही मे भेद का नाश हो जाता है, क्योकि भेद की उत्पत्ति अभिमान तथा भिन्नता मे ही निहित है। मिली हुई सीमित

योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तु को अपनी मान लेने से अभिमान की उत्पत्ति होती है और वस्तु, अवस्था आदि के आधार पर अपने अस्तित्व को स्वीकार करने से भिन्नता उत्पन्न होती है। अभिमान तथा भिन्नता से ही चित्त अशुद्ध होता है। अत चित्तशुद्धि के लिए इन दोनो का अन्त करना अनिवार्य है। अभिमान का अन्त करने के लिए प्राप्त वस्तु आदि की ममता का त्याग करना होगा, कारण कि ऐसी कोई वस्तु है ही नही जिसका समष्टि-शक्तियो से विभाजन हो सके। फिर किसी भी वस्तु को अपना मानना क्या ईमानदारी है ? अर्थात् घोर बेईमानी है। बेईमानी का अन्त होते ही अभिमान स्वत गल जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि किसी भी वस्तु को अपना न मानने पर भी उसका सदुपयोग किया जा सकता है, जिसके करने से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है। जिस अनन्त से वस्तु प्राप्त हुई है, उसी अनन्त से उनके सदुपयोग करने की योग्यता और सामर्थ्य भी मिली है। इस दृष्टि से प्राप्त के सदुपयोग मे कोई कठिनाई अर्थात् असमर्थता नही है। बस यही पुरुषार्थ है। इस दृष्टि से पुरुषार्थ के दो भाग हुए—प्राप्त वस्तु आदि को अपना न मानना और उनका सदुपयोग करना। अपना न मानने से अभिमान गल जाता है और सदुपयोग करने से विद्यमान राग निवृत्त हो जाता है। विद्यमान राग की निवृत्ति मे ही अनुराग का उदय निहित और अभिमान के गलने मे ही अभिन्नता स्वत सिद्ध है। अनुराग और अभिन्नता इन दोनो का स्वरूप एक है, क्योकि अभिन्नता मे अनुराग निहित है और अनुराग से भिन्नता का नाश होता है।

'प्राप्त वस्तु आदि को अपना न मानना' यह सिद्ध करता है कि वे जिसकी देन हैं उसका विश्वास आवश्यक है। समस्त सृष्टि

भी एक वस्तु ही है, और कुछ नही। वस्तुओ की उत्पत्ति तथा विनाश के मूल मे कोई उत्पत्ति-विनाश-रहित, अलौकिक, स्वत सिद्ध तत्त्व का होना अनिवार्य है। यद्यपि उसे इन्द्रिय,बुद्धि आदि के द्वारा भले ही विषय न किया हो परन्तु उसका होना स्वत. सिद्ध है, नही तो उत्पत्ति-विनाश ही सिद्ध न होगा। जिसे बुद्धि आदि से नही जानते है उसी पर विश्वास हो सकता है। अत विकल्प-रहित विश्वास के आधार पर जब साधक अहम् और मम को उस अनन्त के समर्पण कर देता है तब भी वही दिव्य जीवन प्राप्त होता है जो पुरुषार्थ-साध्य है।

अहम् के समर्पण से भेद का नाश हो जाता है, क्योकि अहम्भाव से ही भेद का भास होता है। मम के समर्पण से ही अनासक्ति उत्पन्न होती है। अनासक्ति अनुराग की और अभेदता अभिन्नता को प्रदान करने मे समर्थ है। इस दृष्टि से शरणागत साधक भी पुरुषार्थी के समान अनुराग तथा अभिन्नता से सम्पन्न हो जाता है। पुरुषार्थी यदि मिले हुए का सदुपयोग कर सिद्धि पाता है, तो शरणागत उस दाता से नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर सिद्धि पाता है। मिले हुए सामर्थ्य के सदुपयोग से भी चित्त शुद्ध होता है और जिससे मिला है उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करने से भी चित्त शुद्ध हो जाता है।

मिले हुए की ममता व्यक्तित्व के मोह को उत्पन्न करती है और उसका त्याग मोह का अन्त करने मे समर्थ है। व्यक्तित्व के मोह का अन्त होते ही द्वन्द्वात्मक स्थिति मिट जाती है,जिसके मिटने से चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से चित्तशुद्धि के लिए यह अनिवार्य है कि प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग किया जाय, पर उससे ममता न की जाय। यह नियम है कि वस्तु आदि की ममता गलकर स्वत अनन्त के नित्य सम्बन्ध मे विलीन हो

जाती है, वस यही शरणागति है। प्राप्त का सदुपयोग पुरुषार्थ और उसकी ममता का त्याग शरणागति है। अत. पुरुषार्थ तथा शरणागति की एकता के द्वारा वडी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो सकता है।

२५—५—५६

२४

सुख–दु:ख से अतीत के जीवन की खोज

[इन्द्रियो के ज्ञान का प्रभाव सकल्प-पूर्ति के सुख मे आबद्ध करता है। सकल्प-अपूर्ति के दु ख मे पराधीनता की अनुभूति होती है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है, तो फिर अनुकूलता तथा प्रतिकूलता मे भेद मानना और उनके परिणाम मे एकता न स्वीकार करना अपनी भूल ही है। यदि साधक अनुकूलता व प्रतिकूलता का सदुपयोग करने का प्रयत्न करे, तो अनुकूलता की आसक्ति और प्रतिकूलता का भय मिट सकता है और चित्त शुद्ध हो सकता है।

कामना-पूर्ति और अपूर्ति मे कामनाओ को महत्व देना निरर्थक है। कामना-निवृत्ति मे ही महत्व है। कामना-निवृत्ति का महत्व वढते ही कामना-पूर्ति का सुख और अपूर्ति का दु ख निर्जीव हो जाता है।

यदि प्राणी धीरज-पूर्वक दु ख के भय से भयभीत न हो और सुख की दासता मे आबद्ध न रहे, तो वह दु ख-सुख से अतीत के जीवन की खोज कर सकता है। दु ख का महत्व, अथवा सुख से अतीत के जीवन की खोज, अथवा सुख-दु ख से अतीत के जीवन पर विश्वास, चित्त की शुद्धि मे समर्थ है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

दो अनुभूतियो का संघर्ष चित्त की अशुद्धि है। कारण कि चित्त पर इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव भी अङ्कित है और उसके विरोध मे बुद्धि का ज्ञान भी है। इन्द्रियो के ज्ञान का प्रभाव संकल्प-पूर्ति के सुख मे आबद्ध करता है। सकल्प-अपूर्ति का दु ख इन्द्रियो के ज्ञान मे सन्देह उत्पन्न करता है; अथवा यो कहो कि पराधीनता की अनुभूति होती है। यद्यपि सकल्प-पूर्ति-काल मे भी प्राणी पराधीन ही है, परन्तु संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता के कारण पराधीनता मे स्वाधीनता के समान सुखी होता है और यह मान लेता है कि मैं तो स्वाधीन हूँ, जो चाहता हूँ उसे कर डालता हूँ। यदि उससे यह पूछा जाय कि तुम जो कुछ करते हो उसकी साधन-सामग्री क्या तुम्हारी अपनी ही है ? क्या उस पर तुम्हारा स्थायी अधिकार है ? क्या उन साधनो के तुम अधीन नही हो ? यदि इसी का नाम स्वाधीनता है, तो पराधीनता क्या है ? पराधीनता मे स्वाधीनता मान लेना पराधीनता मे जीवन-बुद्धि स्वीकार करना है, जो वास्तव मे प्रमाद है। वस्तुओ का आश्रय घोर पराधीनता है, पर प्राणी वस्तुओ के अभाव मे अपने को पराधीन मानता है। वस्तुओ का अभाव यद्यपि पराधीनता की अनुभूति कराने मे हेतु है, परन्तु प्राणी उस अभाव को ही पराधीनता मानता है। यह अनुभूति का अनादर है।

अनुकूल वस्तुओ की प्राप्ति मे सुख का भास वस्तुओ की दासता मे आवद्ध करता है। वस्तुओ मे अनुकूलता का दर्शन क्या वास्तविता है ? इस रहस्य को विना ही जाने प्राणी वस्तुओ मे अनुकूलता मानता है। जिन वस्तुओ की स्थिति ही सिद्ध नही होती उन वस्तुओ मे अनुकूलता स्वीकार करना अविवेक-सिद्ध है, वास्तविक नही। अविवेक का अन्त होने पर वस्तुओ मे अनुकूलता

का दर्शन नही होता और फिर दो अनुभूतियो का द्वन्द्व स्वत मिट जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रतिकूलता मे भी अनुकूलता है ओर अनुकूलता मे भी प्रतिकूलता है। इस दृष्टि से अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनो ही का यदि सदुपयोग किया जाय तो परिणाम एक ही हो सकता है। प्राणी अनुकूलता और प्रतिकूलता के परिणाम पर विचार नही करता, इस कारण उसे दोनो से विरोध अथवा संघर्ष प्रतीत होता है। ऐसी कोई अनुकूलता है ही नही, जिसने प्रतिकूलता को जन्म न दिया हो और न ऐसी कोई प्रतिकूलता ही है जिसमे प्राणी का हित न हो।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय मे किसी के अहित की भावना नही है और न किसी से राग तथा द्वेष है। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय के प्रति श्रद्धा रखना अनिवार्य है। तो फिर अनुकूलता तथा प्रतिकूलता मे भेद मानना और उनके परिणाम मे एकता न स्वीकार करना अपनी ही भूल हो सकती है, और कुछ नही अनुकूलता स्वभाव से प्रिय है और प्रतिकूलता स्वभाव से ही अप्रिय है, परन्तु फिर भी अनुकूलता चली जाती है और प्रतिकूलता आ जाती है। जो अपने आप आती है उसको हटाने का प्रयास, और जो अपने आप जाती है उसको बनाये रखने की आशा, क्या कभी सफल हो सकती है ? कदापि नही।

अनुकूलता मे प्रियता क्यो भासती है, और प्रतिकूलता मे भय क्यो प्रतीत होता है ? कामनाओ की उत्पत्ति से जो क्षोभ होता है, उस क्षोभ की क्षणिक निवृत्ति के लिए अनुकूलता मे प्रियता भासती है। यद्यपि कामना-पूर्ति के पश्चात् पुन कामनाओ की उत्पत्ति होती है, इतना ही नही, कामना-पूर्ति मे जितना सुख भासता है उससे कही अधिक उसके परिणाम मे दु ख अपने आप

आता है, परन्तु प्राणी असावधानी के कारण सुख के आदि और अत के दु ख पर दृष्टि न रखकर क्षणिक सुख पर ही दृष्टि रखता है। इस सुख-लोलुपता के कारण ही अनुकूलता मे प्रियता भासती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राणी जब कामना-पूर्ति के सुख को कामना-निवृत्ति का साधन नही मानता, अपितु कामना-पूर्ति को ही जीवन मानता है, तब उस सुख की दासता से मुक्त करने के लिए प्रतिकूलता आती है। इस दृष्टि से प्रतिकूलता मे प्राणी का विकास निहित है, क्योकि अनुकूलता के सदुपयोग से जब प्राणी अपना हित नही करता, तब प्रतिकूलता के द्वारा प्राकृतिक विधान उस हित की ओर अग्रसर करता है। परन्तु अनुकूलता की आसक्ति प्रतिकूलता मे भय उत्पन्न करती है। अनुकूलता और प्रतिकूलता तो प्राकृतिक है, परन्तु अनुकूलता की आसक्ति और प्रतिकूलता का भय चित्त की अशुद्धि है। यदि साधक अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का सदुपयोग करने का प्रयास करे, तो बडी ही सुगमतापूर्वक अनुकूलता की आसक्ति और प्रतिकूलता का भय मिट सकता है, जिसके मिटते ही दो अनुभूतियो का द्वन्द स्वत मिट जाता है और चित्त शुद्ध हो जाता है।

इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर वस्तुएँ सुखद प्रतीत होती हैं, यह भी एक अनुभूति है और बुद्धि के ज्ञान से प्रत्येक वस्तु मे सतत परिवर्तन एव अदर्शन प्रतीत होता है, यह भी एक अनुभूति है। इन दोनो अनुभूतियो मे परस्पर विरोध प्रतीत होता है, जिसके कारण प्राणी के जीवन मे एक विचित्र सघर्ष उत्पन्न होजाता है। बुद्धि के ज्ञान का आदर सहज भाव से ही नही पाता और इद्रियो के ज्ञान का प्रभाव चित्त पर अकित रहता है। ऐसी स्थिति मे कामना-पूर्ति का प्रलोभन और कामना-निवृत्ति की लालसा दोनो ही मे परस्पर सघर्ष होने लगता है। सभी कामनाएँ किसी की

पूरी नही होती, और कोई भी कामना पूरी न हो, यह बात भी नही है, अर्थात् कुछ कामनाएं अवश्य पूरी हो जाती है। जो कामनाएं पूरी हो ही नही सकती, उनको जमा रखना कुछ अर्थ नही रखता और जो कामनाएँ स्वत पूरी हो जाती है, उनको रखना भी कुछ अर्थ नही रखता। अत कामना-अपूर्ति और पूर्ति मे कामनाओ को महत्त्व देना निरर्थक है। जिन्हे पूरा होना है वे हो ही जायगी और जिन्हे पूरा नही होना है वे हो ही नही सकती। ऐसी दशा मे कामना-निवृत्ति मे ही महत्व प्रतीत होता है। कामना-पूर्ति भी कामना-निवृत्ति का ही साधन है और कामना-अपूर्ति मे भी कामना-निवृत्ति को ही प्रधानता देनी चाहिये। कामना-निवृत्ति का महत्त्व बढते ही कामना-पूर्ति का सुख और अपूर्ति का दु ख निर्जीव हो जाता है, जिसके होते ही इन्द्रियो के ज्ञान का प्रभाव मिट जाता है, और बुद्धि के ज्ञान का आदर होने लगता है जो चित्त की शुद्धि मे हेतु है।

कामना-पूर्ति का प्रलोभन कभी-कभी इतना बढ जाता है कि प्राणी न होने वाली बातो को सोचने लगता है, अर्थात् इच्छा-पूर्ति के चिन्तन मे बँध जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो इच्छाएं पूरी हो ही नही सकती उनका तो चिन्तन करता रहता है, और जो इच्छाएँ पूरी होती है उसमे जीवन-बुद्धि स्वीकार कर लेता है। इतना ही नही, जीवनी-शक्ति समाप्त हो जाती है, और इच्छाओ का समूह ज्यो का त्यो सुरक्षित रहता है। उस समय प्राणी की बडी ही दीन-हीन दशा हो जाती है। वह वस्तुओ के वियोग की वेदना मे फँस जाता है और जो नही चाहता है वही दृश्य उसके सामने आता है, अथवा यो कहो कि बेचारा प्राणी मिथ्याचारी हो जाता है। वह अनेक प्रकार के भय तथा अभावो को अनुभव कर व्यथित होता रहता है। यद्यपि इच्छाओ

की उत्पत्ति से पूर्व भी जीवन है और उसमे किसी प्रकार का अभाव नही है, परन्तु उस जीवन की ओर प्राणी ध्यान नही देता, प्राकृतिक विधान का विरोध कर भयंकर संघर्ष में आवद्ध हो जाता है। इच्छा-पूर्ति-अपूर्ति परिस्थिति है, जीवन नही। उसके सदुपयोग मे प्राणी का हित है। उसको जीवन मान लेने से तो चित्त अशुद्ध ही होता है, जो अवनति का मूल है।

परिस्थिति के सदुपयोग से साधक परिस्थितियो से अतीत के जीवन मे प्रवेश कर सकता है, उस जीवन मे किसी प्रकार की विषमता, अभाव, भय या जडता नही है। उस जीवन की प्राप्ति प्रत्येक परिस्थिति के सदुपयोग से हो सकती है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति साधन-मात्र है, साध्य नही। साधन-वुद्धि से प्रत्येक परिस्थिति आदरणीय है। इस दृष्टि से अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनो ही समान है। जिस प्रकार यात्री दाएँ-वाएँ दोनो ही पैरो से चलकर अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँचता है, उसी प्रकार साधक अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियो के सदुपयोग से अपने अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार भोग-सामग्री निरन्तर मिट रही है, और भोगने की शक्ति का भी ह्रास हो रहा है, परन्तु भोग की रुचि का नाश नही हुआ, ऐसी वस्तुस्थिति मे प्राणी को वड़ी ही उलझन होती है। यदि भोग की रुचि का भी नाश हो जाता तो भोग से अतीत जो जीवन है उसकी प्राप्ति हो जाती। भोग से अतीत के जीवन की तो लालसा न हो, और भोगयुक्त जीवन सुरक्षित न रहे, ऐसी दशा मे न तो शान्ति ही मिल सकती है और न प्रसन्नता। समस्त इच्छाओ से मूल मे यद्यपि चिर-शाति तथा अखण्ड प्रसन्नता पाने की लालसा वीज-रूप से विद्यमान है, परन्तु उस लालसा को कामना-पूर्ति के सुख और कामना-अपूर्ति

के दु ख से प्राणी दबा देता है। सुख-दु ख अपने आप आने-जाने-वाली वस्तुएँ हैं, उनमें आबद्ध होना चित्त को अशुद्ध करना है। सुख मे उदारता और दुख मे त्याग अपना लेने पर सुख-दु ख का बन्धन स्वत टूट जाता है और फिर साधक सुख-दु ख से अतीत के जीवन का अधिकारी हो जाता है।

भोग की रुचि का नाश भोग की वास्तविकता जान लेने पर स्वतः हो जाता है। भोग की वास्तविकता का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है, वह ज्ञान साधक मे विद्यमान है और भोग की रुचि भी उसमे अङ्कित है। जब तक साधक भोग की रुचि को महत्व देता है तब तक उसकी बुद्धि मन के, मन इन्द्रियो के और इन्द्रियाँ विषयो के अधीन रहती है, अर्थात् वह उत्तरोत्तर चेतना से जडता की ओर गतिशील होता है। परन्तु यदि साधक विद्यमान ज्ञान के प्रकार मे भोग की रुचि का अत कर डाले तो बडी ही सुगमता-पूर्वक उत्तरोत्तर जडता से चेतना की ओर अग्रसर होता जाता है, अर्थात् विषय इन्द्रियो मे और इन्द्रियाँ मन मे, मन बुद्धि मे विलीन हो जाता है, जिसके होते ही भोग योग मे बदल जाता है। भोग पराधीनता, जडता आदि मे आबद्ध करता है और योग स्वाधीनता, सामर्थ्य तथा चिन्मयता प्रदान करता है। इस दृष्टि से भोग की अपेक्षा योग बडे ही महत्त्व की वस्तु है। योग की लालसा भोग की रुचि का अन्त करने में समर्थ है, परन्तु भोग की रुचि योग की लालसा को शिथिल भले ही बना दे, मिटा नही सकती। प्रतिकूलता जीवन मे केवल योग की लालसा को प्रबल बनाने के लिए आती है। योग की लालसा भोग की रुचि को खाकर योग से अभिन्न कर देती है जिससे चित्त शुद्ध हो जाताहै।

अपने-आप आए हुए दु ख का प्रभाव कितना है और सुख की लोलुपता कितनी है, इस पर गम्भीरता से विचार करना

चाहिए। जो दु ख अपने आप आया है उस दु ख का भी जीवन मे स्थान है, और जो सुख अपने आप चला जाता है, उस पर भी ध्यान देना है। सुख के आदि और अन्त मे दु ख है। यदि उस दु ख का प्रभाव इतना हो जाय कि सुख की लोलुपता मिट जाय तो वडी ही सुगमतापूर्वक सुख-दु ख से अतीत के जीवन मे प्रवेश हो सकता है। यद्यपि उस जीवन से देश-काल की दूरी नही है, क्योकि वह सुख-दु ख के समान आता-जाता नही है, अपितु सर्वत्र, सर्वदा ज्यो-का-त्यो है, परन्तु सुख-दु ख के आक्रमण से आक्रान्त प्राणी उसे अपना नही पाता। यदि प्राणी धीरजपूर्वक, शान्त चित्त से, दु ख के भय से भयभीत न हो, और अपने आप जानेवाले सुख की दासता मे आवद्ध न रहे, तो वह सुख-दु ख से अतीत के जीवन की खोज कर सकता है। सुख-दु ख से अतीत के जीवन की खोज दु ख के भय से और सुख की दासता से सदा के लिए मुक्त कर देती है। सुख की आसक्ति और दु ख के भय ने ही चित्त को अशुद्ध कर दिया है।

चित्त शुद्ध करने के लिए यह अनिवार्य है कि दु ख के महत्त्व को अपना लिया जाय, इससे सुख की दासता स्वत मिट जायगी, जिसके मिटते ही सुख-दु.ख का सदुपयोग स्वत होने लगता है और फिर सुख-दु ख से अतीत के जीवन की प्राप्ति हो जाती है।

दु.ख का भय और सुख की दासता सुख-दु ख का सदुपयोग नही होने देते और उसके विना सुख-दु ख से अतीत के जीवन की प्राप्ति नही हो सकती। अत दु ख के भय तथा सुख की दासता का अन्त करना अनिवार्य है। सुख से अतीत के जीवन की जिज्ञासा भी सुख के राग को खा लेती है, और सुख-दु ख से अतीत के जीवन का विश्वास भी सुख-दु ख से सम्वन्ध-विच्छेद कराने मे

समर्थ है। उपर्युक्त तीनो बातो मे से जिस साधक को जो सुगम हो उसे वही अपना लेना चाहिए। किसी एक के भी अपना लेने से सफलता हो सकती है दुःख का महत्व अथवा सुख से अतीत के जीवन पर विश्वास, चित्त की शुद्धि मे समर्थ है।

२६—५—५६

२५

सन्देह की निवृत्ति तथा निस्संदेहता की प्राप्ति

[सन्देह मे निस्सन्देहता का आरोप और निस्सन्देहता मे सन्देह की स्थापना करने से चित्त अशुद्ध हुआ है ।

सन्देह मे निम्सन्देहता के आरोप मे तो विषयो की रुचि उत्पन्न हुई, और निस्सन्देहता मे सन्देह की स्थापना मे विषयो मे आसक्ति हो गई ।

जाने हुए को न मानने से ही कर्त्तव्य में अकर्त्तव्य और योग मे भोग उत्पन्न हो गया है । अकर्त्तव्य के त्याग मे कर्त्तव्यपालन निहित है । कर्त्तव्य-पालन योग की ओर अग्रसर करता है और अकर्त्तव्य योग से विमुख कर भोग मे आवद्ध करता है ।

यदि सन्देह मे निम्सन्देहता तथा निम्सन्देहता मे मन्देह की स्थापना न की जाय तो वडी सुगमतापूर्वक अकर्तव्य कर्तव्य मे और भोग योग मे वदल जाता है, यही चित्त शुद्धि है ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

सन्देह मे निस्सन्देहता का आरोप और निस्सन्देहता मे सन्देह की स्थापना करने से ही चित्त अशुद्ध हुआ है, कारण कि इन्द्रियों के अल्प ज्ञान को ज्ञान मान लेना सन्देह मे निस्सन्देहता का आरोप है । उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी मे विषयो

की रुचि उत्पन्न हो जाती है जो उसे भोगी बना देती है। इन्द्रियो के ज्ञान से जो कुछ प्रतीत हो रहा है, इसके परिवर्तन और अदर्शन का ज्ञान प्राणी को है। इसमे किसी भी साधक को सन्देह नही है। सभी साधक अपने शरीर के परिवर्तन को और वस्तु एव व्यक्ति के वियोग को भी जानते हैं। यह भी जानते हैं कि जो वस्तु, अवस्था आदि पहले थी, वह अब नही है और जो अब है वह आगे न रहेगी। इस जानकारी मे सन्देह नही है, परन्तु उसमे सन्देह की स्थापना करली है, अर्थात् उसका प्रभाव अपने पर नही होने दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि विषयो का राग निवृत्त न हो सका, जिससे चित्त अशुद्ध हो गया। सन्देह मे निस्सन्देह के आरोप से तो विपयो की रुचि उत्पन्न हुई और निस्सन्देहता मे सन्देह की स्थापना से विषयो मे आसक्ति हो गई। अत यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सन्देह मे निस्सन्देहता और निस्सान्देहता मे सन्देह की स्थापना से ही चित्त अशुद्ध हो गया है।

सन्देह मे निस्सन्देहता का आरोप कब हुआ और क्यो हुआ ? कब हुआ, इसका तो पता नही, पर सन्देह मे निस्सन्देहता का आरोप मिटाया जा सकता है। यह नियम है कि जो चीज मिटाई जा सकती है, उसकी उत्पत्ति स्वीकार करनी ही पडती है, क्योकि किसी का विनाश ही उसकी उत्पत्ति को सिद्ध करता है। अत जो जानते है उसको न मानने से ही सन्देह मे निस्सन्देहता का आरोप हुआ है। प्रत्येक सयोग के वियोग को, प्रत्येक वस्तु के परिवर्तन तथा अदर्शन को एव विपय-प्रवृत्ति के दुष्परिणाम को हम जानते हैं, पर उसे मानते नही, अर्थात् उस जानकारी का प्रभाव अपने पर नही होने देते। उसका परिणाम यह होता है कि सन्देह की वेदना उदित नही होती, जिज्ञासा की

जागृति नही होती और भोग-प्रवृत्ति मे ही जीवन-बुद्धि हो जाती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है।

जाने हुए को न मानने मे ही कर्तव्य मे अकर्त्तव्य और योग मे भोग उत्पन्न हो गया है। यद्यपि कर्त्तव्य और योग अकर्तव्य और भोग की अपेक्षा सहज और स्वाभाविक है, परन्तु चित्त के अशुद्ध हो जाने से वह कठिन और अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है। यह सभी जानते हैं कि निर्बल सबल से रक्षा की आशा रखता है, यह माग सहज और स्वाभाविक है, इसका पूरा होना भी सम्भव है, क्योकि बल से निर्बल की सहायता हो सकती है, परन्तु अपने से निर्बल की सेवा करने मे कठिनाई प्रतीत होती है। इस कठिनाई मे न तो जानने का दोष है और न असमर्थता का, केवल जाने हुए का अनादर है, अथवा जो कर सकते हैं उसको न करना है। यह अकर्तव्य कर्तव्य के प्रमाद से उत्पन्न हुआ है, उसका अस्तित्व वास्तविक नही है। जिसका अस्तित्व नही है, उसके अधीन हो जाना क्या अस्वाभाविकता नही है?

अपने प्रति वैर-भाव, अपना अनादर, अपनी हानि और अपने प्रति स्नेह का अभाव किसी प्राणी को अभीष्ट नही है। जो अपने को अभीष्ट नही है, वही दूसरो के प्रति कर डालना क्या अकर्तव्य नही है? अर्थात् अकर्तव्य है। अकर्तव्य मे प्रवृत्ति असमर्थता से अथवा न जानने से नही होती, अपितु सामर्थ्य के दुरुपयोग एव जाने हुए को न मानने से होती है। जो असमर्थ और अनभिज्ञ है उसके जीवन मे कर्तव्य-अकर्तव्य का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। जो समर्थ और विज्ञ है, उसी के जीवन में कर्तव्य का प्रश्न है। कर्तव्य का प्रश्न उतने ही अश मे है, जितने अंश मे वह जानता है और कर सकता है, अर्थात् प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता और वस्तु के अनुरूप ही कर्तव्यपालन हो सकता है।

इस दृष्टि से कर्त्तव्य-पालन मे प्राणी सर्वदा स्वाधीन है। जिसके पालन मे स्वाधीनता है, उसमे पराधीनता मान लेना असावधानी के अतिरिक्त कुछ नही है। असावधानी वर्तमान मे मिटाई जा सकती है। इसके लिए भविष्य की आशा करना अथवा हार स्वीकार करना सर्वथा त्याज्य है। जिसकी प्राप्ति चर्म-सापेक्ष है, उसके लिए भविष्य की आशा की जा सकती है, क्योकि उसके फल मे कर्त्ता स्वाधीन नही है, अपितु कर्म का फल प्राकृतिक विधान के अधीन है, और कर्म-सामग्री भी प्राकृतिक है, व्यक्ति-गत नही। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपालन मे फल की आशा नही करनी चाहिए, प्रत्युत कर्त्तव्य के लिए ही कर्त्तव्यपालन अभीष्ट है कर्त्तव्यपालन मे दूसरो के अधिकारो की रक्षा होती है और कर्त्ता मे से विद्यमान राग निवृत्त होता है। यही कर्त्तव्य का वास्तविक फल है। यह फल प्रत्येक कर्त्तव्यनिष्ठ को स्वत प्राप्त होता है। परन्तु जो कर्त्तव्यनिष्ठ कर्त्तव्य के बदले मे विषय-भोग की आशा करता है वह कर्त्तव्य भी अकर्त्तव्य की श्रेणी मे ही आ जाता है। अकर्त्तव्य से अपनी और दूसरो की क्षति ही होती है, किसी का हित नही होता। इस दृष्टि से साधक के जीवन मे अकर्त्तव्य का कोई स्थान ही नही है। जिसका जीवन मे कोई स्थान ही नही है, उसका त्याग वर्तमान मे हो सकता है। यह नियम है कि अकर्त्तव्य के त्याग मे कर्त्तव्यपालन निहित है, अथवा यो कहो कि अकर्त्तव्य का त्याग ही कर्त्तव्यपालन की भूमि है।

कर्त्तव्यपालन भोग से योग की ओर अग्रसर करता है और अकर्त्तव्य योग से विमुख कर भोग मे आबद्ध करता है। योग भोग की अपेक्षा सहज तथा स्वाभाविक है और श्रम-रहित है, कारण कि प्रत्येक भोग-प्रवृत्ति से पूर्व योग है और भोग-प्रवृत्ति के अन्त मे भी योग है, अर्थात् भोग के आदि और अन्त मे योग है।

परन्तु साधक भोगासक्ति के कारण भोग-प्रवृत्ति के अन्त मे भी भोग का ही चिन्तन करता रहता है, जिससे उसे अपने आप आने वाले योग मे प्रीति नही होती, अथवा यो कहो कि श्रम-रहित योग मे निष्ठा नही रहती। भोग का आरम्भकाल भले ही सुखद प्रतीत हो, किन्तु परिणाम मे तो शक्तिहीनता, जडता, पराधीनता आदि मे ही प्राणी आबद्ध हो जाता है। इतना ही नही, भोक्ता सर्वदा भोग-सामग्री के अधीन रहता है और भोग-सामग्री सदैव बदलती रहती है, उसमे स्थिरता नही है और भोगने की शक्ति का भी ह्रास होता रहता है, अथवा यो कहो कि भोगने की शक्ति का ह्रास और भोग्य वस्तुओ का विनाश भी स्वभाविक है। इस स्वाभाविकता का आदर करने पर भोग की रुचि नष्ट हो जाती है। भोग की रुचि का नाश होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त मे स्वत योग प्राप्त होता है। उस प्राप्त योग मे ज्यो-ज्यो निष्ठा परिपक्व होती जाती है, त्यो-त्यो शक्तिहीनता, जडता, पराधीनता आदि सभी दोप स्वत मिटते जाते है, क्योकि योग शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता एव चिन्मयता का प्रतीक है। भोग श्रम-साध्य और योग श्रम-रहित है। भोग मे पराधीनता और योग मे स्वाधीनता है, भोग चेतना से जडता की ओर और योग जडता से चेतना की ओर अग्रसर करता है। भोग से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास और योग से आवश्यक सामर्थ्य का संचय स्वत होता है। परन्तु चित्त की अशुद्धि के कारण भोग की रुचि उत्पन्न हो जाती है, जो साधक को योगनिष्ठ नही होने देती। यदि सन्देह मे निस्सन्देहता और निस्सन्देता मे सन्देह की स्थापना न की जाय, तो बडी ही सुगततापूर्वक अकर्त्तव्य कर्त्तव्य मे और भोग योग में बदल जाता है।

चित्त की अशुद्धि से ही प्राणी कर्त्तव्य-विज्ञान तथा योग

विज्ञान से विमुख हुआ है और अकर्त्तव्य तथा भोग मे आबद्ध हो गया है। अकर्त्तव्य और भोग मे आबद्ध होने से प्राणी प्रमादी और हिंसक बन गया है। प्रमादी होने से साधक अपने को देह मानने लगता है, जिससे इन्द्रियजन्य स्वभाव से तद्रूपता हो जाती है। उसका परिणाम यह होता है कि साधक इन्द्रियो के अल्प तथा अधूरे ज्ञान को ही ज्ञान मान लेता है और विषय मे आसक्त होकर सब प्रकार से दीन, हीन हो जाता है। हिंसक हो जाने से स्वार्थ-भाव इतना बढ जाता है कि दूसरो की हानि मे अपना लाभ, दूसरो के दु ख मे अपना सुख, दूसरो के ह्रास मे अपना विकास, दूसरो के विनाश मे अपनी रक्षा और दूसरो के अहित मे अपना हित मानने लगता है, जो वास्तविकता के सर्वथा विपरीत है। इस दृष्टि से समस्त अनर्थो का कारण एक-मात्र अकर्तव्य तथा भोग मे आबद्ध होना है।

कर्तव्य-विज्ञान प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता है, क्योकि अपने प्रति किसी को भी अकर्त्तव्य अपेक्षित नही है। कर्त्तव्य प्राकृतिक विधान है। विधान का अनादर अपनी भूल है। भूल को भूल जानकर उसका त्याग करना अनिवार्य है। भूल न जानने मे नही है, प्रत्युत जाने हुए को न मानने मे है। जाने हुए को न मानना प्राकृतिक दोष नही है, अपितु व्यक्ति का अपना ही बनाया हुआ दोष है। अपने बनाये हुए दोष को मिटाने का दायित्व भी अपने ही पर है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-विज्ञान को न अपनाना किसी और की भूल नही है। भूल कितनी ही पुरानी क्यो न हो, भूल को भूल जान लेने पर वह सदा के लिए मिट जाती है। यह नियम है कि भूल-काल मे भी वस्तुस्थिति ज्यो-की-त्यो रहती है, परन्तु भूल वास्तविकता का परिचय नही होने देती। इस कारण साधक वास्तविकता को अपने जीवन से भिन्न

मानने लगता है, पर वास्तविकता तो जीवन से अभिन्न है। जिससे भिन्नता नही है, उसकी प्राप्ति श्रम-रहित और स्वत -सिद्ध है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-विज्ञान और जीवन मे एकता है। जिस कर्त्तव्य-विज्ञान से अभिन्नता है, चित्त की अशुद्धि के कारण वह जीवन से अलग प्रतीत हो रहा है और जिस अकर्त्तव्य का कोई अस्तित्व ही नही है वह जीवन से तद्रूप हो गया है। अकर्त्तव्य उसी की सत्ता से उस पर शासन करता है, जो उसे अपनाता है। कर्त्तव्य-विज्ञान का महत्त्व तथा स्वरूप स्पष्ट हो जाने पर अकर्त्तव्य सदा के लिए स्वत मिट जाता है। अत. कर्त्तव्य-विज्ञान, जो स्वाभाविक आवश्यकता है, उसे शीघ्रातिशीघ्र अपना लेना अनिवार्य है।

कर्त्तव्य को अपना लेने से विद्यमान राग की निवृत्ति होगी, जिसके होने से प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त मे स्वभाव से आने वाली निवृत्ति में दृढता आएगी, जिससे जिज्ञासा सवल तथा स्थायी हो जायगी। जिज्ञासा की पूर्णता कामनाओ का नाश करने मे समर्थ है। कामनाओ का अन्त होते ही योग का उदय होगा। योग अनन्त की वह विभूति है जो शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता, चिन्मयता, अमरत्व आदि दिव्य जीवन से अभिन्न कर देती है। योग की प्राप्ति मे प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन है। कर्त्तव्यपालन यदि विद्यमान राग का अन्त करने मे समर्थ है तो योग नवीन राग को उत्पन्न नही होने देता। विद्यमान राग निवृत हो जाय और नवीन राग की उत्पत्ति न हो—यही चित्त की शुद्धि है, जो कर्त्तव्य विज्ञान तथा योग-विज्ञान को अपना लेने पर स्वतः प्राप्त होती है। इस दृष्टि से अकर्त्तव्य और भोग की रुचि का नाश करना अनिवार्य है। भोगासक्ति से ही अकर्त्तव्य का जन्म होता है। इन्द्रियज्ञान मे सन्देह न होने से भोगासक्ति दृढ होती है और

उसमे सन्देह होने पर जिज्ञासा जागृत होती है, जो भोगासक्ति के नाश में समर्थ है । इस दृष्टि से जिज्ञासा की जागृति से चित्त शुद्ध हो सकता है ।परन्तु साधक जब तक इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव का अन्त नही कर देता, तब तक न तो जिज्ञासा की पूर्ति होती है और न चित्त की शुद्धि ही सम्भव है । इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग कर्तव्य-पालन मे हो सकता है, परन्तु उसकी सत्यता अकित न हो । कर्तव्य का ज्ञान भी उसी ज्ञान मे विद्यमान है जिससे इन्द्रियो के ज्ञान मे सन्देह होता है । वह ज्ञान अनन्त की ओर प्रत्येक साधक को प्राप्त है । उस प्राप्त-ज्ञान का आदर करना और उसी के प्रकाश मे इन्द्रियो के ज्ञान का उपयोग करना चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक है । इन्द्रियो के ज्ञान में सन्देह की उत्पत्ति ही वास्तविक निस्सन्देहता की ओर अग्रसर करती है । वास्तविक निस्सन्देहता मे जीवन है । उसमे सन्देह करना और इन्द्रिय ज्ञान मे सन्देह न करना, इस असावधानी से ही चित्त अशुद्ध हो गया है । यद्यपि निस्सन्देहता, सामर्थ्य, शान्ति, अमरत्व, स्वाधीनता, चिन्मयता आदि की माग स्वाभाविक है, परन्तु साधक इन्द्रियो के ज्ञान को ही ज्ञान मान कर स्वाभाविक माग मे शिथिलता उत्पन्न कर लेता है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है । इतना ही नही, स्वाभाविक माग की शिथिलता से ही काम का जन्म होता है, और काम की उत्पत्ति से ही इन्द्रियो के ज्ञान मे सत्यता भासती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है । इस दृष्टि से इन्द्रिय-ज्ञान की सत्यता और काम की उत्पत्ति दोनो अन्योन्याश्रित है । इन दोनो मे से किसी एक का अन्त होने पर दोनो का अन्त हो जाता है । काम समस्त कामनाओ की भूमि है, और कामनाओ की उत्पत्ति इन्द्रियो और उनके विषयो से सम्बन्ध जोडती है । जिज्ञासा की जागृति इन्द्रियो और

विषयो के सम्बन्ध को तोडती है, जिसके टूटते ही इन्द्रियाँ मन मे और मन निर्विकल्प होकर बुद्धि मे विलीन हो जाता है तथा बुद्धि सम हो जाती है। बस, यही योग है। योग लालसा-मात्र से सिद्ध हो सकता है, उसके लिए किसी अप्राप्त वस्तु, या व्यक्ति या परिस्थिति की आवश्यकता नही है, क्योकि योग के साधन मे किसी प्रकार का श्रम नही है, अपितु योग की सिद्धि विश्राम मे ही निहित है। वास्तविक विश्राम की उपलब्धि कामना-निवृत्त तथा जिज्ञासा की पूर्ति से ही सम्भव है। अत चित्तशुद्धि के लिए साधक को सावधानीपूर्वक वास्तविक निस्सन्देहता प्राप्त करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

२७—५—५६

२६

असम्भव का त्याग तथा सम्भव की प्राप्ति

[जो सम्भव है उसमे प्रवृत्ति न हो और जो असम्भव है उसका चिन्तन हो, यही चित्त की अशुद्धि है ।

प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग, सत्य की खोज, प्रिय-लालसा सम्भव है और वस्तु व्यक्ति आदि से नित्य-सबध असम्भव है—क्योकि प्र त क वस्तु स्वभाव से ही परिवर्तनशील है और प्रत्येक सयोग वियोग मे बदलता ही है ।

कामना पूर्ति के प्रलोभन ने ही, जो सम्भव है, अर्थात् जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति, उसे असम्भव बना दिया है और वस्तु , व्यक्ति आदि का नित्य-सयोग सुरक्षित रखने की सोचना असम्भव है, उसमे सभाव्यता का भास करा दिया है ।

प्रेम की प्राप्ति सम्भव है, उससे कभी निराश नही होना चाहिये । वस्तु, व्यक्ति आदि का नित्य-सयोग असम्भव है, उसकी आशा नही करनी चाहिये । असम्भव के त्याग तथा सम्भव की प्राप्ति मे ही चित की शुद्धि निहित है ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

जो सभव है उसमे प्रवृत्ति न हो अथवा उसकी लालसा तथा जिज्ञासा न हो और जो असम्भव है उसका चिन्तन हो यही

चित्त की अशुद्धि है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग, सत्य की खोज, प्रिय लालसा सम्भव है और वस्तु, व्यक्ति आदि से नित्य योग असम्भव है, क्योकि प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही परिवर्तनशील है और प्रत्येक सयोग वियोग मे बदलता ही है। किसी के भी सभी संकल्प पूरे नही होते, परन्तु जो सकल्प पूरे नही हो सकते उनका त्याग सम्भव है और सकल्प-पूर्ति के सुख की दासता से साधक मुक्त भी हो सकता है। जो हो सकता है, उसके कर डालने पर जो मिलना चाहिए वह मिल जाता है। अत जो असम्भव है उसका त्याग करके जो सम्भव है उसको पूरा करने से चित्त स्वत शुद्ध हो जावेगा।

अनावश्यक सकल्पो के त्याग से आवश्यक सकल्प सुगमतापूर्वक पूरे हो सकते हैं। परन्तु सकल्प-पूर्ति के सुख मे आबद्ध होने से अनावश्यक सकल्प उत्पन्न होने लगते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी सकल्प-पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दु ख मे आबद्ध हो जाता है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अनावश्यक और अशुद्ध सकल्पो के त्याग की सार्थकता तभी सिद्ध होती है, जब साधक शुद्ध सकल्प-पूर्ति के सुख मे आबद्ध न हो, क्योकि सकल्प-पूर्ति का सुख नवीन सकल्पो का जन्मदाता है। इतना ही नही, सुखभोग की रुचि से ही अशुद्ध सकल्प उत्पन्न होते हैं, कारण कि सुख का भोग देहाभिमान को पुष्ट करता है। यह नियम है कि देहाभिमान मे आबद्ध प्राणी चाह-रहित हो ही नही सकता। अचाह हुए बिना अशुद्ध सकल्पो का त्याग सम्भव नही हैऔर अशुद्ध सकल्पो के त्याग किए बिना शुद्ध सकल्पो की उत्पत्ति एव पूर्ति सभव नही यद्यपि आवश्यक सकल्पो की पूर्ति और अनावश्यक सकल्पो की निवृत्ति राग रहित होने का उपाय है,परन्तु साधक असावधानी के कारण सकल्प पूर्ति के सुख मे आबद्ध होकर

विद्यमान राग की निवृत्ति की तो कौन कहे, नवीन राग उत्पन्न कर लेता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार सकल्प पूर्ति विद्यमान राग की निवृत्ति का साधन है और सकल्प-अपूर्ति सकल्प-पूर्ति की दासता से मुक्त करने मे अपेक्षित है। इस दृष्टि से सकल्प पूर्ति-अपूर्ति दोनो मे ही साधक का हित है, परन्तु जो व्यक्ति संकल्प-पूर्ति को महत्व देता है और सकल्प-अपूर्ति को अनावश्यक तथा निरर्थक मानता है, वह सकल्प-अपूर्ति के भय तथा सकल्प-पूर्ति की दासता मे आबद्ध हो चित्त को अशुद्ध कर लेता है।

सकल्प-अपूर्ति मे दु ख, पूर्ति मे सुख और निवृत्ति मे शाति स्वत सिद्ध है, अथवा यो कहो कि सकल्प-अपूर्ति मे अभाव की अनुभूति और पूर्ति मे वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता एव निवृत्ति मे स्वाधीनता प्राप्त होती है। सकल्प-पूर्ति-अपूर्ति के परिणाम मे कोई भेद नही है। अन्तर केवल इतना है कि संकल्प-अपूर्तिकाल मे वस्तु, व्यक्ति आदि के अभाव मे पराधीनता और सकल्प-पूर्ति मे वस्तु, व्यक्ति आदि की उपलब्धि मे पराधीनता की अनुभूति होती है, अर्थात् सकल्प की पूर्ति-अपूर्ति मे प्राणी पराधीन ही रहता है, जो किसी को स्वभाव से प्रिय नही है। जब पूर्ति-अपूर्ति के परिणाम मे समानता है, तो फिर सकल्प-पूर्ति को महत्व देना और सकल्प-अपूर्ति से भयभीत होना कुछ अर्थ नही रखता। सकल्प-पूर्ति का महत्व मिटते ही सकल्प-अपूर्ति का भय स्वत मिट जाता है, जिससे संकल्प-निवृत्ति अपने आप आ जाती है। यदि साधक सङ्कल्प-निवृत्ति की शान्ति मे रमण न करे, तो चित्त-शुद्ध हो जाता है।

प्रत्येक चाह की पूर्ति मे श्रम तथा पराधीनता है और चाह-रहित होने मे न तो श्रम ही है और न पराधीनता, अपितु स्वाधीनता और विश्राम है। बड़े ही आश्चर्य की बात तो यह है कि

फिर भी प्राणी चाह-पूर्ति के लिए जितना लालायित रहता है उतना चाह-निवृत्ति के लिए नही। यद्यपि चाह-रहित होना आवश्यक चाह की पूर्ति मे वाधक नही है, और चाह-युक्त रहने से ही चाह पूरी हो जायेगी, यह कोई नियम नही है, फिर भी साधक चाह-रहित हो नही पाता, यह वडी ही जटिल समस्या है। अचाह होने मे कोई पराधीनता तथा श्रम नही है, किन्तु चाह-रहित होने के लिए प्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्वन्ध तोड़ना होगा। वस्तुओ का सदुपयोग तथा व्यक्तियो की सेवा भले ही विधिवत् की जाय, परन्तु उनकी ममता का अन्त करना अनिवार्य है। अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि के चिन्तन को भी मिटाना होगा। ममतामात्र से ही वस्तु, व्यक्ति सुरक्षित नही रह सकते, और न चिन्तनमात्र से किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की प्राप्ति ही सम्भव है। ममता और चिन्तन से केवल वस्तु, व्यक्ति आदि मे आसक्ति ही हो सकती है, और कुछ नही। वस्तु आदि की प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है। जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, उसका चिन्तन करना भूल है। यदि साधक प्राप्त वस्तु आदि से ममता और अप्राप्त वस्तु आदि का चिन्तन न करे, तो वडी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो सकता है, परन्तु यह तभी सम्भव होगा जव साधक जीवन ही मे मृत्यु का अनुभव कर ले, क्योकि मृत्यु और त्याग का स्वरूप एक है, और परिणाम मे ही भेद है। मृत्यु का परिणाम जन्म है, और त्याग का परिणाम अमरत्व है। इतना ही नही, मृत्यु अनिच्छापूर्वक आती है और त्याग स्वेच्छापूर्वक किया जा सकता है। यद्यपि मृत्यु और त्याग दोनो ही मे वस्तु, व्यक्ति आदि का वियोग है, परन्तु अन्तर यह है कि मृत्यु से सम्वन्ध तो वना रहता है पर वस्तु नष्ट हो जाती है, और त्याग से वस्तु तो वनी रहती है पर उससे सम्वन्ध नही रहता। वस्तु,

व्यक्ति आदि का सम्वन्ध ही चित्त को अशुद्ध करता है, क्योकि इससे लोभ, मोह आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते है।

मृत्यु तो वस्तु का नाश करती है, और त्याग वस्तु के सम्वन्ध का नाश करता है। वस्तु न रहे और सम्बन्ध वना रहे, तथा वस्तु रहे और सम्बन्ध न रहे, इन दोनो के परिणाम मे बडा भेद है। सम्वन्ध बना रहा और वस्तु न रही, तो उसकी आसक्ति चित्त को अशुद्ध कर देती है। सम्बन्ध नही रहा, और वस्तु वनी रही, तो चित्त अशुद्ध नही होता। इस दृष्टि से किसी वस्तु, व्यक्ति का होना न होना चित्त की शुद्धि मे हेतु है, प्रत्युत वस्तुओ का सम्बन्ध-विच्छेद चित्त को शुद्ध करता है, और सम्बन्ध चित्त को अशुद्ध करता है।

समस्त वस्तुओ से सम्वन्ध-विच्छेद हो जाने पर वर्तमान मे ही साधक अचाह पद को प्राप्त कर सकता है। अचाह मे ही नित्य-योग, चिर-शान्ति, अमरत्व और परम-प्रेम निहित है।

वस्तुओ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर वस्तुओ से सम्बन्ध-विच्छेद करने की सामर्थ्य स्वत आ जाती है, परन्तु इन्द्रियो के ज्ञान मे सत्यता वस्तुओ के स्वरूप का वोध नही होने देती। साधक को जब तक इन्द्रियो के ज्ञान मे सन्देह नही होता, तव तक जिज्ञासा की जागृति नही होती। जिज्ञासा की जागृति के बिना वस्तुओ की कामना का नाश नही होता, और कामना-नाश हुए विना वस्तुओ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान सम्भव नही है, कारण कि कामना-पूर्ति का प्रलोभन ही व्यक्ति को वस्तुओ मे सत्यता एव सुन्दरता का भास कराता है, जो चित्त को अशुद्ध करता है।

जिज्ञासा की जागृति आवश्यक कार्य मे बाधक नही है, क्योकि जो कार्य मिटाया नही जा सकता उसका पूरा होना अनि-

वार्य है। प्रत्येक कार्य समष्टि-शक्ति के सहयोग से पूरा होता है, पर उस कार्य के द्वारा सुख का भोग अथवा सुख की आशा व्यक्ति स्वय अपने प्रमाद से करता है। जिज्ञासा सुख भोग तथा सुख की आशा का नाश करती है, कार्य का नही। जब प्रत्येक कार्य सुख-भोग तथा सुख की आशा से रहित होने लगता है, तब कार्य के अन्त मे जिज्ञासा की जागृति कामनाओ का नाश करने मे समर्थ होती है, अर्थात् जिज्ञासा काम की नाशक है, कार्य की नही। कार्य तो प्राकृतिक विधान के अनुसार प्राप्त परिस्थिति के द्वारा स्वत होता रहता है। आवश्यक कार्य के लिए प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य योग्यता आदि के सदुपयोग की अपेक्षा है, अप्राप्त वस्तु आदि के चिन्तन की नही। ज्यो-ज्यो जिज्ञासा सवल तथा स्थायी होती जाती है,त्यो-त्यो वस्तु, व्यक्ति आदि का चिन्तन स्वत मिटता जाता है, अथवा यो कहो कि जिज्ञासा पूर्ति तथा काम का नाश युगपद है, जो चित्त की शुद्धि मे हेतु है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार निवृत्ति कामनाओ की, पूर्ति जिज्ञासा की तथा प्राप्ति प्रेम की होती है। कामनाओ की निवृत्ति मे योग, जिज्ञासा की पूर्ति मे वोध और प्रेम की प्राप्ति मे अगाध अनन्त रस निहित है। अत प्रत्येक प्रवृत्ति को योग, वोध तथा प्रेम पर दृष्टि रखते हुए ही करना चाहिए, तभी सुगमतापूर्वक चित्त-शुद्ध हो सकता है। प्रवृत्ति का सौंदर्य प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग मे और परिस्थिति का सदुपयोग विद्यमान राग की निवृत्ति मे हेतु है। विद्यमान राग की निवृत्ति होने पर जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति की उत्कट लालसा स्वत. उत्पन्न होती है। जिज्ञासा की पूर्ति नवीन राग को उत्पन्न नही होने देती और प्रेम की प्राप्ति सब प्रकार की खिन्नता, नीरसता, भिन्नता आदि को खा लेती है। खिन्नता का अन्त होते ही प्रसन्नता प्राप्त होती

है, नीरसता का अन्त होते ही अगाध अनन्त रस मिलता है और भिन्नता का अन्त होते ही भेद का नाश हो जाता है। इस दृष्टि से प्रेम की प्राप्ति मे ही जीवन की सार्थकता निहित है। परन्तु प्रेम की प्राप्ति जिज्ञासा की पूर्ति मे ही सम्भव है, क्योकि प्रेम निस्सन्देहता की भूमि मे ही उदय होता है और जिज्ञासा की पूर्त्ति कामनाओ की निवृत्ति से ही हो सकती है। अत कामना-निवृत्ति के लिए ही अनावश्यक कामनाओ का त्याग और आवश्यक कामनाओ को पूरा करता है। आवश्यक कामनाए प्राकृतिक विधान के अनुसार स्वत पूरी हो जाती है, परन्तु कामना-पूर्त्ति का उद्देश्य, कामना-निवृत्ति न होने के कारण, कामना-पूर्ति श्रम-साध्य प्रतीत होती है। यदि साधक कामना-पूर्ति के प्रलोभन से रहित हो जाय, तो बडी ही सुगमतापूर्वक उसका चित्त शुद्ध हो सकता है।

कामना-पूर्ति के प्रलोभन ने ही, जो सम्भव है, अर्थात् जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति, उसे असम्भव सा बना दिया है और वस्तु, व्यक्ति आदि का नित्य-सयोग सुरक्षित रखने की सोचना जो असम्भव है, उसमे सभाव्यता का भास करा दिया है। सम्भव मे असम्भव और असम्भव मे सम्भव का दर्शन कामना-पूर्ति के प्रलोभन से ही प्रतीत होता है। यद्यपि जो असम्भव है, वह सम्भव हो नही सकता और जो सम्भव है, उससे निराश होना कुछ अर्थ नही रखता, परन्तु प्राणी इन्द्रिय ज्ञान के प्रभाव मे आबद्ध होने के कारण निराशा मे आशा और आशा मे निराशा मान बैठता है, जो सर्वथा त्याज्य है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से कभी निराश नही होना चाहिए। परन्तु उसका उपयोग कामना-निवृत्ति, जिज्ञासा-पूर्ति एव प्रेम की प्राप्ति के लिए ही करना चाहिए। असत्य को असत्य जान

लेने पर सत्य की खोज तथा उसकी प्राप्ति हो सकती है। अत सत्य की खोज एव उसकी प्राप्ति से भी निराश नही होना चाहिए। वस्तुओ से अतीत जो है उस पर विश्वास हो सकता है। जिस पर विश्वास हो सकता है उससे नित्य-सम्बन्ध स्वत. सिद्ध है। जिससे नित्य सम्बन्ध है उसकी मधुर स्मृति अपने आप होती है। यह नियम है कि किसी की स्मृति किसी की विस्मृति करा देती है। अत जिनसे नित्य-सम्बन्ध है उनकी मधुर स्मृति वस्तु आदि की विस्मृति करा देती है,जिसके होते ही प्रेमी प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है, अथवा यो कहो कि प्रेमास्पद का प्रेम प्रेमी का जीवन हो जाता है। प्रेम के साम्राज्य मे प्रेम का ही आदान-प्रदान है, जो रस-रूप है।

प्रेम की प्राप्ति सम्भव है। उससे कभी निराश नही होना चाहिए और वस्तु, व्यक्ति आदि का नित्य सयोग असम्भव है, उसकी आशा नही करनी चाहिए। व्यक्तियो की सेवा और वस्तुओ का सदुपयोग कर्त्तव्य है, उससे कभी विमुख नही होना चाहिए। कर्त्तव्य-परायणता और प्रेम की आशा दृढ होते ही चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है।

२८—५—५६

१७

गुण-दोष-युक्त द्वन्द्व से मुक्ति

[गुण-दोष-युक्त अवस्था मे आसक्त होने से ही चित्त अशुद्ध हो जाता है। जब प्राणी दोष के ऊपर गुण का लेप कर लेता है, तब गुण-दोष-युक्त द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। गुण का सीमित होना, गुण का अभिमान और गुण के विपरीत होना दोष, इनका भास होना ही गुण-दोष-युक्त द्वन्द्व है, जो चित्त को अशुद्ध कर देता है।

गुण और जीवन की भिन्नता ने ही गुणो का मिथ्या अभिमान उत्पन्न किया और गुणो के अभिमान से ही समस्त दोषो की उत्पत्ति हुई। समस्त गुण स्वाभाविक हैं, सभी दोष अस्वाभाविक हैं। प्रत्येक दोष उसी समय तक जीवित है जब तक उससे सम्बन्ध स्वीकार कर लिया है,अर्थात् भूतकाल की घटना को वर्तमान मे स्वीकार कर लेना ही दोष को जीवित रखना है, जो वास्तव मे चित्त की अशुद्धि है।

गुण-दोष-युक्त अवस्था मे आसक्ति कर्तव्यनिष्ठ होने से मिट जाती है, और प्राप्त सामर्थ्य के सद्व्यय से भी गुण-दोष-युक्त अवस्था की आसक्ति स्वत मिट जाती है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय

गुण दोष-युक्त अवस्था मे आसक्त होने से ही चित्त अशुद्ध

हो जाता है, कारण कि द्वन्द्वात्मक स्थिति मे गुण का अभिमान और दोष की उत्पत्ति स्वत होती है। यद्यपि गुण का अभिमान भी दोष ही है परन्तु उसका वाह्य रूप दोष नही प्रतीत होता, अपितु गुण ही भासता है। यह नियम है कि प्रतीत का मूल सीमित अहम्भाव है, जो स्वय दोष है। जब प्राणी दोष के ऊपर गुण का लेप कर लेता है तब गुण-दोष युक्त द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है, जो उसे अपराधी-भाव अथवा मिथ्या अभिमान मे आबद्ध कर देता है। अपराधी-भाव-जनित दु ख को दवाने के लिए मिथ्या अभिमान की उत्पत्ति होती है और मिथ्या अभिमान दोष को जन्म देता है। दोष की उत्पत्ति प्राणी मे अपराधी भाव दृढ कर देती है। अपराधी-भाव के दृढ होते ही प्राणी अपनी दृष्टि मे अपने को आदर के योग्य नही पाता। उसका परिणाम यह होता है कि उसके जीवन मे उत्कृष्टता की ओर अग्रसर होने के लिए उत्कण्ठा तथा उत्साह नही रहता, जिसके न रहने से नीरसता उत्तरोत्तर वढती रहती है, जो क्षोभ तथा क्रोध को उत्पन्न कर प्राणी को कर्तव्य से च्युत कर देती है।

यह नियम है कि आसक्ति उसी से होती है जिससे किसी न किसी प्रकार की भिन्नता हो। जिससे स्वरूप की एकता होती है उसकी आसक्ति नही होती, क्योकि भेद से ही आसक्ति उत्पन्न होती है, अभेद मे नही जव साधक के जीवन मे और गुणो मे एकता नही होती,तभी गुणो की आसक्ति तथा उनका अभिमान उत्पन्न होता है, जो समस्त दोषो का मूल है। दोष-जनित सुख भोग ही प्राणी मे दोपो की आसक्ति उत्पन्न करता है। ऐसा कोई दोष है ही नही, जिससे प्राणी की वास्तविक एकता हो जाय। सभी दोप उत्पत्ति-विनाश-युक्त है। जो वस्तु उत्पत्ति-विनाश-युक्त होती है, उसकी स्वरूप मे स्थिति नही होती। उत्पत्ति-विनाश की

जो क्रम है वही स्थिति जसा प्रतीत होता है। इस दृष्टि से किसी भी दोष की स्थायी स्थिति सिद्ध नही है। इसी कारण ऐसा कोई दोषी है ही नही, जो सर्वदा दोपी हो और सभी के लिए दोषी हो। इतना ही नही, दोष मे सत्ता सीमित गुण की होती है, दोष की नही। यदि दोष का स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो उसकी निवृत्ति का प्रश्न ही उत्पन्न न हो। दोष-जनित सुख के प्रलोभन से भले ही दोष की पुनरावृत्ति हो, किन्तु दोप की निवृत्ति की लालसा किसी-न-किसी अश मे प्रत्येक दोषी मे सदैव रहती है। परन्तु जब दोष-निवृत्ति की लालसा सर्वांग मे जागृत हो जाती है, तव सभी दोष स्वत निर्जीव हो जाते हैं, अथवा यो कहो कि निर्दोषता आ जाती है। इस दृष्टि से गुण-दोष-युक्त अवस्था वास्तविक नही है, प्रत्युत गुण का सीमित रूप ही दोष है, अथवा यो कहो कि गुण के विपरीत जो कुछ है, वह दोष है। गुण का सीमित होना, गुण का अभिमान और गुण के विपरीत होना दोष, इनका भास होना ही गुण-दोष-युक्त द्वन्द्व है, जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। ज्यो-ज्यो गुण का अभिमान गलता जाता है, त्यो-त्यो दोष भी मिटते जाते है। सर्वांश मे गुणो का अभिमान गल जाने पर दोष स्वत मिट जाते हैं। जिस प्रकार बिना भूमि के कोई भी पौधा न उगता ही है और न वृद्धि ही पाता है, उसी प्रकार गुणो के अभिमान के बिना न किसी दोष की उत्पत्ति ही होती है और न वृद्धि ही। इस दृष्टि से गुणो का अभिमान ही वास्तविक दोप है। इतना ही नही, गुण का अभिमान दोप-जनित सुख की आसक्ति का नाश नही होने देता और न दोष की उत्पत्ति की वेदना ही जागृत होने देता है। यह नियम है कि दोषो की उत्पत्ति की वेदना दोष-जनित सुख की आसक्ति को खाकर निर्दोषता प्रदान करने मे समर्थ है।

गुण और जीवन की भिन्नता ने ही गुणो का मिथ्या अभिमान उत्पन्न किया और गुणो के अभिमान से ही समस्त दोषो की उत्पत्ति हुई। यदि साधक गुण और जीवन का भेद मिटा दे, तो बडी सुगमतापूर्वक गुण-दोष-युक्त अवस्था का अन्त हो सकता है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

समस्त गुण स्वाभाविक हैं, और समस्त दोष उत्पत्ति-विनाश-युक्त, अर्थात् अस्वाभाविक है। स्वाभाविकता मे अस्वाभाविकता की स्थापना यदि न की जाय, तो अस्वाभाविकता स्वत मिट जाती है, और फिर जीवन तथा गुणो मे भेद नही रहता। इस दृष्टि से प्रत्येक दोष उसी समय तक जीवित है, जब तक उससे सम्बन्ध स्वीकार किया हुआ है, अर्थात् भूतकाल की घटना को वर्त्तमान मे स्वीकार करना ही दोष को जीवित रखना है, जो वास्तव मे चित्त की अशुद्धि है। दोष का ज्ञान, जिस ज्ञान मे विद्यमान है यदि उसका अनादर न किया जाय, तो किसी भी दोष की उत्पत्ति ही सम्भव नही है। ज्ञान स्वाभाविक है और उसका आदर भी स्वाभाविक है। उस स्वाभाविकता से यदि अस्वाभाविकता की स्थापना न की जाय, तो दोष जैसी वस्तु सिद्ध ही नही हो सकती। अत· प्रत्येक दोष की सिद्धि ज्ञान के अनादर मे निहित है। ज्ञान का अनादर कब से हुआ है, उसका ज्ञान सम्भव नही है, पर उसका आदर वर्त्तमान मे सम्भव है, जिसके करते ही ज्ञान का अनादर और उसका परिणाम-दोषो की उत्पत्ति अर्थात् दोष और उसका कारण सदा के लिए मिट जाता है। अत जाने हुए अनादर ने ही गुण और जीवन मे भिन्नता उत्पन्न कर दी है, जो सभी दोषो का मूल है।

समस्त दोषो मे आसक्ति दोषजनित सुख के भोग मे निहित है। यदि दोषजनित सुख का भोग न किया जाय, तो दोषो मे

अनासक्ति अपने आप हो जाती है, जिसके होते ही निर्दोषता स्वत आ जाती है। अपने आप वही आती है जो वास्तव मे है। उस 'है' को जब साधक असावधानी के कारण सीमित अहम् मे स्थापित कर लेता है, तब गुणो का अभिमान उत्पन्न हो जाता है, जिसके होते ही दोषो की पुनरावृत्ति होने लगती है। दोष की आसक्ति भोग मे, अर्थात् इन्द्रिय और विषय मे सम्बन्ध जोडती है, और गुण की आसक्ति सीमित अहम्भाव की पूजा मे आबद्ध करती है। अहम्भाव की पूजा साधक के जीवन मे दम्भ उत्पन्न करती है, और इन्द्रिय तथा विषयो का सम्बन्ध साधक को पराधीन बनाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। भोग्य वस्तुओ की कामना और व्यक्तित्व के आदर की दासता गुण-दोष-युक्त अवस्था की आसक्ति मे ही निहित है। यद्यपि व्यक्तित्व का आदर अधिकार-लालसा के त्याग मे तथा दूसरो के अधिकार की रक्षा मे निहित है और भोग्य वस्तुओ की प्राप्ति प्राकृतिक न्याय से होती है, परन्तु साधक असावधानी से भोग्य वस्तुएँ और व्यक्तित्व का आदर बलपूर्वक दूसरो को भय तथा प्रलोभन देकर प्राप्त करना चाहता है, जो वास्तव मे सम्भव नही है। बल के सदुपयोग से निर्बलो मे निर्भयता और सबल तथा निर्बल के बीच एकता आती है सबल और निर्बल के बीच भिन्नता और पारस्परिक भय बल के दुरुपयोग से ही होता है, जिसका कारण एकमात्र चित्त की अशुद्धि है।

जिस प्रकार प्रत्येक लहर मे जल सागर का है, लहर का नही, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति मे बल उस अनन्त का है, व्यक्ति का नही। जब व्यक्ति अनन्त के बल को अपना बल मान लेता है, तब उसमे मिथ्या अभिमान उत्पन्न होता है, जो सबल और निर्बल के बीच भेद उत्पन्न कर देता है, जिससे अनेक प्रकार के

सघर्ष उत्पन्न हो जाते है। उसका परिणाम यह होता है कि सबल निर्बल और निर्बल सबल होता रहता है। यह नियम है कि जिस बल का भास किसी की निर्बलता पर निर्भर है, वह वास्तव मे बल के वेष मे निर्बलता ही है, बल नही, क्योकि यदि बल होता तो दूसरो की निर्बलता को दूर करने मे काम आता। जिससे दूसरो मे निर्बलता की वृद्धि होती है उसे बल मान लेना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नही है। वास्तविक बल वही है, जो सबल और निर्बल मे एकता उत्पन्न कर दे। यह तभी सम्भव होगा जब प्राप्त बल को निर्बलो को धरोहर मान लिया जाय, अपनी भोग सामग्री नही। बल को निर्बल के समर्पित करते ही बल का अभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दशा मे कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है, क्योकि कर्त्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्य प्राकृतिक विधान के अनुरूप सबमे विद्यमान है। विद्यमान ज्ञान तथा सामर्थ्य के सदुपयोग मे ही कर्त्तव्यपरायणता की पराकाष्ठा है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-पालन मे असमर्थता नही है। व्यक्ति किसी भी परिस्थिति मे क्यो न हो, कर्त्तव्य से च्युत होना असावधानी है, वास्तविकता नही। परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य-पालन से किसी का अनादर नही होता, प्रत्युत उसका जीवन विधान वन जाता है। विधान और जीवन मे जो एकता है, यही चित्त की शुद्धि है और विधान और जीवन मे जो भेद है वही चित्त की अशुद्धि है। कर्त्तव्य का विधान कर्त्ता मे मौजूद है, पर वह वेचारा असावधानी के कारण उसका आदर नही करता और जो नही जानता है उसको जानने के लिए और जो नही कर सकता है उसे करने के लिए व्यर्थ ही चिन्तित रहता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो जानकारी थी, वह आच्छादित होने लगती है

और जो सामर्थ्य था उसका ह्रास होने लगता है। अत जो नही जानते है और उसको जानने के लिए और जो नही कर सकते हैं उसको करने के लिए कभी चिन्तित नही होना चाहिए, प्रत्युत जो जानते हैं और जो कर सकते हैं उसे आलस्य तथा असावधानी से रहित होकर करने के लिए सतत उद्यत रहना चाहिए। अब यदि कोई यह कहे कि जो नही जानते है उसको जानने की चिन्ता न करने से तो जानकारी मे वृद्धि न होगी, तो कहना होगा कि जानकारी मे वृद्धि जानकारी के आदर से होती है, उसकी चिन्ता करने से नही। प्राकृतिक नियम के अनुसार ज्ञान और जीवन मे एकता होने से आवश्यक ज्ञान और सामर्थ्य अपने आप स्वत प्राप्त होता है, उसके लिए चिन्ता नही करनी पडती। अप्राप्त ज्ञान तथा सामर्थ्य के लिए वे ही प्राणी चिन्तित रहते हैं, जो प्राप्त ज्ञान तथा सामर्थ्य का दुरुपयोग नही करते। प्राणी पर दायित्व अप्राप्त सामर्थ्य तथा ज्ञान के सम्पादन का नही है, अपितु प्राप्त सामर्थ्य तथा ज्ञान के सदुपयोग का है। कर्तव्य-पालन के लिए आवश्यक सामर्थ्य योग्यता और वस्तु स्वत प्राप्त होती है। प्राणी उस प्राप्त सामर्थ्य तथा वस्तु को अपनी मानकर व्यर्थ ही दीनता और अभिमान मे आबद्ध हो जाता है।

प्राणी दीनता मे आबद्ध होने पर अप्राप्त सामर्थ्य और ज्ञान के लिए चिन्ता करता है और अभिमान मे आबद्ध होने से प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता तथा वस्तु का दुरुपयोग करता है। कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी के जीवन मे दीनता तथा अभिमान का कोई स्थान ही नही है क्योकि अभिमान तो तव किया जाय जव सामर्थ्य योग्यता, और वस्तु अपनी हो और दीन तब बना जाय जब वह करना पडे जो नही कर सकते और उस ज्ञान की अपेक्षा हो जो प्राप्त नही है। किसी भी विधान के अनुसार वह कर्तव्य हो ही

नही सकता जिसके पालन का सामर्थ्य तथा ज्ञान कर्ता मे न हो, जैसे—जिसके पास किसी प्रकार का सग्रह नही है, उस पर किसी प्रकार का कर नही लगता और न उससे कोई किसी प्रकार की आशा करता है। सामर्थ्य, योग्यता और वस्तुओ के सग्रह मे ही कर्तव्य का प्रश्न है और सग्रह के अनुसार करने मे कोई कठिनाई नही है। अत कर्तव्य-पालन स्वाभाविक है,उसमे जो अस्वाभाविकता है, अथवा जो कठिनाई प्रतीत होती है, वह केवल कर्ता की अपनी ही असावधानी है, और कुछ नही।

गुण-दोष-युक्त अवस्था की आसक्ति कर्तव्यनिष्ठ होने से स्वत मिट जाती है। पर कर्तव्य-पालन तभी सम्भव होता है जब व्यक्ति अपनी वास्तविकता को छिपाने का प्रयास न करे, प्रत्युत जो सत्य है उसको निर्भयतापूर्वक प्रकाशित करने मे समर्थ है और उस परिस्थिति के अनुसार जो कर्तव्य है उसके पालन मे दृढ हो। सत्य प्रकाशन से किसी का अहित नही है और परिस्थिति के अनुसार साधन करने से अनादर आदर मे स्वत बदल जाता है। परन्तु प्राणी वर्तमान के दु ख से भयभीत होकर कर्तव्य-पालन मे तत्पर नही होता और सत्य को छिपा-कर मिथ्या आदर पाने के लिए व्यर्थ ही चेष्टा करता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो सामर्थ्य कर्तव्य-पालन के लिए था उसका दुर्व्यय हो जाता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार जिसकी अवनति हुई है, उसकी उन्नति हो सकती है और जो अशुद्धि है वह शुद्धि मे बदल सकती है। अकर्तव्य कर्तव्य से मिट सकता है। वर्तमान मे कितनी ही असमर्थता तथा भय क्यो न हो, परन्तु उस स्थिति मे जो करना चाहिए उसके करने से आवश्यक सामर्थ्य तथा निर्भयता अपने

आप आ जाती है। निर्भयता आने पर सामर्थ्य का सद्व्यय होने लगता है। अत प्राप्त सामर्थ्य के सद्व्यय से गुण-दोष-युक्त अवस्था की आसक्ति मिट जाती है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार चित्त की शुद्धि मे ही समस्त विकास निहित है।

२१-५-५६

१८

सुख के प्रलोभन तथा दुःख के भय से मुक्ति

[सुख-दु ख अपने आप आने-जाने वाली वस्तु है। उनके सदुपयोग मे ही प्राणी का पुरुषार्थ निहित हैं। सुख-दु ख का सदुपयोग सुख-दु ख मे समानता का दर्शन कराता है, जिससे सुख की दासता और दु ख का भय मिट जाता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

समस्त दोषो का मूल कामना-पूर्ति का प्रलोभन है। यद्यपि दोष रहते हुए दोष छिपाया नहीं जा सकता, परन्तु अनादर के भय से भयभीत होकर एक दोष को छिपाने के लिए व्यक्ति अनेक दोष करने लगता है। यदि अपने दोष को स्पष्ट जान लिया जाय, उसे प्रकाशित कर दिया जाय तथा उसे न दुहराया जाय तो निर्दोषता आ जाती है।

दोष-जनित सुख से अरुचि जितनी सबल होती है, उतनी ही सबल दोष-जनित सुख के राग की निवृत्ति होती है, जो निर्दोषता प्रदान करने मे समर्थ है।

चित्तशुद्धि के लिए दोष-जनित दु ख का तीव्र होना आवश्यक है, क्योकि दु ख से ही सुख का राग मिट सकता है, हर किसी भी दृष्टि से साधक निर्दोषता से निराश न हो, क्योकि निर्दोषता से प्राणी की जातीय तथा स्वरूप की एकता है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

सुख को सुरक्षित रखने के प्रलोभन और दु ख के भय ने चित्त को अशुद्ध कर दिया है। यद्यपि सुख के आदि और अन्त मे दु ख स्वाभाविक है, परन्तु प्राणी दु ख पर दृष्टि न रखकर सुख की दासता मे अपने को आबद्ध कर लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि सुख भी सुरक्षित नही रहता और दु ख से भी बच नही पाता, अर्थात् न तो सुख के भोग की ही सिद्धि होती है और न दु ख के भय से ही छुटकारा मिलता है, जिसके न मिलने से चित्त अशुद्ध हो जाता है।

सुख क्या है ? उसमे इतनी प्रियता क्यो ? यदि इस पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट विदित होता है कि सुख सकल्प-पूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नही है। सकल्प-निवृत्ति के वास्तविक महत्व को न जानने से और सकल्प-अपूर्ति के दु ख को सहन न करने से सकल्प-पूर्ति के सुख मे प्रियता मालूम होती है। यद्यपि प्रत्येक सकल्प की पूर्ति नवीन सकल्प की जननी है, परन्तु असावधानी के कारण प्राणी इस तथ्य पर ध्यान नही देता और सकल्प-पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दु ख मे ही जीवन-बुद्धि स्वीकार कर चित्त को अशुद्ध कर लेता है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक परिस्थिति मे सकल्प-पूर्ति का द्वन्द्व है। अत किसी भी परिस्थिति से यह आशा करना कि सकल्प अपूर्ति का चित्र अर्थात् दु ख नही आएगा और सकल्प-पूर्ति के सुख का स्वप्न सुरक्षित बना रहेगा, असभव मे सम्भव बुद्धि स्वीकार करना है, जो अविवेकसिद्ध है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति समान ही अर्थ रखती है, तो फिर अप्राप्त परिस्थिति का सकल्प करना निरर्थक ही सिद्ध होता है और परिस्थिति को ही जीवन मानना सुख-दु ख मे आबद्ध होना ही है, और कुछ नही जो

चित्त की अशुद्धि है।

सुख-दु ख अपने आप आने-जाने वाली वस्तु हैं। उनके सदु-पयोग मे ही प्राणी का पुरुपार्थ निहित है। सुख-दु ख का सदुपयोग सुख-दु ख से अतीत जीवन से सम्वन्ध जोडने मे अथवा उससे अभिन्न करने मे समर्थ है। इतना ही नही, सुख-दु ख का सदुपयोग सुख-दु ख मे समानता का दर्शन कराता है,जिससे सुख की दासता और दु ख का भय मिट जाता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। सुख-दु ख के सदुपयोग के महत्व को भली भाति जान लेने पर किसी अप्राप्त परिस्थिति की कामना नही रहती और प्राप्त परिस्थिति साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नही प्रतीत होती, अथवा यो कहो कि परिस्थितियो मे जीवन-बुद्धि नही रहती,जिसके न रहने पर सकल्प-पूर्ति की दासता मिट जाती है और सकल्प-निवृत्ति का महत्व चित्त मे अङ्कित हो जाता है। ज्यो-ज्यो सकल्प-निवृत्ति का महत्व सवल एव स्थायी होता जाता है, त्यो-त्यो सकल्प-अपूर्ति का दु ख और पूर्ति का सुख स्वत मिटता जाता है।

कामना-पूर्ति का प्रलोभन प्राणी को सर्वांश मे सत्य का अनु-सरण नही करने देता, अर्थात् न तो असत्य को जानकर उससे विमुख ही होने देता हैं और न असत्य को प्रकट करने का साहस ही रहने देता है। उसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति सत्य की तो चर्चा करता है और असत्य मे रमण करता है,जो वास्तव मे चित्त की अशुद्धि है। कामना-पूर्ति की दासता प्राणी के मूल्य का अपहरण कर लेती है, जिसके होते ही साधक वस्तु, व्यक्ति आदि के आधीन हो जाता है। वस्तु के आधीन होने से लोभ और व्यक्ति के आधीन होने से मोह की उत्पत्ति होती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है।

सर्वांश मे सत्य का अनुसरण किये बिना निज ज्ञान और जीवन मे जो भिन्नता उत्पन्न हो गई है, उसका नाश नही हो सकता और उसके बिना सत्य से अभिन्नता नही हो सकती, जो वास्तविक जीवन है। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति के प्रलोभन को त्याग, सत्य का अनुसरण करना अनिवार्य है।

कामना-पूर्ति ने ही असत् से सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। यद्यपि असत्य को असत्य जानना स्वाभाविक है, परन्तु उससे विमुखता दुर्लभ हो गई है, क्योकि असत् से सम्बन्ध स्वीकार करने पर ही कामना की उत्पत्ति और पूर्ति होती है। कामना की उत्पत्ति और पूर्ति का द्वन्द्व सत्य की जिज्ञासा जागृत नही होने देता। सत्य की जिज्ञासा के बिना असत्य के त्याग का सामर्थ्य नही आता। यह नियम है कि सत् असत् का प्रकाशक है, नाशक नही, पर सत्य की जिज्ञासा असत् को खाकर सत् से अभिन्न करने मे समर्थ है। अत सत्य की जिज्ञासा के बिना असत् से विमुखता सम्भव नही और कामना-पूर्त्ति के प्रलोभन का त्याग बिना किये सत्य की जिज्ञासा जागृत हो ही नही सकती। इस दृष्टि से सत्य से अभिन्न होने के लिए कामनाओ का त्याग अनिवार्य है।

समस्त दोषो का मूल कामना-पूर्ति का प्रलोभन है। अपने जाने हुए दोष को बनाये रखने की रुचि मे भी कामनापूर्ति का सुख ही हेतु है। यह नियम है कि जाने हुए दोष को अपना लेने पर व्यक्ति अपनी दृष्टि मे भी अपने को आदर के योग्य नही पाता। जो अपनी दृष्टि मे आदर के योग्य नही रह जाता, वही दूसरो से आदर पाने की मिथ्या आशा करता है और उसके लिए अपने दोष को छिपाता है। यद्यपि दोष रहते हुए दोष छिपाया नही जा सकता, परन्तु अनादर के भय से भयभीत होकर एक दोष को छिपाने के लिए अनेक दोष करने लगता है। ज्यो-ज्यो दोष

करता जाता है, त्यो-त्यो अनादर का भय स्वत. बढता जाता है। ज्यो-ज्यो अनादर का भय बढता जाता है, त्यो-त्यो असत् को असत् जानकर भी उसे प्रकाशित नही कर पाता । उसका परिणाम यह होता है कि पारस्परिक अविश्वास उत्पन्न हो जाता है, जिससे एकता मिट जाती है, जिसके मिटते ही सघर्ष उत्पन्न होता है, जो विनाश का मूल है । यदि अपने दोष को स्पष्ट जान लिया जाय, उसे प्रकाशित कर दिया जाय तथा उसे न दुहराया जाय, तो बडी सुगमता पूर्वक अनादर तथा हानि का भय मिट सकता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध होने लगता है । इतना ही नही, निर्दोषता आ जाती है, जिसके आते ही प्राणी अपनी तथा दूसरो की दृष्टि मे आदर एव प्यार पाने के योग्य हो जाता है। इस दृष्टि मे अपनी भूल छिपाने के लिए असत्य का आश्रय लेना, अथवा यो कहो कि सत्य का प्रकाशन न करना सर्वथा त्याज्य है । सर्वांग मे सत्य का अनुसरण और असत् से विमुखता एव सत्य को प्रकट करने का साहस तभी सम्भव है, जब साधक कामना-पूर्ति के प्रलोभन से रहित हो जावे, क्योकि उसके विना सफलता सम्भव नही है ।

वर्तमान वस्तुस्थिति का वास्तविक परिचय प्राप्त किये विना कोई भी साधक उत्कृष्टता की ओर अग्रसर नही हो सकता, क्योकि जब तक प्राणी अपनी वस्तुस्थिति से अपरिचित है तब तक सच्ची वेदना जागृत नही होती । उसके विना सकल्प-पूर्ति के सुख का राग निवृत्त नही होता और राग-निवृत्ति के विना दोपयुक्त प्रवृत्तियो से अरुचि नही होती ।

किसी भय तथा प्रलोभन से प्रेरित होकर दोष-युक्त प्रवृत्ति मे प्रवृत्त न होना कोई महत्व की बात नही है, क्योकि दोष न करने मात्र से ही दोष-जनित सुख की रुचि नष्ट नही हो जाती और उसके नष्ट हुए विना दोप का त्याग सम्भव नही है, क्योकि दोप-

युक्त प्रवृत्ति न होने पर भी उसका राग चित्त मे अंकित रहता है, जो कभी भी ऊपर से स्थापित की हुई निर्दोषता का अन्त कर सकता है, अर्थात् भय मे शिथिलता आ जाने से और सुख का प्रलोभन उत्पन्न होने पर कभी भी त्यागा हुआ दोष दुहराया जा सकता है। इस कारण दोष-जनित सुख से अरुचि जितनी सबल होती है, उतनी ही सबल दोष-जनित सुख के राग की निवृत्ति होती है, जो निर्दोषता प्रदान करने मे समर्थ है। निर्दोषता के बिना असत् का त्याग और सत् से अभिन्नता सम्भव नही है।

अपनी निर्बलता का यथेष्ठ और यथार्थ परिचय ही वस्तु-स्थिति का परिचय है। अपने मे किसी सीमित गुण का भास-मात्र वस्तुस्थिति का वास्तविक परिचय नही है, क्योकि गुण का भास तो मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है, उससे साधक मे क्रान्ति नही आती, अपितु किसी-न-किसी अग मे शिथिलता ही आती है। अत अपनी निर्बलताओ का ज्ञान ही वस्तुस्थिति का वास्तविक ज्ञान है। निर्बलता के ज्ञान मे उसके मिटाने की लालसा निहित है, क्योकि प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी भी प्राणी को अपने मे निर्बलता बनाए रखना अभीष्ट नही है। इस दृष्टि से जितना स्पष्ट अपनी निर्बलताओ का परिचय होता है, उतनी ही तीव्रता के साथ उन्हे मिटाने की लालसा जागृत होती है। यह नियम है कि निर्बलता मिटाने की लालसा निर्बलता-जनित सुख की इच्छाओ को खा लेती है, जिससे निर्बलताओ को पुन न दुहराने का सामर्थ्य आ जाता है, जो चित्त को शुद्ध करने मे हेतु है।

निर्बलता-जनित वेदना को दबाने का प्रयास निर्बलताओ का आवाहन करना है। अपना गुण और पराए दोष देखने-मात्र से ही निर्बलता-जनित वेदना मे शिथिलता आ जाती है, जिससे बेचारा प्राणी निर्बलताओ मे आबद्ध हो जाता है, जिससे चित्त

अशुद्ध हो जाता है।

चित्त-शुद्धि के लिए दोष-जनित दुःख का तीव्र होना आवश्यक है, क्योंकि दुःख से ही सुख का राग मिट सकता है। पर किसी भी स्थिति मे साधक को निर्दोषता से निराश नही होना है, क्योकि निर्दोपता से प्राणी की जातीय तथा स्वरूप की एकता है। जिससे वास्तविक एकता है, उसकी प्राप्ति सम्भव है और जिन दोषो से प्रमादवश एकता स्वीकार कर ली है उनकी निवृत्ति हो सकती है। दोपो से उत्पन्न हुई परिस्थिति के परिवर्तन मे भले ही काल अपेक्षित हो, परन्तु दोष-रहित होने के लिए तो दोष को न दुहराने का दृढ व्रत ही पर्याप्त है, जो वर्तमान मे हो सकता है। प्राणी निर्दोष कहलाने मे भले ही परतन्त्र हो, पर निर्दोप होने मे सर्वदा स्वतंत्र है। प्राकृतिक नियम है कि निर्दोष होने पर निर्दोपता का प्रादुर्भाव उसके बाह्य जीवन मे स्वतः होने लगता है। इतना ही नही, कालान्तर मे उसका जीवन विधान बन जाता है। निर्दोष कहलाने की कामना तो एक दोप ही है। उससे तो सदैव सजग रहना चाहिए, क्योकि निर्दोष कहलाने की रुचि सीमित अहम्‌भाव को पुष्ट करती है, जो समस्त दोषों का मूल है। इस दृष्टि से दोप से भी कही अधिक दोष है अपने को निर्दोप कहलाने की कामना मे आबद्ध रखना। इतना ही नही, निर्दोष कहलाने की कामना तभी तक जीवित रहती है, जब तक साधक सर्वांश में निर्दोष नही हो जाता।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या सर्वांश मे निर्दोषता सम्भव है? तो कहना होगा कि आँशिक निर्दोषता तो प्रत्येक दोषी मे रहती है, क्योकि सर्वांश में कोई दोषी हो ही नही सकता, क्योकि ऐसा कोई व्यक्ति है ही नही, जो सभी का सर्वदा बुरा चाहे। बुरे-से-बुरे व्यक्ति मे भी किसी-न-किसी अंश मे किसी-न-किसी के

प्रति भलाई की भावना अवश्य रहती है। यह नियम है कि भावना के अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है। अत यह निर्विवाद सत्य है कि सर्वांश मे सभी के लिए कोई दोषी नही होता,किन्तु निर्दोषता सर्वांश मे ही होती है। यदि सर्वांश मे कोई दोषी होता, तो उसे अपने दोष का ज्ञान ही नही होता। दोष का ज्ञान यह सिद्ध करता है कि जीवन मे किसी न किसी अश मे निर्दोपता है।

सकल्प-पूर्ति के सुख का प्रलोभन और अपूर्ति के दुःख का भय चित्त को अशुद्ध करता है। यदि सकल्प की उत्पत्ति ही न हो, तो चित्त के अशुद्ध होने का प्रश्न ही नही उत्पन्न होता। इस दृष्टि से सकल्प-उत्पत्ति ही चित्त की अशुद्धि का मूल कारण है। अब विचार यह करना है कि सकल्प का स्वरूप क्या है और उसकी उत्पत्ति ही क्यो होती है ? प्रत्येक सकल्प की उत्पत्ति का कारण एकमात्र अपने मे देह-भाव स्वीकार करना है, जो अविवेक-सद्धि है। अविवेक विवेक के आदर-मात्र से ही मिट सकता है। देह आदि वस्तुओ का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना ही सकल्प का स्वरूप है।

अब यदि कोई यह कहे कि जो वस्तुएँ प्रत्यक्ष प्रतीत हो रही हैं, उनके अस्तित्व को क्यो न स्वीकार किया जाय ? तो कहना होगा कि क्या कोई ऐसी वस्तु है कि जिसमे सतत परिवर्तन न हो रहा हो? अथवा जिसका अदर्शन न हो अथवा जिसका वियोग न हो ? इन्द्रिय-ज्ञान से जो वस्तुएं प्रत्यक्ष होती हैं, उन्ही मे बुद्धि-ज्ञान से सतत परिवर्तन भासित होता है, अथवा यो कहो कि कोई भी वस्तु,अवस्था,परिस्थिति ऐसी नही है जो उत्पत्ति विनाश-युक्त न हो। इतना ही नही,उत्पत्ति-विनाश के क्रम मे ही स्थिति भास-मात्र है, वास्तविक नही। जिसकी स्थिति ही सिद्ध नही है जो केवल प्रतीति-मात्र है,उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करना

प्रमाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ?

वस्तुओ के अस्तित्व को स्वीकार करने-मात्र से बेचारा साधक सकल्प की उत्पत्ति और पूर्ति मे आबद्ध हो गया है और जो सभी वस्तुओ से अतीत वास्तविक जीवन है उससे विमुख हो गया है। यद्यपि जो वस्तुए प्रतीत हो रही हैं, उनकी प्राप्ति कभी सभव नही है और जो वास्तविक जीवन प्रतीत नही हो रहा है उसकी ही प्राप्ति सभव है, परन्तु बेचारा साधक इस रहस्य को विना ही जाने प्रतीति-मात्र को प्राप्ति और जिसकी प्रतीति नही है, प्रत्युत प्राप्त है,उसकी अप्राप्ति मान लेता है। यह मान्यता वास्तविकता से वचित करती है। प्रतीति प्राप्ति का चिह्न नही है, अपितु किसी न किसी प्रकार की दूरी तथा भेद सिद्ध करती है, अथवा यो कहो कि प्रतीति मे अल्प-ज्ञान का प्रभाव है, जिससे अप्राप्त भी प्राप्त के समान भासित होता है। यह नियम है कि भोग, मोह और आसक्ति की उत्पत्ति तभी होती है, जब प्रतीति मे प्राप्त-बुद्धि स्वीकार कर ली जाय। इस स्वीकृति से ही चित्त अशुद्ध होता है। जिसकी प्रतीति इन्द्रिय और बुद्धि-ज्ञान से सभव नही है, प्रत्युत जिसके प्रकाश से इन्द्रिय तथा बुद्धि प्रकाशित है, उसकी अप्राप्ति तथा उससे भेद एव दूरी स्वीकार करना उसी प्रकार की भूल है, जिस प्रकार प्रतीति को प्राप्ति स्वीकार करना है। यदि साधक प्रतीति से विमुख होकर श्रम-रहित हो जाय, तो जो नित्य-प्राप्त है उसमे प्रीति, उससे नित्य-योग एव उसका वोध स्वत हो सकता है, जिसके होते ही चित्त सदा के लिए शुद्ध हो जाता है। योग, बोध और प्रेम प्राप्त मे मे और भोग, मोह और आसक्ति अप्राप्त मे प्रवृत्त कराते हैं। अप्राप्त की प्रवृत्ति श्रम है, और कुछ नही, जिससे प्राप्त शक्ति का ह्रास ही होता है, जो प्राणी को शक्ति-हीनता, जडता और

पराधीनता मे आवद्ध करता है और जिसमे चित्त अशुद्ध हो जाता है। जिस काल मे जडता, पराधीनता और शक्तिहीनता की वेदना जागृत होती है, उसी काल मे प्रतीति से विमुखता उदय होती है, जिसके होते ही प्राप्त से योग और उसका बोध एव उससे प्रेम स्वत हो जाता है जो वास्तविक जीवन है। अत सङ्कल्प-पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दु ख के प्रलोभन तथा भय से रहित होने मे ही चित्त की शुद्धि निहित है। चित्त की शुद्धि मे ही योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति है, जो वास्तविक जीवन से अभिन्न कर देती है।

३०-५-५६

२६

कर्त्तव्य का पालन एवं अकर्त्तव्य का त्याग

[प्राकृतिक नियमानुमार प्रत्येक साधक मे कर्तव्य का ज्ञान तथा उसके पालन का सामर्थ्य विद्यमान है, परन्तु असावधानी के कारण अकर्तव्य को अकर्तव्य जान कर उसका त्याग न करना और कर्तव्य को कर्तव्य जान कर कर्तव्यनिष्ठ न होना चित्त को अशुद्ध करना है। कर्तव्य का मूल मत्र है वल का सदुपयोग और विवेक का आदर। विवेक मे ही कर्तव्य का ज्ञान और अकर्तव्य के त्याग का सामर्थ्य निहित है। विवेक का आदर करने पर साधक काम-रहित हो जाता है। काम का अन्त होते ही चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक साधक मे कर्त्तव्य का ज्ञान तथा उनके पालन का सामर्थ्य विद्यमान है, क्योकि वर्तमान जीवन साधननिष्ठ होने के लिए ही मिला है, परन्तु असावधानी के कारण अकर्तव्य को अकर्तव्य जानकर उसका त्याग न करना और कर्तव्य को कर्तव्य जानकर कर्तव्यनिष्ठ न होना चित्त को अशुद्ध करना है। कर्तव्य-पालन मे ही चित्त की शुद्धि निहित है और अकर्तव्य के त्याग से ही कर्तव्य-पालन का सामर्थ्य उदित होता है। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि के लिए सर्वप्रथम अकर्तव्य का

त्याग अनिवार्य है। साधन के दो अग है—एक वह जो निषेधात्मक है, अर्थात् न करने वाली बात और दूसरा विधि-आत्मक है, अर्थात् करने वाली बात। निषेधात्मक साधन को अपना लेने मे साधक असमर्थ नही है। यह नियम है कि निषेधात्मक साधना के सिद्ध होने पर विधि-आत्मक साधना स्वत होने लगती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

निषेधात्मक साधना की सिद्धि वर्तमान मे ही हो सकती है, क्योकि उसके लिए किसी परिस्थिति-विशेष की अपेक्षा नही है, और न वह श्रम-साध्य है। उसकी सिद्धि के लिए साधक को केवल दृढव्रती होना है, अथवा यो कहो कि अकर्त्तव्य-जनित सुख-लोलुपता का त्याग करना है। यह नियम है कि सुख की आशा के त्याग से स्वार्थ-भाव स्वत गल जाता है, जिसके गलते ही समस्त दिव्य गुण अपने आप उदित होते है,जो विधि-आत्मक साधना को सिद्ध करने मे समर्थ है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक सुगमतापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है।

कर्त्तव्य-पालन वर्तमान की वस्तु है। उसका सम्बन्ध प्राप्त परिस्थिति से है। उसके लिए आगे-पीछे का चिन्तन अपेक्षित नही है और न किसी अप्राप्त परिस्थिति की ही आवश्यकता है, अपितु प्राप्त परिस्थिति के द्वारा ही प्राणी कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है, क्योकि प्रत्येक परिस्थिति मे व्यक्ति का कर्त्तव्य निहित है और उसी के पालन मे उद्देश्य की पूर्ति है। कर्त्तव्य की सार्थकता दूसरो के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग मे है। इस कारण कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी से किसी का अहित नही होता और न उसमे पराधीनता रहती है। जिस प्रवृत्ति से किसी का अहित हो और कर्त्ता मे पराधीनता का जन्म हो, वह प्रवृत्ति अकर्त्तव्य है, कर्त्तव्य नही।

कर्त्तव्य का मूल मन्त्र है बल का सदुपयोग और विवेक का आदर। बल के सदुपयोग से दूसरो के अधिकार की रक्षा होती है और विवेक के आदर से अपने अधिकार के त्याग का सामर्थ्य आता है। दूसरो के अधिकार की रक्षा से परस्पर मे एकता होती है और सघर्ष का नाश हो जाता है। जितनी भिन्नताएँ उत्पन्न होती है उनके मूल मे बल का दुरुपयोग, अर्थात् दूसरो के अधिकारो का अपहरण है। यह नियम है कि भिन्नता मे ही समस्त दोपो की उत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-निष्ठ प्राणी बल का दुरुपयोग नही करते। बल के सदुपयोग का सामर्थ्य विवेक के आदर मे निहित है, क्योकि विवेक का आदर किए विना बल का सदुपयोग सम्भव नही है। विवेक मे ही कर्त्तव्य का ज्ञान और अकर्त्तव्य के त्याग का सामर्थ्य निहित है, क्योकि विवेक के प्रकाश मे ही कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का भेद स्पष्ट होता है। इतना ही नही, विवेक का आदर करने पर साधक वडी ही सुगमतापूर्वक काम-रहित हो जाता है, क्योकि विवेक सत् और असत् का विभाजन करने मे समर्थ है। काम का अन्त होते ही चित्त स्वत. शुद्ध हो जाता है।

यदि कोई साधक अपने को बल और विवेक से रहित मानता हो तो वह भी कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार निर्वल मे निर्भर होने की शक्ति आ जाती है और जो कुछ नही जानता उसमे विकल्परहित विश्वास उदित होता है। निर्भरता साधक को अभिमान-रहित कर देती है, जिसके होते ही भिन्नता तथा भेद गल जाता है और निर्भयता आ जाती है। भिन्नता गलते ही प्रेम का उदय होता है और भेद के मिटते ही यथार्थ वोध हो जाता है। प्रेम मे अगाध अनन्त रस तथा वोध मे जीवन निहित है। इस दृष्टि से निर्बल साधक भी कर्त्तव्यनिष्ठ हो

सकता है। बल के सदुपयोग से भी परस्पर में एकता आती है और निर्भर होने से भी भेद तथा भिन्नता का नाश हो जाता है। अत निर्बल और सबल दोनो ही कर्त्तव्यनिष्ठ होकर एक ही लक्ष्य को प्राप्त कर सकते है और दोनो ही का चित्त शुद्ध हो सकता है।

चित्त की अशुद्धि तो एकमात्र बल के दुरुपयोग तथा विवेक के अनादर मे निहित है, जो वास्तव मे अकर्त्तव्य है । अर्त्तव्य और अकर्त्तव्य से भिन्न कोई तीसरी स्थिति हो नही सकती। हाँ, यह अवश्य है कि आशिक कर्त्तव्य और आशिक अकर्त्तव्य अपना लेने के कारण कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का द्वन्द्व उत्पन्न हो जाय। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का द्वन्द्व अकर्त्तव्य से भी कही अधिक निन्दनीय है, क्योकि केवल अकर्त्तव्य का अस्तित्व ही सिद्ध नही होता और कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर द्वन्द्वातीत जीवन से अभिन्नता हो जाती है, जिसमे किसी प्रकार का वैषम्य तथा अभाव नही है। अत जीवन मे जो विषमता तथा अभाव का दर्शन होता है, उसका कारण एकमात्र कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का द्वन्द्व है। आशिक कर्त्तव्य वास्तव मे अकर्त्तव्य का ही एक रूप है, क्योकि आशिक कर्त्तव्य मे अकर्त्तव्य का आश्रय रहता है । यह नियम है कि अकर्त्तव्य चित्त को अशुद्ध ही करता है, क्योकि अकर्त्तव्य के रहते हुए वास्तविक कर्त्तव्य-परायणता सम्भव नही है और उसके बिना चित्त शुद्ध नही हो सकता। अत अकर्त्तव्य को त्याग कर ही, कर्त्तव्य-परायणता से चित्त शुद्ध हो सकता है।

यद्यपि किसी-न-किसी अश मे बल तथा विवेक प्रत्येक साधक मे विद्यमान है, परन्तु यदि कोई अपने को विवेक-रहित मानता है तो वह भी विकल्प-रहित विश्वास के आधार पर कर्त्तव्य-निष्ठ हो सकता है। विकल्प-रहित विश्वास किसी वस्तु आदि पर नही हो सकता, क्योकि जिसके सम्बन्ध मे अधूरी जानकारी होती

है उसके सम्वन्ध मे सन्देह होता है, विश्वास नही। विश्वास उसी पर होता है जिसके सम्वन्ध मे कुछ नही जानते। जिसके सम्वन्ध मे कुछ नही जानते वह सभी वस्तुओ से अतीत हो सकता है, क्योकि वस्तुओ के सम्वन्ध मे तो कुछ-न-कुछ जानते ही हैं। जो वस्तुओ से अतीत है उस पर विकल्प-रहित विश्वास होने से भी साधक कर्तव्यनिष्ठ हो सकता है, क्योकि विश्वास मे सम्वन्ध जोडने का सामर्थ्य स्वत सिद्ध है। जिस पर विश्वास होता है उससे ममता हो ही जाती है। यह नियम है कि ममता प्रियता को जागृत करती है। प्रियता आत्मीयता और आत्मीयता अभिन्नता प्रदान करती है। अभिन्नता भेद को खाकर अभय करने मे समर्थ है। भय का अन्त होते ही चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है। विकल्प-रहित विश्वास के द्वारा साधक वडी ही सुगमता पूर्वक वस्तुओ से अतीत, जो है, उससे नित्य सम्वन्ध स्वीकार कर उसके प्रेम को प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से जो साधक यह मानता है कि मैं कुछ नही जानता, वह भी विकल्प-रहित विश्वास के आधार पर साधननिष्ठ अर्थात् कर्तव्य-परायण हो सकता है।

समस्त साधक दो श्रेणियो मे ही विभाजित हो सकते है। एक तो वे, जो यह मानते है कि हम कुछ जानते हैं और कुछ नही जानते और दूसरे वे, जो मानते है और जानते नही। जो साधक अधूरी जानकारी को स्वीकार करते है, वे जिज्ञासु होकर कर्तव्य-निष्ठ हो जाते है, क्योकि अधूरी जानकारी मे ही सन्देह की उत्पत्ति होती है और सन्देह की भूमि मे ही जिज्ञासा उदित होती है, जो जिज्ञासु को वास्तविकता से अभिन्न कर देती है। जो साधक केवल मानते है, जानते कुछ नही, वे अपनी मान्यता के अनुरूप जिसे मानते है उस पर विश्वास कर उससे नित्य-सम्वन्ध स्वीकार कर उसकी प्रीति होकर उससे अभिन्न हो जाते हैं। जिज्ञासु

जिज्ञासा होकर वास्तविकता से अभिन्न होता है और विश्वासी अपने विश्वासपात्र की प्रीति होकर वास्तविकता से अभिन्न होता है। यह नियम है कि समस्त कामनाएँ जिज्ञासा की अग्नि मे भस्मीभूत हो जाती हैं, जिनके होते ही जिज्ञासु, जिज्ञासा और वास्तविकता मे कोई भेद नही रहता, अर्थात् त्रिपुटी मिट जाती है। विश्वासी, विश्वास और विश्वासपात्र इन तीनों मे भी एकता हो जाती है, क्योकि विश्वासी अपने विश्वासपात्र की प्रीति होकर उससे अभिन्न हो जाता है, कारण कि प्रीति भेद तथा दूरी को रहने नही देती। साधन का आरम्भ चाहे सन्देह से हो अथवा विश्वास से, साधक साधन होकर साध्य से अभिन्न हो ही जाता है, अथवा यो कहो कि प्रत्येक कर्त्ता होकर अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है। कर्त्ता का अस्तित्व कर्त्तव्य से भिन्न कुछ नही रहता। समस्त कर्त्तव्य दो भागो से विभाजित है—एक तो कर्त्तव्य का वह भाग, जो कर्त्ता के दोषो का अन्त कर उसे निर्दोषता प्रदान करता है और दूसरा, कर्त्तव्य का वह भाग जो कर्त्ता को प्रेम प्रदान कर प्रेमास्पद से अभिन्न करता है। निर्दोषता और प्रेम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्रेम मे निर्दोषता और निर्दोषता मे प्रेम ओत-प्रोत है, अर्थात् प्रेम और निर्दोषता मे विभाजन नही हो सकता। निर्दोषता किसी और मे हो और प्रेम किसी और मे, यह सर्वदा असम्भव है। जिसमे वास्तविक निर्दोषता है, उसी मे अविचल प्रेम है। इतना ही नही, निर्दोषता और प्रेम इन दोनो मे स्वरूप की एकता है—निर्दोषता जीवन है, तो प्रेम रस। रस-विहीन जीवन और जीवन-रहित रस किसी को भी अभीष्ट नही है। अत प्रेम और निर्दोषता यह दोनो किसी एक की ही विभूतियाँ हैं, जो सभी का सब कुछ है।

निर्दोषता और प्रेम योग की भूमि मे ही निहित है। योग

३०

जानने के सामर्थ्य का सदुपयोग

[जानने के सामर्थ्य का उपयोग प्राणी अपने व्यक्तिगत जीवन पर न करके जब दूसरो पर करने लगता है तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है । अपने दोष का दर्शन अपने को निर्दोष तथा पर-दोष-दर्शन अपने को दोषी बनाता है । सामर्थ्य स्वय न गुण होता है और न दोष। उसका यथावत् उपयोग साधन है और उसके विपरीत करना असाधन है । साधन से चित्त शुद्ध होता है और असाधन से अशुद्ध ।

इन्द्रियो के स्तर पर जानने का सामर्थ्य विषयो को प्रकाशित करता है । बुद्धि के स्तर से किसी भी भोग्य-वस्तु मे अपरिवर्तन का दर्शन न होगा । अत इन्द्रियो के ज्ञान का उपयोग निर्बलो की सेवा मे और बुद्धि के ज्ञान का उपयोग राग-रहित होने मे है ।

बुद्धि के स्तर से जो अतीत ज्ञान है, उसमे कर्त्तव्य-विज्ञान, योग विज्ञान, अध्याम-विज्ञान आदि विद्यमान है । कर्त्तव्य-विज्ञान को अपना लेने पर सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है । योग विज्ञान से चिन्मयता और स्वाधीनता से अभिन्न होने का सामर्थ्य आ जाता है । अध्यात्म-विज्ञान से अनन्त प्रेम की प्राप्ति होती है ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

जानने के सामर्थ्य का उपयोग प्राणी अपने व्यक्तिगत जीवन पर न करके जब दूसरो पर करने लगता है, तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है, कारण कि जानने के सामर्थ्य से ही दोष का दर्शन होता है। यदि उसका उपयोग अपनी वस्तुस्थिति पर किया जाय, तो बडी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है, क्योकि अपने दोष का दर्शन अपने को निर्दोष बनाने मे समर्थ है, और पर-दोष दर्शन अपने को दोषी बनाने मे हेतु है ।

प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी भी दोष का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है,अथवा यो कहो कि प्रत्येक दोष उत्पत्ति-विनाश-युक्त है । जो वस्तु उत्पत्ति-विनाश-युक्त है, उसकी वास्तविक स्थिति सिद्ध नही होती, अपितु उत्पत्ति-विनाश का जो क्रम है, उसी मे स्थिति भासित होती है । जिसकी स्थिति ही सिद्ध नही होती उसके अस्तित्व को स्वीकार करना चित्त को अशुद्ध करना है, और कुछ नही ।

दोप की उत्पत्ति से पूर्व और दोष न दुहराने पर निर्दोषता स्वत सिद्ध है । दोष की सत्ता तो केवल दोष के उत्पत्ति-काल मे ही है । समस्त दोषो की भूमि गुण का अभिमान है । पर-दोष-दर्शन से उसमे नित-नव वृद्धि होती है और व्यक्तिगत दोष के दर्शन से गुण का अभिमान गल जाता है । इस दृष्टि से दोष-दर्शन के सामर्थ्य का सदुपयोग तभी हो सकता है,जब वह अपने व्यक्तिगत जीवन पर किया जाय । सामर्थ्य स्वय न गुण होता है और न दोप । उसका यथावत् उपयोग साधन है और उसके विपरीत करना असाधन है । साधन से चित्त शुद्ध होता है और असाधन से अशुद्ध होता है। अत· जानने के सामर्थ्य का उपयोग व्यक्तिगत जीवन पर ही करना हितकर सिद्ध होता है । जिस प्रकार प्रकाश

कर्तव्यनिष्ठ प्राणी को स्वत प्राप्त होता है, कारण कि कर्तव्य-पालन-कर्ता को राग-रहित कर देता है। राग-रहित होते ही भोग योग मे स्वत बदल जाता है, जो जीवन तथा प्रेम प्रदान करने मे समर्थ है।

योग साधन का वह स्तर है, जिसमे किसी प्रकार का श्रम तथा अस्वाभाविकता नही है, अथवा यो कहो कि विश्राम तथा स्वाभाविकता से युक्त है। विश्राम तथा स्वाभाविकता से कर्तृत्व के अभिमान की गध भी नही रहती। यह नियम है कि कर्तृत्व का अभिमान गल जाने पर सीमित अहम्भाव शेष नही रहता। ऐसा होने पर निरभिमानता, अभेद और अभिन्नता स्वत आ जाती है, जिनमे योग, बोध तथा प्रेम स्वत सिद्ध है।

सन्देह रहते हुए जिज्ञासा की जागृति का न होना और विश्वास होने पर विश्वासपात्र से विश्वासी के नित्य-सम्बन्ध की स्वीकृति का दृढ न होना ही असाधन अथवा अकर्तव्य है। असाधन और अकर्तव्य के त्याग मे ही साधन मे निष्ठा और कर्तव्य-परायणता स्वत सिद्ध है, क्योकि असाधन और अकर्तव्य के त्यागमात्र से ही चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही साधन और जीवन मे भेद नही रहता, अर्थात् साधन जीवन और जीवन साधन हो जाता है। साधन साध्य का स्वभाव और साधन का जीवन है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार कर्तव्य भाव-रूप है और अकर्तव्य अभावरूप है। जो भावरूप है वह अविनाशी है और जो अभावरूप है, उसका नाश होता है। इसी कारण कर्तव्य की प्राप्ति और अकर्तव्य की निवृत्ति होती है। कर्तव्य-अकर्तव्य-युक्त जो द्वन्द्वात्मक स्थिति प्रतीत होती है, वही साधक को कर्तव्य-अकर्तव्य के अभिमान मे आबद्ध करती है, जिसके होते ही चित्त अशुद्ध हो

जाता है। जिस प्रकार अन्धकार की प्रतीति प्रकाश से सिद्ध है—कारण कि प्रकाश के अभाव मे किसी ने अन्धकार को देखा नही—उसी प्रकार आँशिक, कर्तव्य मे ही अकर्तव्य की स्थिति प्रतीत होती है। यदि साधक सर्वांश मे कर्तव्य को अपना ले, तो अकर्त्तव्य सदा के लिए स्वत मिट जाता है, जिसके मिटते ही कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का द्वन्द्व नही रहता और चित्त शुद्ध हो जाता है। कर्त्तव्य-काल मे अकर्त्तव्य और अकर्त्तव्य-काल मे कर्तव्य प्रतीत नही होता, अर्थात् एक काल मे एक ही का भास होता है, परन्तु कर्त्तव्य-अकर्तव्य की स्मृति चित्त मे अकित हो जाती है, जिससे व्यक्ति कभी तो भूतकालिक घटनाओ के आधार पर अपनी महिमा गाता है और कभी निन्दा करता है। तदनुसार अपने को दोषी और निर्दोष, ऊँचा और नीचा, भला और बुरा मानकर सुखी-दु खी होता है। परिवर्तनशील जीवन की प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ रखती है कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी अर्थ को अपनाकर घटनाओ को भूल जाता है और घटनाओ से प्राप्त प्रकाश से वर्त्तमान मे अपने को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने के लिए अथक प्रयत्नशील रहता है। घटनाओ का चिन्तन कर्त्तव्य-निष्ठ होने मे विघ्न है और उनका वास्तविक अर्थ अपना लेना कर्त्तव्यप-ालन मे सहायक है।

कर्त्तव्यपरायणता वर्त्तमान की वस्तु है, जिसके अपनाते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध होते ही चित्त मे अङ्कित स्मृति स्वप्नवत् निर्जीव हो जाती है, अथवा मिट जाती है, जिसके मिटने पर गुण-दोप का अभिमान गल जाता है और उसके गलते ही निर्दोषता तथा प्रेम स्वत प्राप्त होता है। अत प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप कर्त्तव्यनिष्ठ होकर चित्त शुद्ध करना अनिवार्य है।

३१–५–५६

३०

जानने के सामर्थ्य का सदुपयोग

[जानने के सामर्थ्य का उपयोग प्राणी अपने व्यक्तिगत जीवन पर न करके जब दूसरो पर करने लगता है तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है। अपने दोष का दर्शन अपने को निर्दोष तथा पर-दोष-दर्शन अपने को दोषी बनाता है। सामर्थ्य स्वय न गुण होता है और न दोष। उसका यथावत् उपयोग साधन है और उसके विपरीत करना असाधन है। साधन से चित्त शुद्ध होता है और असाधन से अशुद्ध।

इन्द्रियो के स्तर पर जानने का सामर्थ्य विषयो को प्रकाशित करता है। बुद्धि के स्तर से किसी भी भोग्य-वस्तु मे अपरिवर्तन का दर्शन न होगा। अत इन्द्रियो के ज्ञान का उपयोग निर्बलो की सेवा मे और बुद्धि के ज्ञान का उपयोग राग-रहित होने मे है।

बुद्धि के स्तर से जो अतीत ज्ञान है, उसमे कर्त्तव्य-विज्ञान, योग विज्ञान, अध्यात्म-विज्ञान आदि विद्यमान है। कर्त्तव्य-विज्ञान को अपना लेने पर सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है। योग विज्ञान से चिन्मयता और स्वाधीनता मे अभिन्न होने का सामर्थ्य आ जाता है। अध्यात्म-विज्ञान से अनन्त प्रेम की प्राप्ति होती है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

जानने के सामर्थ्य का उपयोग प्राणी अपने व्यक्तिगत जीवन पर न करके जब दूसरो पर करने लगता है, तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है, कारण कि जानने के सामर्थ्य से ही दोष का दर्शन होता है। यदि उसका उपयोग अपनी वस्तुस्थिति पर किया जाय, तो बडी ही सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो जाता है, क्योकि अपने दोष का दर्शन अपने को निर्दोष बनाने मे समर्थ है, और पर-दोष दर्शन अपने को दोषी बनाने मे हेतु है ।

प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी भी दोष का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है,अथवा यो कहो कि प्रत्येक दोप उत्पत्ति-विनाश-युक्त है । जो वस्तु उत्पत्ति-विनाश-युक्त है, उसकी वास्तविक स्थिति सिद्ध नही होती, अपितु उत्पत्ति-विनाश का जो क्रम है, उसी मे स्थिति भासित होती है । जिसकी स्थिति ही सिद्ध नही होती उसके अस्तित्व को स्वीकार करना चित्त को अशुद्ध करना है, और कुछ नही ।

दोप की उत्पत्ति से पूर्व और दोष न दुहराने पर निर्दोषता स्वत सिद्ध है । दोष की सत्ता तो केवल दोष के उत्पत्ति-काल मे ही है । समस्त दोषो की भूमि गुण का अभिमान है । पर-दोष-दर्शन से उसमे नित-नव वृद्धि होती है और व्यक्तिगत दोष के दर्शन से गुण का अभिमान गल जाता है । इस दृष्टि से दोष-दर्शन के सामर्थ्य का सदुपयोग तभी हो सकता है,जब वह अपने व्यक्तिगत जीवन पर किया जाय । सामर्थ्य स्वय न गुण होता है और न दोष । उसका यथावत् उपयोग साधन है और उसके विपरीत करना असाधन है । साधन से चित्त शुद्ध होता है और असाधन से अशुद्ध होता है। अत. जानने के सामर्थ्य का उपयोग व्यक्तिगत जीवन पर ही करना हितकर सिद्ध होता है । जिस प्रकार प्रकाश

अन्धकार का नाशक है और वस्तुस्थिति का प्रकाशक है, अर्थात् प्रकाश मे जो वस्तुएँ जैसी हैं, वे वैसी ही दिखाई देती हैं, पर जिस अन्धकार ने उन वस्तुओ को आच्छादित कर रखा था, वह अन्धकार प्रकाश होने-मात्र से मिट जाता है, इसी प्रकार जानने के सामर्थ्य से व्यक्तिगत जीवन की वस्तुस्थिति का ठीक-ठीक परिचय हो जाता है और जिस अज्ञान ने वस्तुस्थिति को ढक दिया था वह मिट जाता है।

वस्तुस्थिति के परिचय मे क्रांति स्वत सिद्ध है, क्योकि जाना हुआ दोष असह्य हो जाता है। यह नियम है कि जिसका होना असह्य होता है, वह मिट जाता है और जिसका न होना असह्य होता है वह प्राप्त हो जाता है। अत वस्तुस्थिति के ज्ञान मे दोष की निवृत्ति और निर्दोषता की प्राप्ति स्वत सिद्ध है। पर वह तभी सभव होगा जब जानने के सामर्थ्य का उपयोग दूसरो पर न करने का स्वभाव बना लिया जाय। जानने का सामर्थ्य किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत वस्तु नही है और न उत्पत्ति-विनाश-युक्त है, अपितु उसकी देन है, जिससे अनत ज्ञान है। उस अनत ज्ञान से जो ज्ञान मिला है उसी मे साधन-निर्माण का सामर्थ्य निहित है। पर उसकी अनुभूति तभी होती है जब प्राप्त-ज्ञान का अध्ययन किया जाय। जानने के सामर्थ्य का अध्ययन बडे ही महत्व की वस्तु है, क्योकि उस ज्ञान मे ही अपने दोष का ज्ञान, उस दोष को मिटाने का उपाय तथा निर्दोषता का भी ज्ञान है। जानने के सामर्थ्य से ही प्राणी अपनी वस्तुस्थिति को जानता है और उसी से अपने लक्ष्य को भी जानता है। लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए जिस साधन-प्रणाली की अपेक्षा है उसका ज्ञान भी जानने की सामर्थ्य मे निहित है। इस दृष्टि से न जानने का दोष किसी भी साधक के जीवन में स्वभाव से नही है।

जाने हुए के अनादर से ही न जानने का दोष साधक को अपने मे भासित होने लगता है। यदि जानने के सामर्थ्य का यथेष्ट आदर किया जाय,तो न जानने का दोष प्रतीत न होगा। समस्त साधनो का निर्माण जानने के सामर्थ्य मे ही निहित है। जानने के सामर्थ्य का प्रकाशन इन्द्रिय द्वारा भी होता है तथा बुद्धि के द्वारा भी इन दोनो से रहित भी जानने का सामर्थ्य अपने को प्रकाशित करता है।

इन्द्रियो के स्तर पर जानने का सामर्थ्य विषयों को, अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध को प्रकाशित करता है। विषयो की प्रतीति मे सत्यता, अर्थात् अपरिवर्तन स्वीकार करना इन्द्रियो के ज्ञान का प्रभाव है। परन्तु उन्ही विषयो को यदि बुद्धि के स्तर से जानने का प्रयास किया जाय, तो किसी भी भोग्य-वस्तु मे अपरिवर्तन का दर्शन न होगा,अपितु सतत परिवर्तन की अनुभूति होगी। जब साधक बुद्धि के स्तर से प्रकाशित जानने के सामर्थ्य का आदर करने लगता है, तब विषयो से अरुचि स्वत जागृत होती है, अथवा यो कहो कि भोग्य वस्तुओ पर सन्देह होने लगता है। उसी सन्देह की भूमि मे जिज्ञासा जागृत होती है। इन्द्रियो के स्तर से प्रकाशित जानने के सामर्थ्य ने जिन कामनाओ को अर्थात् विषयाशक्ति को जन्म दिया था, जिज्ञासा की जागृति उन कामनाओ का नाश करती है और विषयाशक्ति विरक्ति मे बदल जाती है, जिसके बदलते ही साधक राग-रहित हो जाता है। राग-रहित होते ही भोग योग मे स्वत बदल जाता है और फिर बुद्धि के स्तर से अतीत जानने के सामर्थ्य मे प्रवेश हो जाता है, जो निस्सन्देहता प्रदान करने मे समर्थ है।

सन्देह मे जो निस्सन्देहता की मान्यता है,इसी ने चित्त को अशुद्ध किया है और चित्त की अशुद्धि से ही सन्देह सहन होता

रहता है, अर्थात् सन्देह की वेदना जागृत नही होती। सन्देह की वेदना का जागृत न होना चित्त की अशुद्धि को दृढ करना है। चित्त की शुद्धि के लिए यह अनिवार्य है कि सन्देह मे जो निस्सन्देहता की स्थापना कर ली गई है उसका अभाव करना होगा, तभी सन्देह की वेदना का उदय होगा, अर्थात् इन्द्रिय-ज्ञान वास्तविक ज्ञान नही है, यह स्वीकार करना होगा। यह स्वीकृति ही सन्देह मे जो निस्सन्देहता की स्थापना है, उसका अभाव कर देगी।

इन्द्रियो के स्तर मे जानने का सामर्थ्य विधान नही है,अपितु शक्ति है। यह नियम है कि शक्ति स्वभाव मे ही जडता होती है। जिसमे जडता होती है उसका उपयोग किसी विधान के अधीन होना चाहिए,तभी उसका सदुपयोग हो सकता है। विधान शून्य शक्ति का उपयोग ह्रास का मूल है और उसीसे चित्त-अशुद्ध होता है। इन्द्रियो के स्तर के जानने का सामर्थ्य भोग की प्रवृति मे भले ही समर्थ हो, परन्तु भोग-सामग्री की वास्तविकता के जानने मे सर्वथा असमर्थ है। सीमित सामर्थ्य को सर्वदा असमर्थता ही मानना चाहिए,सामर्थ्य का अभाव नही अत इन्द्रियो के स्तर के जानने के सामर्थ्य को जानने का अभाव न मानकर अल्पज्ञान मानना चाहिए। अधूरी जानकारी जिज्ञासा-जागृति मे साधनरूप है। इस दृष्टि से प्रत्येक स्तर का ज्ञान आदरणीय है,परन्तु प्रत्येक स्तर का ज्ञान वास्तविक ज्ञान नही है, वास्तविक ज्ञान तो सभी स्तरो के ज्ञान से अतीत है। प्रत्येक स्तर के ज्ञान का साधन-बुद्धि से उपयोग किया जा सकता है। इन्द्रियों के ज्ञान का उपयोग निर्वलो की सेवा मे और बुद्धि के ज्ञान का उपयोग राग-रहित होने मे,अथवा वस्तुओ की सत्यता और सुन्दरता के अपहरण मे निहित है। ज्यो-ज्यो इन्द्रिय-ज्ञान का सदुपयोग होने लगता है, त्यो-त्यो

चित्त पर बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव स्थायी होने लगता है, जिसके होते ही भोग की रुचि योग की लालसा मे बदल जाती है। जिस काल मे योग की लालसा भोग की रुचि का अन्त कर देती है, उसी काल मे योग स्वत हो जाता है, जिसके होते ही बुद्धि के स्तर से अतीत जानने का जो सामर्थ्य है, उससे अभिन्नता हो जाती है।

बुद्धि के स्तर से अतीत जो ज्ञान है, उसमे कर्तव्य-विज्ञान, योग-विज्ञान, अध्यात्म-विज्ञान आदि सभी विद्यमान हैं। कर्तव्य विज्ञान को अपना लेने पर साधक के चित्त से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती हैं और उसका बाह्य परिणाम यह होता है कि व्यक्ति और समाज मे एकता हो जाती है, अथवा यो कहो कि सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है, क्योकि कर्तव्य-विज्ञान दूसरो के अधिकार की रक्षा की प्रेरणा देता है और उसमे प्रवृत्त करता है। कर्तव्य-विज्ञान के अनुरूप जब साधक कर्तव्यनिष्ठ हो जाता है, तव वह स्वत योग-विज्ञान का अधिकारी हो जाता है। योग-विज्ञान नवीन राग को उत्पन्न नही होने देता, जिसके न होने से चित्त चिर-शान्ति मे निवास करने लगता है, जिससे जडता पराधीनता और शक्तिहीनता अपने आप मिटने लगती है, अथवा यो कहो कि चिन्मयता और स्वाधीनता से अभिन्न होने का सामर्थ्य आ जाता है।

योग-विज्ञान की परावधि मे अध्यात्म-विज्ञान का उदय होता है, जिसके होते ही सब प्रकार के भेद मिट जाते हैं। भेद का अन्त होने पर सीमित अहम्-भाव गल जाता है, जिसके गलते ही अनन्त मे अभिन्नता हो जाती है, अर्थात् अनन्त के प्रेम की प्राप्ति होती है।

जानने का सामर्थ्य, जो अनन्त की देन है, उसका सदुपयोग

अपनी वर्तमान वस्तु स्थिति पर ही करना उचित है, क्योकि अपने कर्तव्य को जानना है और दूसरो के अधिकार को भी। किसी के कर्तव्य मे ही किसी का अधिकार निहित है, कारण कि ऐसा कोई कर्तव्य हो ही नही सकता जिससे किसी के अधिकार की रक्षा न हो, अथवा यो कहो कि दूसरो के अधिकार के ज्ञान मे ही अपना कर्तव्य निहित है। कर्तव्य-पालन पराधीनता का अन्त करता है और परस्पर मे एकता की स्थापना करता है, परन्तु जब व्यक्ति जानने के सामर्थ्य का उपयोग अपने अधिकार और दूसरो के कर्तव्य मे करने लगता है, तब बेचारा पराधीन हो जाता है, क्योकि उसकी प्रसन्नता दूसरो की उदारता पर ही निर्भर हो जाती है। यदि अधिकार की पूर्ति हो गयी, तो राग मे आबद्ध हो जाता है और पूर्ति न हुई तो क्षुभित तथा क्रोधित हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अत. जानने के सामर्थ्य का उपयोग दूसरो के अधिकार और अपने कर्तव्य को जानने मे करना चाहिए।

अकर्तव्य का नाश कर्तव्य के जानने मे है और कर्तव्य का ज्ञान दूसरो के अधिकार की पूर्ति मे है। अकर्तव्य के नाश मे कर्तव्यपरायणता और दूसरो के अधिकार की पूर्ति मे वस्तु आदि से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। वस्तु आदि के सम्बन्ध-विच्छेद मे चिरशाति, नित्य-योग, निस्सन्देहता एव प्रेम निहित है। वस्तु, व्यक्ति आदि के सम्बन्ध से ही चित्त अशुद्ध हो गया है और वस्तु, व्यक्ति आदि का सम्बन्ध कर्तव्य से च्युत होने पर ही दृढ होता है। इस दृष्टि से कर्तव्य-परायणता वस्तुओ से सम्बन्ध-विच्छेद कराने मे समर्थ है। अपने व्यक्तिगत जीवन पर जानने के सामर्थ्य का सदुपयोग करने मे ही कर्तव्य का ज्ञान निहित है।

वस्तुस्थिति का परिचय होने पर साधक को अपने मे अभाव

का ज्ञान होता है, क्योकि प्रत्येक परिस्थिति अपूर्ण है, परिवर्तन-शील है और पर प्रकाश्य है। अभाव का ज्ञान अभाव का अभाव कराने की प्रेरणा देता है, अथवा यो कहो कि अभाव के ज्ञान मे लक्ष्य का ज्ञान निहित है। अभाव के ज्ञान से प्राप्त परिस्थिति से असगता की रुचि उदित होती है और परिस्थिति से असग होने पर अभाव का अभाव हो जाता है। पर कब ? जब किसी अप्राप्त परिस्थिति का अवाहन न हो। अप्राप्त परिस्थिति का आवाहन परिस्थिति के स्वरूप को न जानने से होता है। जब इन्द्रिय ज्ञान का प्रभाव चित्त मे अकित नही रहता तब परिस्थिति के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। इन्द्रियो के ज्ञान का प्रभाव उसी समय तक जीवित रहता है, जब तक बुद्धि के स्तर पर जानने की जो सामर्थ्य है, उसका आदर न किया जाय, अथवा उसका सदुपयोग न हो। बुद्धि के ज्ञान का सदुपयोग विधान है। उसके अनुरूप इन्द्रियो का व्यापार होने पर चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है। अत जानने के सामर्थ्य का सदुपयोग अपने कर्तव्य तथा लक्ष्य के ज्ञान मे है और कर्तव्य–परायणता मे लक्ष्य की प्राप्ति स्वत सिद्ध है। कर्तव्य-परायणता वर्तमान जीवन की वस्तु है। इस दृष्टि से बर्तमान के सदुपयोग मात्र से ही त्रित्त शुद्ध हो जाता है।

२—७—५६

३१

मान्यताओं से अतीत के जीवन की प्राप्ति

[वस्तु अवस्था एव परिस्थिति मे अहम्-बुद्धि मान्यत्ता मे जीवन-बुद्धि उत्पन्न करती है। समस्त मान्यताए चार भागो मे विभाजित है— भोगी, योगी, जिज्ञासु और प्रेमी की।

जो देह जनित व्यापार मे ही जीवन-बुद्धि मानता है, वह भोगी है। भोग का आरम्भ-काल सुखद प्रतीत होता है परन्तु उसका परिणाम भयकर दु खद होता है। भोग की रुचि रहते हुए योग की उपलब्धि सभव नही है। भोग-वासनाओ के त्याग मे ही योग की सिद्धि है। सुख की आशा का त्याग होते ही अपने आप होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त शान्ति मे होता है तथा समस्त मान्यताओ की निवृत्ति हो कर उनसे अतीत के जीवन मे प्रवेश हो जाता है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्बन्ध मे कुछ न कुछ मानता है और मान्यता के अनुरूप ही कुछ न कुछ करता है एव करने के अनुसार ही परिस्थिति उत्पन्न होती है। परिस्थिति मे जीवन-बुद्धि हो जाने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है और उसके सदुपयोग मे प्राणी का हित है, परन्तु उसे जीवन मान लेने से तो चित्त अशुद्ध हो जाता है।

वस्तु, अवस्था एव परिस्थिति मे अहम्-बुद्धि, मान्यता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न करती है। यद्यपि समस्त मान्यताओ के मूल मे जो है उसे किसी मान्यता मे आबद्ध नही किया जा सकता, क्योकि सभी मान्यताएँ उसी से सत्ता पाती हैं और उसी से प्रकाशित होती हैं। जिससे सभी मान्यताएँ प्रकाशित होती है, अथवा सत्ता पाती हैं उसकी जिज्ञासा तथा लालसामात्र से चित्त शुद्ध होने लगता है, क्योकि जो सभी मान्यताओ का प्रकाशक है वह सब प्रकार से पूर्ण तथा अनन्त है। अनन्त की जिज्ञासा तथा लालसा कामनाओ का अन्त कर देती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है।

समस्त मान्यताएँ चार भागो मे विभाजित है—भोगी, योगी, जिज्ञासु और प्रेमी की। भोगी वही प्राणी है जो कामना-पूर्ति मे ही जीवन मानता है। कामना-पूर्ति प्राणी को वस्तु, व्यक्ति आदि मे आबद्ध कर देती है जिसके होते ही लोभ-मोह आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है। भोग, भोग की दृष्टि से भले ही उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट हो, किन्तु चित्त की अशुद्धि की दृष्टि से तो सभी भोगो का समान अर्थ है, अर्थात् ऐसा कोई भोग है ही नही जिससे चित्त अशुद्ध न हो। इतना ही नही, भोग-प्रवृत्ति की तो कौन कहे, उसकी रुचि-मात्र से ही चित्त अशुद्ध हो जाता अत भोग की रुचि का नाश हुए बिना चित्त किसी भी तरह शुद्ध नही हो सकता।

जिसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर है वही भोगी है, अथवा यो कहो कि जो देह-जनित व्यापार मे ही जीवन-बुद्धि रखता है वही भोगी है। भोग का आरम्भ-काल सुखद प्रतीत होता है, परन्तु उसका परिणाम भयकर दु खद होता है। जो साधक भोग के परिणाम पर दृष्टि रखता है उसे भोग से अरुचि हो जाती है। योग की अरुचि मे योग की रुचि का उदय है।

योग की रुचि, सबल तथा स्थायी होने पर भोग की रुचि का नाश कर देती है। भोग की रुचि का नाश भोग-प्रवृत्ति के अन्त मे स्वत योग प्रदान करता है। इस दृष्टि से भोग की रुचि के नाश मे ही योग की प्राप्ति निहित है।

कोई भी प्राणी अपने को भोगी मानकर चित्त को शुद्ध नही कर सकता, क्योकि मान्यता के अनुरूप रुचि और रुचि के अनुसार प्रवृत्ति होती है तथा प्रवृत्ति-जनित सुख की आसक्ति नित नया राग उत्पन्न करती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। जब साधक भोग के परिणाम को भली-भाँनि जान लेता है, तव भोग-वासनाओ का अन्त करने के लिए अपनी मान्यता को परिवर्तित करने का प्रयास करता है। किसी भी मान्यता की जो अस्वीकृति है वह किसी अन्य मान्यता की जननी भी है। इस नियम के अनु-सार जब साधक अपने को भोगी नही मानता तव योगी, जिज्ञासु तथा प्रेमी इनमे से किसी भी मान्यता को स्वीकार कर लेता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक मान्यता मे उसके अनुरूप कर्तव्य का विधान निहित है। विधान के अनुसार जीवन होने पर मान्यता स्वत. वदल जाती है, अथवा जो सभी मान्यताओ से अतीत है उसका योग, उसकी जिज्ञासा एव उसका प्रेम उदित होता है। प्रत्येक मान्यता उसी समय तक जीवित रहती है जब तक मान्यता के अनुरूप जो विधान है उसमे और जीवन मे एकता न हो। विधान और जीवन की एकता होने पर मान्यता स्वत' मिट जाती है, जिसके मिटते ही साधक को अनन्त का योग, अनन्त की जिज्ञासा और अनन्त का प्रेम प्राप्त होता है, क्योकि मान्यता कर्तव्य का प्रतीक है। कर्तव्य-पालन राग-निवृत्ति का साधन है। राग-निवृत्ति होने पर सीमित अहम्-भाव गल जाता है, जिसके गलते ही योग, वोध तथा प्रेम की प्राप्ति होती है। योग की पूर्णता

मे वोध तथा बोध मे प्रेम निहित है। भोग प्राणी को इन्द्रिय, बुद्धि आदि वस्तुओ से तादात्म्य प्रदान करता है और योग सभी वस्तुओ से सम्बन्ध-विच्छेद करा देता है, क्योकि भोग मे कामना-पूर्ति और योग से कामना-निवृत्ति होती है। कामना निवृत्त होने पर जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति स्वत हो जाती है। कामनाओ की निवृत्ति होने पर किसी भी वस्तु से तादात्म्य नही रहता। उसका परिणाम यह होता है कि जो सभी वस्तुओ से अतीत है उसमे सहज स्थिति स्वत हो जाती है। यदि साधक स्थिति-जनित शान्ति मे रमण न करे, तो स्थिति का अभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही योग स्वत बोध मे विलीन हो जाता है, जिसके होते ही निस्सदेहता, स्वाधीनता, चिन्मयता एव अमरत्व से अभिन्नता हो जाती है।

भोग की रुचि रहते हुए योग की उपलब्धि सभव नही है। यद्यपि योग भोग की अपेक्षा सहज तथा स्वाभाविक है और उसका परिणाम भी हितकर है, परन्तु भोग-वासना शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सबध जोड देती है जिससे काम की उत्पत्ति होती है। काम की उत्पत्ति होते ही अनेक कामनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनकी पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दु ख मे प्राणी आबद्ध हो जाता है और सहजयोग से विमुख हो जाता है। अत भोग-वासनाओ के त्याग मे ही योग की सिद्धि है। सुख की आशा तथा सुख का सम्पादन एव उसका भोग प्राणी को मन के अधीन कर देता है, जिसके होते ही मन इन्द्रियो के अधीन और इन्द्रियाँ विषयो के अधीन हो जाती हैं। इस कारण शान्ति, सामर्थ्य, निस्सन्देहता, अमरत्व आदि से प्राणी विमुख हो जाता है। अत सुख की आशा से रहित होने से ही चित्त शुद्ध हो सकता है।

सुख की आशा का त्याग होते ही अपने आप होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त शाति मे होता है। शांति सामर्थ्य, स्वाधीनता आदि की भूमि है और सुख की आशा रहते हुए प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में किसी-न किसी वस्तु-व्यक्ति आदि का चिन्तन होने लगता है,जो शांति मे निवास नही होने देता। प्रत्येक प्रवृत्ति की उत्पत्ति से पूर्व जो शाति है वही शाति, यदि प्रवृत्ति के अन्त मे हो, तो बडी ही सुगमतापूर्वक प्रवृत्ति का राग मिट सकता है, कारण कि प्रवृत्ति के चिन्तन मे ही प्रवृति का राग निहित है। प्रवृत्ति तो विद्यमान राग की निवृत्ति का साधन-मात्र है। उससे कोई क्षति नही होती, किन्तु प्रवृत्ति-जनित सुख की आसक्ति प्रवृत्ति का चिन्तन उत्पन्न कर प्रवृत्ति से तादात्म्य कर देती है, जिससे नवीन राग की उत्पत्ति हो जाती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है। प्रवृत्ति का अन्त नवीन राग की उत्पत्ति मे न हो, प्रत्युत विद्यमान राग की निवृत्ति मे हो तो चित्त शुद्ध हो सकता है। चित्त की शुद्धि अनावश्यक सकल्पो का अत कर देती है और आवश्यक सकल्पो की पूर्ति के सुख मे आबद्ध नही होने देती, इतना ही नही, सकल्प-निवृत्ति की शाति मे भी रमण नही करने देती। जब साधक सुख के भोग और शान्ति मे रमण नही करता, तब अपने आप उस जीवन से अभिन्न हो जाता है जो सभी वस्तु, अवस्था आदि से अतीत है।

सभी अवस्थाओ से अतीत के जीवन मे प्रवेश तभी सम्भव होगा,जब साधनरूप मान्यता तथा प्रवृत्ति के द्वारा विद्यमान रोग की निवृत्ति हो और नवीन राग की उत्पत्ति न हो, अर्थात् प्रवृत्ति के अत मे सहज निवृत्ति स्वत. आ जाय। किसी वस्तु,व्यक्ति आदि का प्रवृत्ति के अत मे आवाहन न हो और जो वस्तु प्राप्त है उसमे लेशमात्र भी ममता न रहे, अपितु सहज-निवृत्तिपूर्वक शांति,

निस्सन्देहता एव नित-नव रस की प्राप्ति हो। प्राप्त वस्तुओ की ममता का त्याग और अप्राप्त वस्तुओ के चिन्तन का अभाव विवेकसाध्य है, जो वर्तमान मे हो सकता है। जो वर्तमान मे हो सकता है उसके लिए भविष्य की आशा करना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नही है।

वस्तुओ से अतीत के जीवन मे स्थिति अथवा उसकी जिज्ञासा एव उसका प्रेम चित्त को शुद्ध कर देता है। राग-रहित होने से वस्तुओ से अतीत के जीवन मे स्थिति अपने आप होती है। राग-रहित होने के लिए ही वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करना है, पर वह तभी सम्भव होगा जब देह मे अहम्बुद्धि न हो और वस्तुओ मे ममबुद्धि न हो। देह मे अहम्बुद्धि का त्याग निज विवेक के आदर मे निहित है, अर्थात् जिसे 'यह' करके सम्बोधित करते हैं उसमे अहम्भाव स्वीकार करना प्राप्त विवेक का अनादर है,अथवा यो कहो कि जो जानते हैं उसको न मानना है। जाने हुए को न मानने से ही देह मे अहम्बुद्धि उत्पन्न हो गई है और उसी का परिणाम यह हुआ है कि प्राप्त वस्तुओ मे ममता और अप्राप्त वस्तुओ की कामना उत्पन्न हो गई है, जिससे जिज्ञासा मे शिथिलता आ गई है। यद्यपि जानने की लालसा नष्ट नही हुई, परन्तु वह वर्तमान जीवन की वस्तु नही रह गई है। व्यक्ति को कामना-पूर्ति जैसे वर्तमान की वस्तु प्रतीत होती है, वैसे ही जिज्ञासा की पूर्ति वर्तमान की वस्तु नही प्रतीत होती। इस प्रमाद ने ही जिज्ञासा मे शिथिलता उत्पन्न कर दी है। यद्यपि कामना-पूर्ति वर्तमान की वस्तु नही है, उसके लिए श्रम तथा अप्राप्त वस्तु अपेक्षित रहती है, किन्तु जिज्ञासा-पूर्ति तो किसी वस्तु-विशेष पर निर्भर नही है। इतना ही नही, प्राप्त वस्तुओ की भी जिज्ञासा-पूर्ति मे अपेक्षा नही है। जिज्ञासा-पूर्ति तो एकमात्र सन्देह की वेदना असह्य हो जाने पर ही निर्भर है,

अथवा यो कहो कि जब साधक वास्तविकता को बिना जाने किसी प्रकार भी नही रह सकता, बस उसी काल मे जिज्ञासा स्वत पूरी हो जाती है। सन्देह रहते हुए चैन से रहना प्रमाद है। सन्देह की निवृत्ति अवश्य हो सकती है। उससे निराश होना साधक की असावधानी है, जिसका उसके जीवन मे कोई स्थान ही नही है। जिज्ञासु ज्यो-ज्यो जाने हुए मे दृढ़ होता जाता है, त्यो-त्यो जिज्ञासा-पूर्ति की योग्यता स्वत आती जाती है। इस दृष्टि से जाने हुए मे दृढ रहना ही जिज्ञासा-पूर्ति की सहज साधना है। जाना हुआ दृढ तभी होता है जब उसका प्रभाव साधक पर हो जाय।

जो वस्तुएँ इन्द्रिय तथा बुद्धि द्वारा प्रतीत होती है उनके वास्तविक स्वरूप को बिना जाने उन पर विश्वास करना सन्देह को सहन करने का स्वभाव बना लेना है, जो जिज्ञासा-पूर्त्ति मे सबसे भयकर विघ्न है। जिस वस्तु को इन्द्रिय द्वारा जानते हो, उसी वस्तु को बुद्धि के द्वारा भी जानो। ऐसा करते ही वस्तुओ की स्थिति सुरक्षित न रहेगी, जिसके न रहने से प्राप्त वस्तुओ की ममता और अप्राप्त वस्तुओ की कामना मिट जायगी, जिसके मिटते ही जिज्ञासा की पूर्त्ति हो जायगी और फिर स्वत निस्सन्देहता उदित होगी, जो साधक को वस्तुओ से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देगी। निस्सन्देहता के साम्राज्य मे पराधीनता नही है और न जडता है। इसी कारण सन्देह-रहित होने मे जो जीवन है वह जीवन वस्तुओ की दासता मे नही है। वस्तुओ की दासता का अन्त होते ही चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है।

वस्तुओ के विश्वास ने उसके विश्वास का अपहरण कर लिया है जिससे समस्त वस्तुएँ उत्पन्न होती है और जिसमे विलीन होती है एवं जिससे सभी वस्तुएँ सत्ता पाती है और प्रकाशित

होती है। यदि साधक विवेक-पूर्वक वस्तुओ की वास्तविकता को जानकर उनके विश्वास से मुक्त हो जाय, तो बडी ही सुगमता-पूर्वक उन पर विश्वास हो जाता है जिनसे सभी को सब कुछ मिला है, अथवा यो कहो कि जो सभी मे है और सभी से अतीत है। यह नियम है कि जिस पर व्यक्ति विश्वास कर लेता है उससे सम्बन्ध हो जाता है और जिससे सम्बन्ध हो जाता है उसकी स्मृति उदित होती है, जो प्रीति हो कर उससे अभिन्न हो जाती है जिसकी वह प्रीति है, कारण कि प्रीति भेद तथा भिन्नता को खा लेती है।

वस्तुओ के विश्वास ने ही वस्तुओ से तद्रूपता तथा सबध उत्पन्न कर दिया है जिससे बेचारा प्राणी प्राप्त वस्तुओ की दासता और अप्राप्त वस्तुओ की कामना मे आबद्ध हो गया है, जिसमे जिससे चित्त मे अशुद्धि आ गयी है। अत वस्तुओ से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा उसमे स्थिति एव उसका प्रेम प्राप्त करने के लिए साधक को सर्वदा तत्पर रहना चाहिए, कारण कि उसके बिना चित्त शुद्ध नही हो सकता और चित्त की शुद्धि के बिना शान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता एव अगाध-अनन्त रस की उपलब्धि नही हो सकती।

२—६—५६

३१

अपने सम्बन्ध में विकल्प-रहित निर्णय

[व्यक्ति अपने सम्बन्ध मे क्या जानता है और क्या मानता है, इसका विकल्प-रहित निर्णय न होने से ही चित्त अशुद्ध हो जाता है ।

अपने सम्बन्ध मे निस्सन्देह होने पर ही साधक अपने कर्तव्य और लक्ष्य के सम्बन्ध मे निस्सन्देह हो जाता है ।

कामना-पूर्ति-अपूर्ति मे जीवन-बुद्धि स्वीकार करना अपने को देह मान लेना है । अपने को देह न मानने पर सभी कामनाये निवृत्त हो जाती हैं और चिर-शान्ति स्वत प्राप्त हो जाती है । शाति मे जीवन बुद्धि न रहने पर अतीत के जीवन मे प्रवेश होता है, जिसमे पराधीनता नही है ।

स्वाधीनता के समर्पण मे परम प्रेम का उदय है, जो नित-नव रस प्रदान करने मे समर्थ है । इस दृष्टि से अपने सम्बन्ध मे विकल्प-रहित निर्णय यही हो सकता है कि व्यक्ति अपने को वास्तविकता का जिज्ञासु अथवा अनन्त का प्रेमी स्वीकार करे । अपने को जिज्ञासु तथा प्रेमी स्वीकार करते ही चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय

व्यक्ति अपने सम्बन्ध मे क्या जानता है और क्या मानता है, इसका विकल्प-रहित निर्णय न होने से ही चित्त अशुद्ध हो

जाता है । अत अपने सम्बन्ध मे व्यक्ति को निस्सन्देह होने के लिए वर्तमान मे ही तत्पर होना चाहिए, क्योकि यह समस्या ऐसी नही है जिसके लिए भविष्य की आशा की जाय । इस समस्या के हल हुए बिना कोई भी समस्या हल नही हो सकती, क्योकि जो अपने ही सम्वन्ध मे सन्देहयुक्त है वह किसी और के सम्वन्ध मे क्या जान सकता है ।

यह नियम है कि अपने सम्वन्ध मे निस्सन्देह होने पर ही साधक अपने कर्त्तव्य और लक्ष्य के सम्बन्ध मे निस्सन्देह हो सकता है, क्योकि अपने मे ही अपना कर्त्तव्य तथा अपना लक्ष्य विद्यमान है । अपने को देह मानकर कोई भी सकल्प-अपूर्ति के दु ख और पूर्ति के सुख से मुक्त नही हो सकता और अपने को देह से अलग जानकर वडी ही सुगमतापूर्वक चिरशान्ति मे निवास कर सकता है । जिसे सुख और दु ख मे ही आवद्ध रहना है वह अपने को देह से अलग अनुभव नही कर सकता और जिसे सुख-दु ख से मुक्त होना है वह अपने को देह मे आबद्ध नही रख सकता ।

अपनी आवश्यकता के अनुसार व्यक्ति अपने को किसी मान्यता मे बाध लेता है । इस दृष्टि से आवश्यकता के ज्ञान मे ही अपना ज्ञान निहित है । आवश्यकता उसे नही समझना चाहिए जिसकी निवृत्ति सम्भव हो । आवश्यकता वही है जिसकी पूर्ति अनिवार्य है । आवश्यकता की पुनरावृत्ति भी नही होती । इसी कारण आवश्यकता का त्याग नही हो सकता । जिसका त्याग नही हो सकता उसकी प्राप्ति स्वभाविक है । जिसका प्राप्ति स्वाभाविक है उसी मे वास्तविक जीवन है और वही अपना लक्ष्य है । यद्यपि आवश्यकता मे सत्ता उसी की होती है जिसकी वह आवश्यकता है, परन्तु आवश्यकता के अपूर्ति-काल मे यह

रहस्य स्पष्ट नही होता, प्रत्युत ऐसा प्रतीत होता है कि जिसको आवश्यकता है, और जिसकी आवश्यकता है, इन दोनो मे भिन्नता है। जिसमे आवश्यकता है, वह अपने मे अभाव अनुभव करता है, और जिसकी आवश्यकता है उसमे पूर्णता स्वीकार करता है। इस दृष्टि से पूर्णता की आवश्यकता ही आवश्यकता का स्वरूप है। परन्तु जब पूर्णता की लालसा को वस्तुओ की कामनाओ से आच्छादित कर दिया जाता है तब व्यक्ति अपने मे अनेक मान्यताओ को स्वीकार करता है और प्रत्येक मान्यता के अनुसार अपने कर्त्तव्य का निर्णय करता है।

व्यक्ति एक और मान्यताएँ अनेक हो जाने से अपने सम्बन्ध मे बेचारा व्यक्ति विकल्प-रहित निर्णय नही कर पाता। उसका परिणाम यह होता है कि कामनाओ की पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख मे आवद्ध रहता है, और वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति का प्रश्न वर्तमान जीवन से सम्बन्धित नही रहता। जो समस्या वर्तमान जीवन से सम्बन्धित नही रहती उसके लिए व्यक्ति व्याकुल नही होता। जिसके लिए व्याकुलता नही होती उसके लिए अपना सर्वस्व समर्पित नही होता, अथवा यो कहो कि व्यक्ति उसे सब कुछ देकर प्राप्त करता। समस्त मान्यताओ के मूल मे अपना अस्तित्व क्या है, इसको जाने बिना कामनाओ का अन्त नही हो सकता और कामना-निवृत्ति के बिना आवश्यकता की पूर्ति नही हो सकती। आवश्यकता की पूर्ति के बिना अभाव का अभाव नही हो सकता।

कामना-पूर्ति-अपूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना, अपने को देह मान लेना है। अपने को देह मानकर कोई भी व्यक्ति स्वाधीन नहीं हो सकता और पराधीनता किसी भी व्यक्ति को स्वभाव से प्रिय नही है। स्वभाव से अप्रियता उसी मे होती है;

जिसमे स्वरूप से भिन्नता हो। इस दृष्टि से अपने को देह मानने मे अपनी अनुभूति का विरोध है। जिस मान्यता के सम्बन्ध मे निज-अनुभूति का विरोध हो, उस मान्यता को स्वीकार करना कभी भी विकल्प-रहित नही हो सकता। जो मान्यता विकल्प-रहित नही है उसका त्याग करना अनिवार्य है।

अपने को देह न मानने पर सभी कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं, जिनके निवृत्त होते ही सुख-दु ख का वन्धन टूट जाता है और चिरशान्ति स्वत प्राप्त हो जाती है परन्तु जो साधक शाति मे रमण करने लगता है उसकी शान्ति सुरक्षित नही रहती, जिसके न रहने से साधक उसी स्थिति मे आ जाता है जो अभाव-रूप थी। इस दृष्टि से शान्ति मे भी जीवन-बुद्धि स्वीकार करना विकल्प-रहित नही है।

शान्ति मे जीवन-बुद्धि न रहने पर शान्ति में रमण रुचिकर नही रहता, क्योकि प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता जीवन की है। शान्ति से अरुचि होते ही शान्ति से अतीत के जीवन मे प्रवेश होता है, जिसमे पराधीनता नही है। अत स्वाधीनता मे जीवन-बुद्धि स्वीकार कर पराधीनता का अन्त करने के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए। सुख-दु ख तथा शान्ति से अतीत के जीवन की लालसा साधक को सकल्प की उत्पत्ति, पूर्ति और निवृत्ति से असग कर देती है।

स्वाधीनता की आवश्यकता मिटाई नही जा सकती, अत उसकी पूर्ति अनिवार्य है। अब विचार यह करना है कि स्वाधीनता की आवश्यकता किसमे है। स्वाधीनता की आवश्यकता उसी मे हो सकती है जो पराधीनता से दु खी है। पराधीनता से दु खी वही है जिसने देह से तादात्म्य स्वीकार किया है। जिसने देह से तादात्म्य स्वीकार किया है, वह किसी भी काल

मे देह नही हो सकता। अत अपने को देह मानना युक्ति-युक्त नही है। देह से तादात्म्य न रहने पर अपना अस्तित्व क्या है, इस सम्बन्ध मे कुछ भी कहना बनता नही, क्योकि जो कुछ कहा जायगा वह देह के द्वारा ही कहा जायगा। देह के द्वारा जो कुछ कहा जायगा, उसमे किसी-न-किसी अश मे देह का प्रभाव आ जायगा। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि जिसका वर्णन नही हो सकता उसका अस्तित्व नही है। वर्णन भले ही न हो, पर उसकी प्राप्ति हो सकती है।

देह से तादात्म्य कब किसने स्वीकार किया था, इसका ज्ञान सम्भव नही है, परन्तु देह से तादात्म्य मिटते ही, जो पराधीनता से दुखी था, वह स्वाधीनता से अभिन्न हो जाता है, अथवा यो कहो कि वह उसका योग, बोध तथा प्रेम हो जाता है जो अनन्त है। इस दृष्टि से व्यक्ति का अस्तित्व अनन्त के योग,बोध और प्रेम की लालसा से भिन्न कुछ नही है।

योग, बोध तथा प्रेम की अप्राप्ति-काल मे ही उनकी लालसा प्रतीत होती है और उस लालसा के आधार पर ही व्यक्तित्व का भास होता है। लालसा के पूर्ति-काल मे व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व शेष नही रहता, और न उसकी प्रतीति ही होती है। इस दृष्टि से अपने अस्तित्व के सम्बन्ध मे वास्तविक जीवन की लालसा के अतिरिक्त कुछ नही कह सकते। परन्तु यह रहस्य तभी खुलता है जब लालसा की पूर्ति हो, और लालसा की पूर्ति तभी हो सकती है जब वस्तु-व्यक्ति आदि की कामनाओ की निवृत्ति हो। वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि की कामना के आधार पर व्यक्ति अपने मे देह-बुद्धि स्वीकार करता है। कामना-पूर्ति के प्रलोभन का नाश होते ही देह से समस्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, अथवा यो कहो कि समस्त कामनाएँ गल कर

वास्तविक लालसा के स्वरूप मे परिवर्तित हो जाती है, जिसके होते ही भोग योग मे और अविवेक बोध मे तथा आसक्ति प्रेम में बदल जाती है, अथवा यो कहो कि योग, बोध एवं प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। योग, बोध एव प्रेम की प्राप्ति किसको होती है, इसके सम्बन्ध में यही कह सकते हैं कि भोग, अविवेक और आसक्ति मे जो आबद्ध था उसी को योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति हुई। भोक्ता मे से भोग की रुचि और भोग की प्रवृत्ति को अलग कर देने पर भोक्ता के अस्तित्व का ज्ञान नही होता, उसी प्रकार अविवेकी मे से अविवेक और आसक्त मे से आसक्ति विभाजित करके उनके अस्तित्व का ज्ञान नही होता। इतना ही नही, जिसमे भोक्ता का आरोप है उसी मे अविवेक और आसक्ति का आरोप है, अर्थात् भोक्ता को ही अविवेकी और आसक्त कह सकते हैं। भोक्ता कोई और हो, और अविवेकी तथा आसक्त कोई और हो, ऐसा सम्भव नही है। जो भोक्ता है वही कर्ता भी है क्योकि भोक्तृत्व किसी और मे हो और कर्तृत्व किसी और मे हो—यह भी युक्ति-युक्त नही है। जो अपने को भोक्ता तथा कर्त्ता मानता है उसी मे भोग के दु.खद परिणाम के कारण जिज्ञासा तथा लालसा उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से जो कर्त्ता भोक्ता था वही अपने को जिज्ञासु और योग, बोध तथा प्रेम का अभिलाषी मानता है। भोग की रुचि का नाश करने के लिए जो लालसा जागृत होती है, वही लालसा अविवेक तथा आसक्ति का भी नाश करती है, क्योकि भोग की रुचि का नाश होते ही अविवेक तथा आसक्ति का नाश स्वत हो जाता है।

वस्तु, व्यक्ति आदि के द्वारा सुख की आशा से भोग की रुचि पुष्ट होती है। वस्तुओ के स्वरूप का ज्ञान ज्यो-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यो-त्यो वस्तु, व्यक्ति आदि के द्वारा

सुख की आशा का त्याग स्वत हो जाता है । जिस काल मे वस्तुओ की वास्तविकता का बोध हो जाता है, उसी काल मे उनके द्वारा सुख की आशा का सर्वांश मे नाश हो जाता है, जिसके होते ही समस्त वस्तुओ से स्वत विमुखता हो जाती है। वस्तुओ की विमुखता मे ही अनन्त की सम्मुखता निहित है।

समस्त सृष्टि को वस्तु के ही अर्थ मे लेना चाहिए, क्योंकि इन्द्रिय-ज्ञान से भले ही वस्तुएँ भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हो, पर बुद्धि के ज्ञान से समस्त वस्तुए एक है, और बुद्धि से अतीत के ज्ञान मे वस्तुओ का अभाव है, अथवा यो कहो कि इन्द्रिय-ज्ञान से अनेक वस्तुए सत्य प्रतीत होती है और बुद्धि-ज्ञान से अनेक वस्तुओ में एकता और परिवर्तन प्रतीत होता है । बुद्धि से अतीत के ज्ञान मे समस्त वस्तुए आभावरूप है।

सकल्प-पूर्ति मे ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करने पर कोई भी व्यक्ति जडता, पराधीनता, शक्तिहीनता आदि दु खो से बच नही सकता और न अपने को देह से भिन्न ही अनुभव कर सकता है, अथवा यो कहो कि अपने मे से देहभाव का त्याग नही कर सकता। संकल्प-पूर्ति के जीवन ने ही देह से तादात्म्य दृढ़ किया है। इसी कारण बेचारा सकल्प-पूर्ति के सुख मे आबद्ध साधक अपने को देहाभिमान से रहित नही कर पाता। इस जडता के जीवन से ऊपर उठने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि प्राप्त वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य का सद्व्यय दुखियों की सकल्प-पूर्ति मे हो। ऐसा करने से चित्त करुणित होगा । करुणित होने से जडता कोमलता में परिवर्तित हो जायगी और सुख-भोग की रुचि स्वतः मिट जायगी, जिसके मिटते ही सभी का दु ख अपना और अपना सुख सभी का हो जायगा। ऐसा होते ही प्राप्त वस्तुओ की ममता और अप्राप्त वस्तुओं का चिन्तन मिट जायगा, जिसके मिटते ही

वस्तुओ से असगता हो जायगी, जो सभी दोषो का अन्त करने मे समर्थ है। दोषो के अन्त मे ही निर्दोषता की उपलब्धि स्वत सिद्ध है। निर्दोषता की प्राप्ति मे ही भोग योग मे स्वत बदल जाता है। योग शान्ति तथा सामर्थ्य का प्रतीक है। सामर्थ्य मे ही स्वाधीनता और स्वाधीनता मे ही नित्य-जीवन तथा प्रेम निहित है। सुख के त्याग मे शान्ति की प्राप्ति और शान्ति मे ही सामर्थ्य का उदय होता है। सामर्थ्य के सद्व्यय से स्वाधीनता प्राप्त है, और स्वाधीनता मे सन्तुष्ट न होने पर प्रेम की प्राप्ति होती है, अथवा यो कहो कि सकल्प-पूर्ति की दासता से मुक्त होने पर शाति, शान्ति मे रमण न करने से स्वाधीनता और स्वाधीनता के समर्पण मे परम प्रेम का उदय है, जो नित-नव रस करने मे समर्थ है। इस दृष्टि से अपने सम्बन्ध मे विकल्प-रहित निर्णय यही हो सकता है कि व्यक्ति अपने को वास्तविकता का जिज्ञासु, अथवा अनन्त का प्रेमी स्वीकार करे। अपने को जिज्ञासु प्रेमी स्वीकार करते ही चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है, क्योकि जिज्ञासु तथा प्रेमी की मान्यता मे देहाभिमान तथा वस्तु व्यक्ति आदि की दासता शेष नही रहती, जो चित्त की शुद्धि मे समर्थ है।

३—६—५६

३३

स्वाभाविक एवं अस्वाभाविक आवश्यकताएँ

[वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता मे जीवन-बुद्धि स्वीकार करते ही देहाभिमान उत्पन्न हो जाता है । देह मे अहम्-बुद्धि दृढ होते ही अस्वाभाविक इच्छाये उत्पन्न होती है । जब व्यक्ति अस्वाभाविक इच्छाओ की प्रवृति करने लगता है तब चित्त अशुद्ध हो जाता है ।

प्राकृतिक नियमो के अनुसार जिन इच्छाओ मे प्रवृत होना अनिवार्य है उनकी प्रवृति के लिए परिस्थिति स्वत प्राप्त होती है और जिन इच्छाओ की प्रवृत्ति अनावश्यक है उनके लिए परिस्थिति नही होती है ।

यद्यपि चिन्तन-मात्र से परिस्थिति प्राप्त नहीं हो जाती, परन्तु अप्राप्त परिस्थिति की आसक्ति अथवा रुचि दृढ होती है । परिस्थितियो के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान से परिस्थितियो मे जो निरर्थकता ज्ञात होती है, उससे परिस्थितियो मे जीवन-बुद्धि नही रहती, जिसके न रहने पर प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का सामर्थ्य आ जाता है, और अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान नही होता ।

स्वाभाविक आवश्यकता किसी परिस्थिति की नही है, अपितु सभी परिस्थितियो से अतीत के जीवन की है । स्वाभाविक आवश्यकता ज्यो-ज्यो सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यो-त्यो परिस्थिति-जनित खिन्नता स्वत मिट जाती है ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

जब व्यक्ति प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का उपयोग अपनी स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति मे न करके अस्वाभाविक इच्छाओ की प्रवृत्ति मे करने लगता है तब चित्त-अशुद्ध हो जाता है। स्वाभाविक आवश्यकता के रहते हुए अस्वाभाविक इच्छाओ की उत्पत्ति ही क्यो होती है ? उसका एक-मात्र कारण यह है कि व्यक्ति प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता मे ही जीवन-बुद्धि स्वीकार कर लेता है। वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता मे ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करते ही देहाभिमान उत्पन्न हो जाता है। देह मे अहम्-बुद्धि दृढ होते ही स्वाभाविक इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, जो बेचारे प्राणी को वस्तु,अवस्था,परिस्थिति आदि मे आबद्ध कर देती हैं। स्वाभाविक आवश्यकता और अस्वाभाविक इच्छाओ मे एक बडा अन्तर यह है कि अस्वाभाविक इच्छाओ के अनुरूप प्रवृत्ति होती है पर प्राप्ति कुछ नही होती, क्योकि अनेक बार इच्छाओ की पूर्ति के लिए प्रवृत्त होने पर भी परिणाम मे अभाव ही शेष रहता है, परन्तु स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति होने पर सामर्थ्य,स्वाधीनता एव रसरूप अनन्त नित्य-जीवन की प्राप्ति होती है। इतना ही नही, अस्वाभाविक इच्छाओ की प्रवृत्ति के लिए किसी-न-किसी वस्तु,व्यक्ति आदि की अपेक्षा होती है,किन्तु स्वाभाविक आवश्यकता-पूर्ति के लिए किसी भी वस्तु या व्यक्ति की अपेक्षा नही होती, अपितु प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सद्व्यय केवल सर्वहितकारी प्रवृत्ति मे ही होता है इस दृष्टि से प्राप्त-अप्राप्त वस्तु, सामर्थ्य और योग्यता की अपेक्षा स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति मे नही है। हाँ यह अवश्य है कि प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता के अभिमान तथा सग्रह से रहित होने के लिए उनका सद्व्यय करना अनिवार्य होता है। यही प्राप्त

परिस्थिति का सदुपयोग है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग साधन-रूप है। साधनमे साध्य-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद है। साधन-सामग्री साधन के लिए अभीष्ट है,पर उनसे जीवन-बुद्धि मान लेना साध्य से विमुख होना है, अथवा यों कहो कि स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति से वचित होना और अस्वाभाविक इच्छाओ मे आबद्ध हो जाना है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति किसी परिस्थिति मे निहित नही है। उसके लिए किसी परिस्थिति का चितन करना आवश्यकता को इच्छाओं का रूप देना है। आवश्यकता एक है और इच्छाऐ अनेक। आवश्यकता उसी की है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है,और इच्छाए उसकी हैं जिसमे सतत परिवर्तन तथा अभाव है। स्वाभाविक आवश्यकता तथा इच्छाओ का भेद जान लेने पर इच्छाओ की निवृत्ति और आवश्यकता-पूर्ति की उत्कट लालसा जागृत होती है। आवश्यकता-पूर्ति की लालसा ज्यो-ज्यो सवल तथा स्थायी होती जाती है,त्यो-त्यो अस्वाभाविक इच्छाएँ स्वत. निर्जीव होती जाती हैं,अथवा यो कहो कि स्वाभाविक आवश्यकता की जागृति अस्वाभाविक इच्छाओ को खा लेती है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार जिन इच्छाओ मे प्रवृत्त होना अनिवार्य है उनकी प्रवृत्ति के लिए परिस्थिति स्वत. प्राप्त होती है और जिन इच्छाओ की प्रवृत्ति अनावश्यक है उनके लिए परिस्थिति प्राप्त नही होती। इस रहस्य को न जानने के कारण वेचारा प्राणी अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करने लगता है।

यद्यपि चिन्तनमात्र से परिस्थिति प्राप्त तो नही हो जाती, परन्तु अप्राप्त परिस्थिति की आसक्ति अथवा रुचि दृढ होती है। जिसकी प्राप्ति सम्भव न हो और उसकी रुचि उत्पन्न हो जाय उसका परिणाम यह होता है कि वेचारा प्राणी विवशता मे आबद्ध

होकर कभी तो अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करता है और कभी उसे निरर्थक मानकर झूठा सन्तोष करता है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति से चित्त अशुद्ध हो जाता है।

चित्त के अशुद्ध हो जाने पर जो जानना चाहिए उसकी जिज्ञासा सबल नही होती और जो मानना चाहिए उस पर विकल्प-रहित विश्वास नही होता। परिस्थितियो के स्वरूप को यथावत् जाने बिना परिस्थितियो की दासता नष्ट नही होती, और सभी परिस्थितियो से अतीत जो वास्तविक जीवन है, उसको माने बिना उस पर विश्वास तथा उससे नित्य-सम्बन्ध नही होता। परिस्थितियो की दासता का अन्त होने पर ही अप्राप्त परिस्थिति की रुचि का नाश होता है और परिस्थितियो से अतीत के जीवन मे विकल्प-रहित विश्वास होने से ही उस जीवन की स्मृति का उदय होता है।

समस्त परिस्थितियो की अभिरुचि का नाश और परिस्थितियो से अतीत के जीवन की स्मृति समस्त अस्वाभाविक इच्छाओ को खा लेती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है।

प्राप्त-अप्राप्त परिस्थितियो मे निरर्थकता का दर्शन दो प्रकार से होता है, एक तो परिस्थितियो के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने से,और दूसरा रुचिकर परिस्थिति की अप्राप्ति के क्षोभ से। रुचिकर परिस्थिति की अप्राप्ति के क्षोभ से परिस्थिति मे जो निरर्थकता का भास होता है, वह परिस्थितियो की दासता से मुक्त नही कर पाता, अपितु ऊपर से तो परिस्थिति की अरुचि का अपने में आरोप कर लेता है और भीतर परिस्थिति की दासता ज्यो की त्यो बनी रहती है। इस भयकर स्थिति मे बेचारे साधक के चित्त की बडी ही दीन दशा हो जाती है, जो मिथ्या अहकार को जन्म देकर उस बेचारे को अस्त-व्यस्त कर देती है। उसका

परिणाम यह होता है कि जो स्वत होना चाहिए वह होता नही, और जो हो ही नही सकता उसके करने की सोचता रहता है, जिससे प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का ह्रास होता है, जिससे प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नही कर पाता, जिसके विना किए विद्यमान राग की निवृत्ति नही होती, प्रत्युत अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से नवीन राग की उत्पत्ति हो जाती है, जिससे चित्त अशुद्ध ही होता है।

यद्यपि प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग विद्यमान राग की निवृत्ति का साधन है, और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का त्याग होने पर नवीन राग की उत्पत्ति नही होती, परन्तु बेचारा साधक परिस्थिति के स्वरूप को जाने बिना राग-रहित नही हो पाता और राग-रहित हुए बिना परिस्थितियो से अतीत के जीवन की प्राप्ति नही होती।

परिस्थितियो के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान से परिस्थितियों मे जो निरर्थकता ज्ञात होती है, उससे परिस्थितियो मे जीवन-बुद्धि नही रहती, जिसके न रहने पर प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का सामर्थ्य आ जाता है, और अप्राप्त परिस्थिति का आवाहन नही होता। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग परिस्थिति से असग करने मे समर्थ है, और अप्राप्त परिस्थितियो के चिन्तन का त्याग किसी भी परिस्थिति से सम्बन्ध नही होने देता, अर्थात् परिस्थिति से असगता सुरक्षित रहती है, जिससे सभी परिस्थितियो से विमुखता दृढ़ हो जाती है, जो परिस्थितियो से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देती है।

जिस ज्ञान से परिस्थितियों के स्वरूप का बोध होता है वह ज्ञान क्या किसी परिस्थिति का ही परिणाम है? अथवा परिस्थिति किसी ज्ञान की अभिव्यक्ति है ? अथवा यो कहो कि क्या जड़ता

से चेतन की उत्पत्ति हुई है ? अथवा जडता चेतन की ही एक अभिव्यक्ति है ? इन दोनो मान्यताओ मे से जिस साधक को जो मान्यता मान्य हो, वह उसी को भले ही माने, पर यह तो दोनो ही को मान्य होगा कि साधक को जडता से चेतना की ओर अग्रसर होना है। यदि चेतना को जडता का परिणाम कोई माने, तो भी यह तो मानना ही होगा कि चेतन को जड की ओर गतिशील नही होना चाहिए, क्योकि चेतन का जड की ओर गतिशील होना विकास से ह्रास की ओर जाना है, जो किसी को भी अभीष्ट नही है। यदि जडता को चेतन की ही अभिव्यक्ति मान लिया जाय तब भी जडता का अभाव स्वीकार कर चेतन से ही अभिन्न होना अभीष्ट होगा। उपर्युक्त दोनो मान्यताओ मे से किसी भी मान्यता का यह मत नही हो सकता कि चेतनता से जडता की ओर जाना चाहिए। जडता से सम्बन्ध-विच्छेद करना अथवा जडता के अस्तित्व को ही स्वीकार न करना दार्शनिक भेद हो सकता है, पर चिन्मय जीवन से अभिन्न होने मे दोनो ही दार्शनिक दृष्टियाँ समर्थक है, विरोधी नही। प्रत्येक दार्शनिक दृष्टि का सद्व्यय जिस जीवन से अभिन्न करता है वह जीवन एक है। दर्शन मे भेद होने से साधन मे भेद हो सकता है, पर वास्तविक लक्ष्य मे भेद नही हो सकता। इस दृष्टि से परिस्थितियो की अभिरुचि का त्याग प्रत्येक साधक को अभीष्ट होगा, क्योकि सभी साधको की स्वाभाविक आवश्यकता एक है। अप्राप्त परिस्थिति की अभिरुचि और परिस्थितियो मे निरर्थकता के दर्शन का द्वन्द तभी मिट सकता है जब प्राप्त परिस्थिति का आदर पूर्वक सदुपयोग हो, और अप्राप्त परिस्थिति की रुचि का नाश हो तथा परिस्थितियो से अतीत के जीवन मे विश्वास हो, क्योकि परिस्थितियो

से अतीत के जीवन का विश्वास परिस्थितियो की दासता से मुक्त करने मे समर्थ है। प्रत्येक परिस्थिति उस अनन्त की देन तथा प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय मे प्राणी का हित निहित है। इस मान्यता से प्रत्येक परिस्थिति मे समान बुद्धि हो जायगी, जो परिस्थितियो के सदुपयोग की प्रेरणा देने मे समर्थ है।

परिस्थिति का सदुपयोग बडी सावधानीपूर्वक, पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर, स्वाभाविक आवश्यकता पर दृष्टि रखकर, करना चाहिए। परिस्थिति-जन्य सुख-दुख मे आबद्ध नही होना चाहिए और परिस्थिति की अपूर्णता तथा परिवर्तन के ज्ञान का आदर करना चाहिए। प्राप्त परिस्थिति की ममता और अप्राप्त परिस्थिति की अभिरुचि के त्याग मे ही चित्त की शुद्धि निहित है।

स्वाभाविक आवश्यकता किसी परिस्थिति की नही है, अपितु सभी परिस्थितियो मे अतीत के जीवन की है, क्योकि ऐसी कोई परिस्थिति है ही नही जिससे सामर्थ्य, स्वाधीनता एव नित-नूतन रस तथा अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन की प्राप्ति हो। परिस्थिति तो केवल राग-निवृत्ति का साधन मात्र है। स्वाभाविक आवश्यकता वर्तमान जीवन की वस्तु है। उससे निराश होना साधक की भूल है। इस भूल का अन्त करना अनिवार्य है। स्वाभाविक आवश्यकता ज्यो-ज्यो सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यो-त्यो परिस्थिति-जनित खिन्नता स्वत मिटती जाती है। खिन्नता का अन्त होते ही अप्राप्त परिस्थिति की अभिरुचि स्वत मिट जाती है, क्योकि खिन्नता की भूमि मे ही काम की उत्पत्ति होती है। और काम की उत्पत्ति ही अस्वाभाविक इच्छाओ को जन्म देती है। स्वाभाविक आवश्यकता की शिथिलता मे ही अस्वाभाविक इच्छाएं स्वाभाविक प्रतीत होती है। इसी कारण

इच्छाओ की पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दु ख मे प्राणी आबद्ध हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

प्रत्येक परिस्थिति भौतिक-दृष्टि से कर्म का परिणाम तथा प्राकृतिक न्याय, अध्यात्म-दृष्टि से माया-मात्र और आस्तिक दृष्टि से उस अनन्त की ही अभिव्यक्ति है। प्राकृतिक न्याय मे प्राणी का हित निहित है, इस कारण उसका आदर किया जाय, किन्तु उसमे जीवन-बुद्धि की स्थापना न की जाय, क्योकि न्याय उद्देश्य की पूर्ति मे साधनरूप होता है, उसमे जीवन नही है। जो माया-मात्र है, उसमे मिथ्याबुद्धि होते ही उसकी सत्यता मिट जाती है, जिसके मिटते ही वास्तविकता को बोध हो जाता है। इस दृष्टि से भी परिस्थिति जीवन नही है।

अनन्त की अभिव्यक्ति अनन्त से भिन्न नही है। इस दृष्टि से भी परिस्थिति का कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नही सिद्ध होता, प्रत्युत वह जिसकी अभिव्यक्ति है, उसमे उसी की सत्ता है अथवा वही है। उपर्युक्त तीनो दृष्टियो से परिस्थिति-मात्र मे ही जीवनवुद्धि रखना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नही है। चित्त की शुद्धि भौतिक-दृष्टि से परिस्थितियो के सदुपयोग मे, अध्यात्म-दृष्टि से परिस्थितियो के अभाव मे और आस्तिक दृष्टि से परिस्थितियो के द्वारा प्रेमास्पद की पूजा मे निहित है।

४—६—५६

३४

निज दोष और दुःख का वास्तविक ज्ञान

[यदि व्यक्ति अपने दोप और गुण से भलीभाति परिचित हो जाय, तो उसका चित्त शुद्ध हो जाता है । कामना-उत्पत्ति और अपूर्ति ही दोष तथा दु ख है, जो वास्तव मे अविवेक-सिद्ध है । प्राप्त विवेक के आदर से अविवेक की निवृत्ति एव साधन और साध्य मे विकल्प-रहित विश्वास होने से चित्त शुद्ध हो जाता है ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

यदि व्यक्ति अपने दोष और दु ख से भली-भाँति परिचित हो जाय, अर्थात् उसे अपने दोष और दु ख का यथावत् ज्ञान हो जाय,अथवा साधक को अपने साधन तथा साध्य मे विकल्प-रहित विश्वास हो जाय, तो बडी ही सुगमतापूर्वक उसका चित्त शुद्ध हो जाता है, कारण कि चित्त की अशुद्धि एकमात्र अपने दु ख और दोष के सम्बन्ध मे यथेष्ट ज्ञान तथा साधन और साध्य मे विकल्प-रहित विश्वास न होने मे ही है । अत निज-विवेक के प्रकाश मे अपने दु ख और दोप को जानना अनिवार्य है,जिसे वह स्वय जान सकता है । दु ख का स्पष्ट ज्ञान होने पर ही उसकी निवृत्ति की उत्कट अभिलाषा जागृत होती है, और दोप के ज्ञान मे ही निर्दो-

पता की आवश्यकता निहित है । इस दृष्टि से दु:ख तथा दोष का ज्ञान ही व्यक्ति के विकास का मूल है ।

ऐसा कोई दोप है ही नही जिसके भूल मे कामना-उत्पत्ति न हो, और ऐसा कोई दु ख है ही नही जिसके मूल मे कामना-अपूर्ति न हो । कामना-उत्पत्ति और अपूर्ति ही दोष तथा दु ख है, जो वास्तव मे अविवेक-सिद्ध है । प्राप्त विवेक के आदर से अविवेक की निवृत्ति वर्तमान मे हो सकती है, कारण कि विवेक के अनादर के अतिरिक्त अविवेक कोई वस्तु ही नही है । विवेक का अनादर किसी और का बनाया हुआ दोष नही है, उसे व्यक्ति ने स्वय ही अपनाया है । इस कारण उसके त्याग का दायित्व उसी पर है । अपने अपनाए हुए दोष के त्याग मे ही व्यक्ति का पुरुषार्थ निहित है । यह नियम है कि पुरुषार्थ की पूर्णता मे ही कर्तव्य की समाप्ति है, और कर्तव्य की समाप्ति मे सफलता स्वत -सिद्ध है ।

विवेक प्रत्येक साधक को स्वत. प्राप्त है । उसके उपयोग मात्र मे ही प्राणी का पुरुषार्थ है । विवेक किसी कर्म का फल नही है, क्योकि कर्म-अनुष्ठान से पूर्व कर्म की सामग्री बिना किसी कर्म के ही प्राप्त होती है, यह प्राकृतिक नियम है । ऐसा कोई कर्म हो ही नही सकता जिसकी सिद्धि ज्ञान, सामर्थ्य तथा वस्तुओ के बिना सम्भव हो । प्रत्येक परिवर्तनशील परिस्थिति भले ही कर्म का परिणाम हो, परन्तु कर्म को मूल सामग्री किसी कर्म का परिणाम नही हो सकती । वह तो किसी की देन है, अथवा यो कहो कि स्वत प्राप्त है । इस दृष्टि से समस्त ज्ञान, सामर्थ्य और वस्तु व्यक्तिगत नही है । जिसको जितना प्राप्त है उसके सद्व्यय मे ही व्यक्ति का अधिकार है और वही उसका साधन है ।

ज्ञान, सामर्थ्य और वस्तुएं असीम हैं, उनकी गणना तथा सीमा नही हो सकती । व्यक्ति उनकी खोज भले कर सके, पर उन्हे

उत्पन्न नही कर सकता। यह नियम है कि खोज उसी की होती है, जो है। इस दृष्टि से विज्ञान विज्ञानवेत्ता की, दर्शन दर्शनकार की और कला कलाकार की खोज है, उपज नही। जिस प्रकार दाना भूमि से मिलकर अपने स्वाभावानुसार विकास पाता है, उसी प्रकार व्यक्ति अन्तर्मुख होकर अपनी रुचि के अनुसार विकास पाता है। इस दृष्टि से जिस व्यक्ति को ज्ञान, सामर्थ्य तथा वस्तु प्राप्त है वह उस अनन्त की है,व्यक्ति की नही। व्यक्ति ने तो प्राप्त ज्ञान तथा सामर्थ्य एव वस्तु मे केवल ममता कर ली है, अथवा यो कहो कि प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य एव ज्ञान का अभिमान कर लिया है। अनन्त की देन को अनन्त के समर्पित करना साधन है और उसी के नाते प्राप्त का सदुपयोग करना भी साधन है। इतना ही नही, जिससे सब कुछ मिला है उसको बिना प्राप्त किये सर्वांश मे दु ख तथा दोष का अन्त नही हो सकता। अत उसको प्राप्त करना ही साध्य है। प्राप्ति से पूर्व साधन और साध्य के सम्बन्ध मे विकल्प-रहित विश्वास ही हो सकता है, साध्य के स्वरूप का बोध नही। जिस प्रकार प्रत्येक बीज अपने स्वभाव का अन्त किये बिना उसके स्वरूप को नही जान पाता, जिससे वह विकसित होता है, उसी प्रकार व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वभाव का अन्त किए बिना उस अनन्त के वास्तविक स्वरूप को नही जान पाता, जिससे वह सब प्रकार का विकास पाता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक उत्पत्ति मे सतत परिवर्तन तथा विनाश है। अत प्राप्त वस्तु आदि से ममता करना, उसका अभिमान करना, उनमे रमण करना तथा उनके आश्रय को स्थायी बनाना, अविवेक के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ?

वस्तुओ के सतत परिवर्तन तथा उनके अदर्शन की अनुभूति

का अनादर ही अविवेक को पुष्ट करता है और उसकी तुष्टि से ही कामनाओ की उत्पत्ति होती है।

इस मूल दोप को स्पष्ट जान लेने से कामना-निवृत्ति तथा अविवेक का अन्त करने की लालसा जागृत होती है। वह लालसा ज्यो-ज्यो सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यो-त्यो अनन्त की अहैतुकी कृपा—शक्ति स्वत उस लालसा की पूर्ति का सामर्थ्य तथा योग्यता प्रदान करती है। इस दृष्टि से अविवेक का अन्त करने की अभिलाषा ही अविवेक के नाश मे समर्थ है। मूल दोष तथा दुःख के रहते हुए समस्त दोषो और दु खो का सदा के लिए अन्त नही हो सकता और उसका अन्त हुए बिना साधन तथा साध्य मे विकल्प रहित विश्वास नही हो सकता।

अविवेक तथा कामना-उत्पत्ति ही मूल भूल, अर्थात् दोष है। इस दोप की निवृत्ति विवेक तथा कामना-निवृत्ति से ही सम्भव है। उसके लिए प्राप्त विवेक का आदर करना होगा। कामना-अपूर्ति ही मूल दु ख है। उसकी निवृत्ति कामना-पूर्ति द्वारा सभव नही है। हाँ जो कामनाएँ किसी प्रकार मिटाई नही जा सकती उनकी पूर्ति प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वत हो जाती है परन्तु उन कामनाओ की पूर्ति का जो सुख है साधक को उसका त्याग करना होगा। कामना-पूर्ति के सुख भोग से रहित होने पर नवीन कामनाएँ मिटाई नही जा सकती वे पूरी हो-होकर स्वत मिट जाएँगी। कामना-पूर्ति के सुख के प्रलोभन से ही नवीन कामनाओं का जन्म होता है। जिन कामनाओ की पूर्ति किसी भी कारण से सम्भव नही है, उन कामनाओ का त्याग करना ही अनिवार्य है। कामनाओ के त्याग मे साधक सर्वदा स्वाधीन है। पराधीनता कामना-पूर्ति मे है, निवृत्ति मे नही। कामना-निवृत्ति का महत्व जानने पर पराधीनता सदा के लिए मिट जाती है और उसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जात है।

कामना-पूर्ति का प्रलोभन वस्तु, व्यक्ति आदि से सुख की आशा उत्पन्न करता है और कामना-अपूर्ति के दुख से भयभीत होने पर कामना-पूर्ति का प्रलोभन उत्पन्न होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार कामना-अपूर्ति का दुख कामना-पूर्ति के सुख की दासता से मुक्त करने के लिए आता है, पर प्राणी असावधानी के कारण उस दुख से भयभीत हो जाता है, जिसके होते ही चित्त मे नीरसता तथा खिन्नता उत्पन्न होती है। नीरसता तथा खिन्नता की भूमि मे ही काम का जन्म होता है जो समस्त कामनाओ की भूमि है इस दृष्टि से काम का अन्त हुए विना कामनाओ की निवृत्ति सम्भव नही है। नीरसता के रहते हुए काम का नाश नही हो सकता और प्रीति के विना नीरसता मिट नही सकती। वस्तुओ के द्वारा सुख की आशा ने ही प्राणी को जडता मे आवद्ध कर दिया है। जड़ता मे आवद्ध होने से ही प्रीति आच्छादित हो गयी है। वस्तुओ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने पर ही जडता का नाश हो सकता है। वस्तुओके वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए साधक को सर्वप्रथम शरीर रूपी वस्तु के स्वरूप को जानना होगा। शरीर का यथार्थ ज्ञान होने पर सारे विश्व का ज्ञान हो जाता है, कारण कि शरीर विश्वरूपी सागर की ही एक लहर है।

शरीर की सत्यता तथा सुन्दरता मे ही समस्त विश्व की सत्यता तथा सुन्दरता निहित है, अथवा यो कहो कि शरीर की आसक्ति ने ही समस्त वस्तुओ मे आसक्ति उत्पन्न कर दी है। शरीर के वास्तविक स्वरूप को जान लेने पर इसकी सत्यता तथा सुन्दरता स्वत मिट जाती है। अत जो ज्ञान प्राप्त है उससे शरीर की वास्तविकता को जानकर साधक बडी सुगमता से काम-रहित हो सकता हैं। जिस साधक को अपने शरीर मे सत्यता तथा

सुन्दरता का दर्शन नही होता, उसे किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति मे सत्यता तथा सुन्दरता का दर्शन नही होता। वस्तुओ की सत्यता तथा सुन्दरता का नाश होते ही वस्तुओ की ममता अपने आप मिट जाती है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध होने लगता है और सर्वांश मे वस्तुओ का सम्बन्ध-विच्छेद होने पर चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है।

जिस ज्ञान से वस्तुओ की वास्तविकता का बोध होता है, उसी ज्ञान मे वस्तुओ से सम्बन्ध-विच्छेद करने का सामर्थ्य विद्यमान है और वह ज्ञान प्रत्येक साधक को प्राप्त है। अत जो ज्ञान प्राप्त है, उसी के द्वारा साधक को प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को जान लेना चाहिए, जिससे वस्तुओ की सत्यता तथा सुन्दरता का नाश हो जाय और वस्तुओ से अतीत के जीवन मे विकल्प-रहित विश्वास हो जाय। वस्तुओ से अतीत का जीवन ही वास्तविक साध्य है ओर जिस ज्ञान से वस्तुओ के स्वरूप का बोध होता है वह ज्ञान वास्तविक साधन है।

वस्तुओ से तद्रूपता स्वीकार करना ही मूल दोष है, जिसकी निवृति उसी ज्ञान से हो सकती है जिस ज्ञान से वस्तुओ के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। मूल दोष की निवृत्ति मे ही साधन की पूर्णता है, और साधन की पूर्णता में ही सिद्धि निहित है।

निज ज्ञान के द्वारा वस्तुओ के स्वरूप को जानने का प्रयास न करना ही साधक की असावधानी है, और अनन्त की देन का अनादर है। अनन्त की देन का अनादर तथा असावधानी को अपनाना ही असाधन है। असाधन का त्याग किए बिना साधन मे श्रद्धा तथा तत्परता उत्पन्न नही होती, जिसके उत्पन्न हुए बिना साधन-परायणता नही होती, और साधन-परायणता के

विना सिद्धि नही होती। इस दृष्टि से असाधन का त्याग ही मूल साधन है। इस मूल साधन मे विकल्प-रहित विश्वास करना अनिवार्य है। निज ज्ञान का आदर करने पर वडी सुगमता से असाधन का अन्त हो सकता है,जो मूल साधन है। निज ज्ञान का आदर करने पर कोई भी साधक अपने को देह नही मान सकता। अपने में से देह-भाव का त्याग होते ही किसी भी कामना की उत्पत्ति सम्भव नही है। इस दृष्टि से मूल दोप की निवृत्ति का साधन एक-मात्र निज ज्ञान के द्वारा अपने मे से देह-भाव का त्याग करना है। अपने मे से देह-भाव का त्याग वर्तमान में हो सकता है। अत. मूल दोष की निवृत्ति वर्तमान जीवन की वस्तु है। उसके लिए भविष्य की आशा करना भूल है।

जो वर्तमान जीवन की वस्तु है उसे वर्तमान मे ही पूरा करना है, और जिसे वर्तमान मे पूरा करना है उसके करने मे साधक सर्वदा स्वाधीन है। परन्तु मूल साधन मे विकल्प रहित विश्वास न होने के कारण वेचारा साधक साधन-निष्ठ होने मे अपने को असमर्थ मान वैठता है, जो वास्तविकता नही हैं। निज विवेक के द्वारा अपने मे से देह-भाव का त्याग मूल साधन है। सभी वस्तुओ से अतीत का जीवन ही साध्य है। इन दोनो मे विकल्प-रहित विश्वास होने पर कामना उत्पत्ति और अपूर्ति (जो मूल दोप तथा दु ख है) की निवृत्ति हो सकती है। मूल दोष तथा दु ख के ज्ञान से साधन और साध्य मे विकल्प-रहित विश्वास स्वतः होता है और साधन तथा साध्य मे विकल्प-रहित विश्वास होने से दोप और दु.ख की निवृत्ति होती है। अत मूल दोप और दु.ख के वास्तविक ज्ञान से तथा साधन और साध्य मे विकल्प-रहित विश्वास होने से चित्त शुद्ध होता है।

५-६-५६

३५

इन्द्रिय-ज्ञान का नाश एवं बुद्धि-ज्ञान का आदर

[आये हुए दु ख को दवाने के प्रयास मे और जाने हुए दोष को बनाये रखने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। दु ख-सुख की दासता से मुक्त करने के लिए अथवा सुख की वास्तविकता का अनुभव कराने के लिए आता है। दु ख जीवन का आवश्यक अङ्ग है।

पर दु ख से दु खी हुए विना कोई भी उदार तथा करुण नही हो सकता और करुणा तथा उदारता मे ही सुख का सद्व्यय सम्भव है।

सुख-भोग की आसक्ति के कारण ही प्राणी आए हुए दु ख को सुख से दवाने का प्रयास करता है और सुख को सुरक्षित वनाये रखने के लिए ही जाने हुए दोष को अपनाता है। सुख-भोग की आसक्ति का मूल कारण अपने मे इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव का अंकित होना है। परन्तु जव वुद्धि-ज्ञान का प्रभाव अङ्कित होने लगता है, तव इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव स्वत मिट जाता है।

इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर की हुई प्रवृत्ति दुराचार-युक्त और वुद्धि-ज्ञान के आधार पर की हुई प्रवृत्ति सदाचार-युक्त होती है।

वुद्धि-ज्ञान के प्रभाव मे कर्त्तव्य का ज्ञान निहित है ज्यो-ज्यो कर्त्तव्य दृढ तथा स्वाभाविक होता जाता है, त्यो-त्यो अकर्त्तव्य का अन्त स्वत होता जाता है। अकर्त्तव्य का अन्त होने पर सयम, सदाचार सेवा स्वत होने लगती है सयम, सदाचार, सेवा की पूर्णता मे सीमित

अहम्भाव स्वत गल जाता है और फिर किसी प्रकार का भय तथा अभाव शेष नही रहता। इस दृष्टि से बुद्धि-ज्ञान का आदर चित्त-शुद्धि का सुगम उपाय है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय

आए हुए दुःख को सुख तथा सुख की आशा से दबाने के प्रयास मे, और जाने हुए दोष को बनाये रखने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। जाने हुए दोष को बनाए रखने मे प्रधान कारण सुख-लोलुपता ही है, क्योकि दोष-जनित सुख से अरुचि होने पर दोष मिटाने का सामर्थ्य स्वत आ जाता है, अथवा यो कहो कि दोष स्वत मिट जाते है। कामना-पूर्ति के अतिरिक्त सुख का और कोई स्वरूप नही है। कामना-पूर्ति मे पराधीनता का दोष सदैव रहता है। इस दृष्टि से समस्त सुख दोष जनित ही है, क्योकि पराधीनता समस्त दोषो की केन्द्र है। अत आए हुए दु ख को सुख तथा सुख की आशा से दबाने तथा मिटाने का प्रयास सर्वदा निरर्थक एवं अहितकर ही सिद्ध होता है, क्योकि सुख नवीन दु ख को जन्म देता है, और प्रत्येक सुख के आरम्भ मे भी किसी-न-किसी प्रकार के दु ख को अपनाना ही पडता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार दु ख, सुख की दासता से मुक्त करने के लिए अथवा सुख की वास्तविकता का अनुभव कराने के लिए आता है। इस दृष्टि से दु ख जीवन का आवश्यक अङ्ग है। उससे भयभीत होना भूल है। दु.ख का सदुपयोग सुख तथा सुख की दासता से मुक्त कर सुख-दु ख से अतीत के जीवन से अभिन्न करने मे समर्थ है। इतना ही नही, सुख के सदुपयोग के लिए भी दु ख ही अपेक्षित है, क्योकि पर-दुःख से दु.खी हुए बिना कोई भी उदार तथा करुण नही हो

सकता और करुणा तथा उदारता मे ही सुख का सद्व्यय सम्भव है, अथवा यो कहो कि सुख का महत्त्व तभी प्रतीत होता है जब किसी दु खी से सम्बन्ध स्थापित किया जाय । यदि दु ख तथा दु खी का दर्शन न हो, तो सुख की प्रतीति ही सम्भव नही है । दु ख का अत्यन्त अभाव होने पर कभी सुख का दर्शन ही नही होता, क्योकि दु ख के अभाव में तो आनन्द है, जीवन है, नित-नूतन अगाध अनन्त रस है । इतना ही नही, सुख प्राणी को जडता तथा पराधीनता मे आबद्ध करता है और आनन्द चिन्मयता तथा स्वाधीनता से अभिन्न करता है । सुख का भास कामना-पूर्त्ति मे और आनन्द मे प्रवेश कामना-निवृत्ति से होता है । सुख अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न करता है और आनन्द सब प्रकार के भेदो का अन्त करता है । सुख, भोग और भोक्ता को जन्म देता है और आनन्द-स्वरूप मे प्रतिष्ठित करता है । सुख सीमित और परिवर्तनशील है और आनन्द असीम तथा अपरि-वर्तनशील है । इस दृष्टि से सुख और आनन्द मे बडा भेद है । पर इस रहस्य को बिना जाने बेचारा प्राणी सुख का दास हो जाता है और आनन्द से निराश हो जाता है, जो चित्त की अशुद्धि मे हेतु है ।

अपने आप आये हुए दु ख को सुख के द्वारा दबाने की रुचि क्यो होती है, और जाने हुए दोष को बनाये रखने का स्वभाव क्यो बन गया है ? सुख-भोग की आसक्ति के कारण ही प्राणी आये हुए दु ख को सुख से दबाने का प्रयास करता है, और सुख को सुरक्षित बनाये रखने के लिए ही जाने हुए दोप को को अपनाता है । सुख-भोग की आसक्ति का मूल कारण अपने मे इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव का अङ्कित होना है । जिसमे इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव अङ्कित है, वह क्या है, इसका स्पष्टीकरण सम्भव नही । परन्तु उसका भास अपने मे ही प्रतीत होता है । अपने

का स्पष्ट अर्थ भी ज्ञात नही है, तभी इन्द्रियों का ज्ञान अङ्कित होता है। परन्तु जब बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव अङ्कित होने लगता है, तब इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव स्वत मिट जाता है, क्योकि ज्ञान मे ज्ञान अङ्कित नही हो सकता, अपितु अल्प-ज्ञान विशेष ज्ञान मे विलीन हो जाता है, अथवा यो कहो कि अल्प-ज्ञान विशेष-ज्ञान से अभिन्न हो जाता है, अथवा यो कहो कि अल्प-ज्ञान मिट जाता है। जिस प्रकार अल्प प्रकाश विशेष प्रकाश मे विलीन हो जाता है, अथवा यो कहो कि जैसे विशेष प्रकाश अल्प प्रकाश को खा लेता है, उसी प्रकार विशेष-ज्ञान अल्प-ज्ञान का नाशक है।

इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव जिसमे अङ्कित होता है वह अपने को भोगी अथवा कामी मान लेता है। पर जब बुद्धि का ज्ञान इन्द्रियो के ज्ञान मे सन्देह उत्पन्न करता है, तब वही कामी अपने को जिज्ञासु मान लेता है। अपने को कामी स्वीकार करते ही कामनाएँ उत्पन्न होती है, जिनकी पूर्ति-अपूर्ति मे सुख-दु ख का भास होता है। परन्तु ज्यो-ज्यो इन्द्रिय-ज्ञान मे सन्देह होता जाता है त्यो-त्यो जिज्ञासा जागृत होती जाती है। जिज्ञासा की जागृति कामनाओ का नाश करने लगती है। जिस काल मे इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिट जाता है, उसी काल मे जिज्ञासा की पूर्ण जागृति हो जाती है और जिज्ञासा की पूर्ण जागृति मे कामनाओ की निवृत्ति हो जाती है। कामनाओ की निवृत्ति होते ही जिसने अपने को कामी स्वीकार किया था, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व प्रतीत नही होता, अपितु जिज्ञासा उससे अभिन्न हो जाती है, जिसकी वह जिज्ञासा थी। जिज्ञासा जिससे अभिन्न होती है, वह कोई वस्तु नही है, अपितु समस्त वस्तुओ से अतीत, अनुपम, विलक्षण तत्त्व है। उसकी प्राप्ति सम्भव है, पर उसका वर्णन सम्भव नही है, कारण कि इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिटते ही बुद्धि का ज्ञान उसी

प्रकार मिट जाता है जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वत मिट जाती है और फिर इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान का भेद शेष नही रहता, अथवा यो कहो कि बुद्धि तथा उसके ज्ञान का महत्व भी नही रहता, क्योकि महत्व उसी का रहता है जिसकी आवश्यकता हो। बुद्धि के ज्ञान की आवश्यकता उसी समय तक रहती है, जिस समय तक इन्द्रियो के ज्ञान का प्रभाव अंकित है, अथवा यो कहो कि जिस प्रकार बुद्धि का ज्ञान इन्द्रियो के ज्ञान के प्रभाव को खा लेता है, उसी प्रकार अनन्त-नित्य-ज्ञान बुद्धि के ज्ञान के प्रभाव को खा लेता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश होते ही समस्त तारा-मण्डल का प्रकाश उसी मे विलीन हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव अनन्त ज्ञान मे विलीन हो जाता है।

परन्तु जब तक इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव सर्वांश मे नाश नही होता, तब तक बुद्धि के ज्ञान का महत्व तथा उसका अस्तित्व भासित होता है। जिस प्रकार काष्ठ से उत्पन्न हुई अग्नि काष्ठ को भस्म कर स्वय शान्त हो जाती है, उसी प्रकार अपने में उत्पन्न हुआ बुद्धि-ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव को खाकर स्वय सम हो जाता है, जिसके होते ही वही ज्ञान अपने आप मे ज्यो-का-त्यो स्थित हो अपने आपको प्रकाशित करता है।

इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान का द्वन्द्व जब तक रहता है, तब तक चित्त शुद्ध नही होता। इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव से बुद्धि-ज्ञान मे शिथिलता भले ही आ जाय, पर बुद्धि-ज्ञान का नाश नही होता और बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव से इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव नष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से इन्द्रिय और बुद्धि के ज्ञान का द्वन्द्व बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव से ही मिट सकता है, इन्द्रिय ज्ञान से नही।

इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर की हुई प्रवृत्ति दुराचार-युक्त और

बुद्धि-ज्ञान के आधार पर की हुई प्रवृत्ति सदाचार-युक्त होती है। यद्यपि अपने प्रति किसी को दुराचार-युक्त प्रवृत्ति अभीष्ट नही, परन्तु इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव से आसक्त प्राणी दूसरों के प्रति दुराचार-युक्त प्रवृत्ति करता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। जो अपने को अभीष्ट है, वही दूसरो के प्रति करने से बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव को खा लेता है और फिर इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान का द्वन्द्व मिट जाता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव मे आसक्त प्राणी सुख का दास हो जाता है और दु ख से भयभीत होने लगता है। सुख की दासता और दु ख का भय चित्त को शुद्ध नही होने देता। यद्यपि बुद्धि का ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान की अपेक्षा कही सबल तथा स्थायी है, परन्तु सुख-लोलुपता के कारण प्राणी बुद्धि-ज्ञान का अनादर करता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह अल्प सुख के लिए घोर दु.ख भोगता है, क्योकि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो सुख की अवधि दु ख की अपेक्षा कही अल्प है, अर्थात् दु ख, सुख की अपेक्षा सवल भी है और चिरायु भी। सुख-दु.ख के इस रहस्य को जान लेने पर सुख का महत्व घट जाता है, जिसके घटते ही इद्रिय-जन्य ज्ञान का प्रभाव स्वत मिट जाता है, अथवा यो कहो कि बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव दृढ हो जाता है, जिसके होते ही जीवन सयम, सदाचार और सेवायुक्त हो जाता है।

बुद्धि-ज्ञान के प्रभाव मे कर्तव्य का ज्ञान निहित है। ज्यो-ज्यो कर्त्तव्य-परायणता दृढ तथा स्वाभाविक होती जाती है, त्यो-त्यो अकर्त्तव्य का अन्त स्वत होता जाता है। अकर्तव्य का अन्त होने पर स्वार्थ-भाव, दुराचार और असयम का अन्त हो जाता है, अथवा यो कहो कि सर्वांश मे सयम, सदाचार और सेवा

स्वत होने लगती है। सयम, सदाचार और सेवा की पूर्णता मे सीमित अहम्भाव स्वत गल जाता है, जिसके गलते ही भेद का नाश हो जाता है और फिर किसी प्रकार का भय तथा अभाव शेष नही रहता, अथवा यो कहो कि अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

सयम, सदाचार और सेवा की अपूर्णता मे ही अहम्भाव प्रतीत होता है, जिससे भेद की उत्पत्ति होती है, क्योकि गुणो के अभिमान के बिना भेद की उत्पत्ति सम्भव नही है। गुण का अभिमान गुणो की अपूर्णता मे ही जीवित रहता है, जो वास्तव मे चित्त की अशुद्धि है। जो गुण देहाभिमान को पुष्ट करता है वह गुणो के वेप मे वास्तव मे दोष है, क्योकि देहाभिमान के रहते हुए सर्वांश मे निर्दोषता सम्भव नही है। इतना ही नही, जो दोष दोष के स्वरूप मे प्रतीत होता है उसकी निवृत्ति सुगमतापूर्वक हो सकती है, किन्तु जो दोष गुण का वेष धारण करके आता है उसका अन्त करना बड़ा ही दुष्कर होता है। इस दृष्टि से गुणो का अभिमान महान दोष है। समस्त गुण स्वरूप से उस अनन्त का स्वभाव हैं, जिससे सभी को सब कुछ प्राप्त होता है और जो सभी का सब कुछ है। सयम, सदाचार और सेवा की पूर्णता मे सयमी, सदाचार और सेवकपन का भाव प्रतीत नही होता क्योकि जिसे अपने मे सयम, सदाचार तथा सेवा प्रतीत होती है, वह वास्तव मे सयमी, सदाचारी तथा सेवक है नही। सर्वांश मे असयम का अन्त सयम के अभिमान को खा लेता है और फिर सदाचार तथा सेवा तो रहती है, पर सदाचारी तथा सेवक नही रहता। सेवक से रहित जो सेवा और सदाचारी से रहित जो सदाचार है, वही वास्तव मे सयम, सदाचार तथा सेवा है। सयम की पराकाष्ठा मे निर्वासना, सदाचार की पराकाष्ठा मे एकता और

सेवा की पराकाष्ठा मे अहिंसा स्वत आ जाती है। अहिंसा,करुणा और प्रेम की, एकता निर्वैरता की और निर्वासना स्वाधीनता की जननी है। स्वाधीनता, निर्वैरता, करुणा और प्रेम मे ही सयम, सदाचार तथा सेवा की पूर्णता है। करुणा तथा प्रेम मे अगाध अनन्त रस निहित है। निर्वैरता तथा स्वाधीनता मे सब प्रकार के भय, भिन्नता एव असमर्थता का अत्यन्त अभाव है। इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव काम उत्पन्न करता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है, और बुद्धिजन्य ज्ञान का प्रभाव जिज्ञासा जागृत कर कामनाओ का अन्त करने मे समर्थ है। कामनाओ का अन्त होते ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति स्वत हो जाती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से बुद्धि-ज्ञान का आदर चित्तशुद्धि का सुगम उपाय है। बुद्धि-ज्ञान का अनादर ही जाना हुआ दोष है, जिसका अन्त किये बिना सुख की आशा मिट नही सकती, और उसके बिना दु खो की अत्यन्त निवृत्ति सम्भव नही है। दु खो की अत्यन्त निवृत्ति से ही स्वाधीनता, निर्भयता एव अगाध, अनन्त रस की प्राप्ति हो सकती है, जो वास्तविक जीवन है। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि के लिए साधक को इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव का अन्त करने के लिए बुद्धि-ज्ञान का आदर करते हुए सर्वदा तत्पर रहना चाहिये, जो वर्तमान जीवन की वस्तु है। इसके लिए भविष्य की आशा करना अथवा उससे निराश होना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नही है।

६–६–५६

३६

आसक्ति की निवृत्ति एवं प्रेम की प्राप्ति

[जो नित्य प्राप्त नही है उसमे आसक्ति होने पर और जो नित्य प्राप्त है उसमे प्रेम न होने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। समस्त स्वीकृतियो को अस्वीकार करने पर आसक्ति की निवृत्ति एव प्रेम की प्राप्ति हो जाती है, जिससे स्वत ही चित्त शुद्ध हो जाता है।]

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

जो नित्य प्राप्त नही है उसमे आसक्ति होने पर और जो नित्य प्राप्त है उसमे प्रेम न होने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार आसक्ति उसी मे होती है जो नित्य प्राप्त नही है, अर्थात् जो सदैव नही रहता। परन्तु यह आसक्ति की विलक्षणता है कि जो वस्तु नित्य प्राप्त नही है उसे प्राप्त जैसा भासित कराती है और नित्य प्राप्त के प्रेम को आच्छादित कर देती है। उसका परिणाम यह होता है कि जिससे देश-काल की दूरी नही है,वह अप्राप्त प्रतीत होता है और जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता है,वह प्राप्त जैसा प्रतीत होता है। उस प्रतीति मात्र को ही बेचारा प्राणी प्राप्ति मान लेता है। यद्यपि प्रतीति मे सतत परिवर्तन है परन्तु परिवर्तन पर दृष्टि ही नही रहती। इतना ही नही,प्रत्येक सयोग सतत वियोग मे बदल रहा है, किंतु

सयोग की दासता सवल तथा स्थायी होती जा रही है। जिसका वियोग अनिवार्य है, उसके सयोग की रुचि वनाए रखना चित्त को अशुद्ध ही करना है।

आसक्ति उसी मे होती है, जिसकी वास्तविक सत्ता न होने पर भी प्रतीति हो, अर्थात् जो वस्तु है नही पर प्रतीत होती है, उसी मे प्राणी आसक्त हो जाता है। जो है नही, उसकी प्रतीति का कारण क्या है ? इस प्रश्न की उत्पत्ति जिसमे है वह स्वय अपने को मानता है ? अथवा यो कहो कि प्रश्न का उद्गम स्थान क्या है ? किसी भी प्रश्नकर्ता मे उसी समय तक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, जिस समय तक वह अपने सम्बन्ध मे निस्सन्देह नही हो जाता है। जिसे अपने सम्बन्ध मे ही सन्देह है, उसे किसी पर भी सन्देह हो सकता है, अथवा जो अपने को किसी मान्यता मे आवद्ध कर सकता है, वह किसी मे भी किसी भी मान्यता की स्थापना कर सकता है, अर्थात् जिसे अपने सम्वन्ध मे सन्देह होता है उसे ही दूसरो के सम्बन्ध मे सन्देह होना है। जो अपने को कुछ मान लेता है, वही दूसरे को भी कुछ मान लेता है। इस दृष्टि से जब तक प्रश्नकर्ता अपने सबध मे निस्सन्देह नही हो जायगा, तव तक किसी भी वास्तविकता को नही जान सकता। जो प्रतीत हो रहा है यदि वह है, तो उसकी प्राप्ति क्यो नही होती ? अर्थात् उससे एकता क्यो नही होती ? यह नियम है कि प्राप्ति-काल मे प्रयत्न नही रहता, किन्तु जो प्रतीत हो रहा है उसकी ओर सतत प्रवृत्ति होती है। परिणाम मे अभाव के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नही होता। यदि प्रतीति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती। प्रवृत्ति-जनित सुख-दुःख को ही यदि प्राप्ति मान लिया जाय तो फिर अप्राप्ति किसे मानेगे ? प्रवृत्ति मे सुख का भास भी तव होता है, जव प्रवृत्ति की रुचि हो और परिणाम

मे सुख की आशा हो, अर्थात् रुचि और आशा के आधार पर प्रवृत्ति सुखद भासती है, और रुचि और आशा का जन्म प्रतीति को सत्य मान लेने से होता है। जिसकी सत्यता प्राप्ति से पूर्व स्वीकार कर ली उसको रुचि तथा उससे सुख की आशा उत्पन्न हो जाती है,जो प्रतीति से सम्बन्ध जोड देती है। उसका परिणाम यह होता है कि प्रतीति मे ममता हो जाती है, ममता से प्रियता उत्पन्न होती है और प्रियता आसक्ति को जन्म देती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

इन्द्रियो ने विषयो की, मन से इन्द्रियो की, बुद्धि से मन की और निज ज्ञान से बुद्धि की प्रतीति होती है। जिस ज्ञान से बुद्धि की प्रतीति होती है क्या उस ज्ञान को बुद्धि की आवश्यकता है ? कदापि नही, क्योंकि जो नित्य ज्ञान है उसे बुद्धि के परिवर्तनशील ज्ञान की क्या आवश्यकता होगी ?

जो बुद्धि का ज्ञाता है,क्या उसे अपनी पूर्ति के लिए शरीर इन्द्रिय,मन,बुद्धि आदि किसी भी वस्तु की अपेक्षा है ? यदि नही है,तो उसने बुद्धि, मन आदि से सम्बन्ध क्यों स्थापित किया ? और यदि है तो क्यो है ? क्या प्रश्नकर्त्ता स्वय अपने को बुद्धि का ज्ञाता स्वीकार करता है ? अथवा अपने को शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि मानता है ? अथवा ज्ञाता और शरीर से विलक्षण कुछ और अपने को मानता है ? प्रश्नकर्त्ता को अपने सम्बन्ध मे भी कोई न कोई निर्णय देना होगा। शरीर को मैं मान नही सकता और अपने को ज्ञाता मान कर शरीर से सम्बन्ध जोड नही सकता। शरीर,इन्द्रिय,मन्,बुद्धि आदि से सम्बन्ध जोड़े बिना प्रतीति की चर्चा कर नही सकता। यदि प्रतीति की चर्चा करता है तो स्वय प्रतीति से तद्रूप हो जाता है। जो नही है,उससे तद्रूप होकर उसको जान नही सकता और जो है, उससे भिन्न होकर उसको जान नही सकता,अर्थात् 'है'से अभिन्न होकर 'है' को प्राप्त

विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व मिट जाता है और फिर वह अपने को भोगी नही मानता। ज्यो-ज्यो साधक कामना-पूर्ति के प्रलोभन से मुक्त होता जाता है, त्यो-त्यो कामना-निवृत्ति की सामर्थ्य स्वत आती जाती है, क्योकि कामना-पूर्ति के सुख की दासता ही नवीन कामना को उत्पन्न करती है। कामना-पूर्ति के सुख की दासना का अत्यन्त अभाव होते ही नवीन कामनाओ की उत्पत्ति नही होती और कामना-पूर्ति के सुख की आसक्ति भी नही रहती, जिसके मिटते ही कामना-निवृत्ति की शान्ति स्वत प्राप्त होती है। यदि साधक कामना-निवृत्ति की शान्ति मे रमण न करे, तो बडी ही सुगमता-पूर्वक शाति से अतीत जो चिन्मय, स्वाधीन साम्राज्य है, उससे अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते योग की पूर्णता हो जाती है। योग की पूर्णता से ही ज्ञान तथा प्रेम के साम्राज्य मे प्रवेश हो जाता है, अथवा यो कहो कि कामनाओ की निवृत्ति मे ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति निहित है। इस दृष्टि से कामना-निवृत्ति योग से और योग ज्ञान तथा प्रेम से अभिन्न कर देता है। परन्तु जो अप्राप्त है उसमे प्राप्त-बुद्धि और जो प्राप्त है उसमे अप्राप्त बुद्धि होने से भोग का अन्त और योग, ज्ञान तथा प्रेम से एकता हो नही पाती। देह-भाव की स्वीकृति है, उससे एकता नही है, परन्तु स्वीकृति मे ही अहम्-बुद्धि होने से भिन्नता होने पर भी एकता प्रतीत होने लगती है। उसी का परिणाम यह होता है कि जिस देहातीत, अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से एकता है, अर्थात् जो प्राप्त है, उसकी अप्राप्ति प्रतीत होती है। जिससे एकता नही है उसमे आसक्ति हो गई, और जिसकी प्राप्ति है उससे प्रेम नही हुआ। यद्यपि प्राकृतिक नियम के अनुसार जिससे भिन्नता है उससे अनासक्ति होनी चाहिए और जो नित्य प्राप्त है उससे प्रेम होना चाहिए, परन्तु अप्राप्त को

प्राप्त मान लेने से और नित्य-प्राप्त को अप्राप्त मानने से जो होना चाहिए वह नही हुआ, जिससे चित्त अशुद्ध हो गया। जो होना चाहिए उसके न होने का एकमात्र कारण स्वीकृति मे अहम्-बुद्धि के अतिरिक्त और कुछ नही है। स्वीकृति केवल अस्वीकृति से ही मिट सकती है, वह किसी और प्रकार से नही मिटाई जा सकती। अत 'देह मैं नही हूँ' इतने मात्र से ही देह से सम्बन्ध विच्छेद हो सकता है, जिसके होते ही काम का अन्त हो जायगा और नित्य-प्राप्त का प्रेम स्वत जागृत होगा।

देह से प्राप्ति की स्वीकृतिमात्र मे ही, जो देह से अतीत है, उसकी अप्राप्ति प्रतीत होती है, अथवा यो कहो कि विश्व की प्राप्ति की स्वीकृतिमात्र से ही, जो विश्व का आधार है एव जिससे समस्त विश्व प्रकाशित है, उसकी अप्राप्ति प्रतीत होती है। जिसके किसी अश-मात्र मे समस्त विश्व प्रतीत हो रहा है, उस अनन्त की अप्राप्ति का भास केवल विश्व की प्राप्ति की स्वीकृति मे ही है।

शरीर मे ममता की प्राप्ति भी अपने को शरीर मानने पर ही होती है। बुद्धि द्वारा जानते हैं, मन के द्वारा विश्वास करते हैं और वाणी के द्वारा वर्णन करते हैं कि शरीर मेरा है। बुद्धि मन, वाणी भी तो शरीर ही है। शरीर से भिन्न वाणी, बुद्धि, आदि का कोई अस्तित्व नही है, क्योकि स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर भी तो शरीर ही है। तीनो शरीरों से असग होकर किसी ने भी शरीर की ममता को नही जाना। इतना ही नही, शरीर और विश्व मे विभाजन किसी भी प्रकार सम्भव नही है। इस दृष्टि से शरीर और विश्व मे स्वरूप की एकता है, अर्थात् जिस धातु से विश्व निर्मित है उसी धातु से शरीर भी निर्मित है। जो विश्व का प्रकाशन तथा आधार है वही शरीर का भी प्रकाशक है। विश्व किसी और की सम्पत्ति हो और शरीर किसी

करता है और जो नही है,उससे असग होकर उसकी वास्तविकता को जान सकता है। अत प्रतीति की वास्तविकता को जानने के लिए प्रतीतिसे असग होना अनिवार्य है। प्रतीति मे असग होते ही प्रतीति का अभाव स्वत हो जाता है और फिर यह प्रश्न ही शेष नही रहता कि न होने पर प्रतीति क्यो होती है। बुद्धि और ज्ञाता के मध्यमे जो अपने आप की स्वीकृति है,जिस स्वीकृति को अनेक मान्यताओं मे आवद्धकर लिया है वह न प्रतीति है और न ज्ञाता, अथवा यो कहो कि स्वीकृति मे सत्यता उसी समय तक रहती है जिस समय तक उसको स्वीकार किया है। इस दृष्टि से अपने-अपने सम्वन्ध मे जिस-जिसने जो-जो स्वीकृति विकल्प-रहित रूप से स्वीकार कर ली है वह स्वीकृति स्वय अपना एक अस्तित्व मान लेती है और स्वीकृति के अनुसार ही कोई-न-कोई कामना उत्पन्न हो जाती है। कामना की पूर्ति के लिए ही शरीर, इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि से सम्वन्ध दृढ हो जाता है और कामना-निवृत्ति के लिए ही प्रतीति से अतीत किसी नित्य प्राप्त की सत्ता सिद्ध होती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि कामना-पूर्ति का रोग जव तक है, तव तक प्रतीति की ओर गति है। परिणाम मे भले ही अभाव हो, पर कामना-पूर्ति का प्रलोभन प्रतीति की ओर गतिशील करता रहता है। कामना-पूर्ति का प्रलोभन सर्व के ज्ञाता मे हो नही सकता, क्योकि जो सर्व का ज्ञाता है उसमे काम है ही नही और जिन साधनो से कामना की पूर्ति होती है उन साधनो मे भी कामना-पूर्ति का प्रलोभन नही हो सकता। कामना पूर्ति का प्रलोभन जिसमें है, वह न ज्ञाता है और न शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि कोई वस्तु, वस्तु से सम्वन्ध जोडकर भले ही वस्तु-जैसा प्रतीत हो और कामना-अपूर्ति के दुख से दुखी होकर

भले ही उसमे कामना-निवृत्ति की जिज्ञासा जागृत हो ।

जो कामना-पूर्ति-अपूर्ति से सुखी-दु खी होता है और जिसमे कामना-निवृत्ति की जिज्ञासा होती है, उसी मे समस्त प्रश्न उत्पन्न होते हैं । कामना-निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति होने पर समस्त आसक्तिया स्वत गल जाती हैं, जिनके गलते ही, जो नित्य प्राप्त है उससे प्रेम स्वत हो जाता है, जिससे चित्त की अशुद्धि मिट जाती है ।

जो अपने को कामी मानता है, वही अपने को जिज्ञासु तथा प्रेमी भी मानता है । परन्तु जब तक कामना-पूर्ति का प्रलोभन है, तभी तक वह कामी है और जब तक कामी हैं तभी तक आसक्तियो मे आबद्ध है । बेचारा आसक्त प्राणी जिस वस्तु मे आसक्त हो जाता है, उसके दोष नही जान पाता । जिसके दोष का ज्ञान नही होता, उससे निवृत्ति नही होती । इस कारण आसक्ति रहते हुए दोष-युक्त वस्तुओ से सम्बन्ध बना ही रहता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है ।

अपने मे देह-भाव की स्वीकृति दृढ होने पर ही काम की उत्पत्ति होती है और काम की उत्पत्ति होने पर ही कामनाएँ उत्पन्न होती हैं । कामना-पूर्ति मे पराधीनता, जडता आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते है और कामना-उत्पत्ति का प्रवाह चलने लगता है, जिससे कामना-अपूर्ति-काल मे दु ख और पूर्ति-काल मे पराधीनता की वेदना उत्पन्न होती है । जब उत्पन्न हुई वेदना सहन नही होती, तब साधक मे कामना-निवृत्ति की लालसा उदित होती है, जो कामना-पूर्ति के सुख की दासता से मुक्त कर कामना-निवृत्ति के साम्राज्य मे प्रवेश करा देती है, जिसके होते ही जो अपने को कामी, अर्थात् भोगी मानता था, वही अपने को योगी मान लेता है, क्योकि कामना। निवृत्त होने पर देह से सम्बन्ध

विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व मिट जाता है और फिर वह अपने को भोगी नही मानता । ज्यो-ज्यो साधक कामना-पूर्ति के प्रलोभन से मुक्त होता जाता है, त्यो-त्यो कामना-निवृत्ति की सामर्थ्य स्वत आती जाती है, क्योकि कामना-पूर्ति के सुख की दासता ही नवीन कामना को उत्पन्न करती है । कामना-पूर्ति के सुख की दासता का अत्यन्त अभाव होते ही नवीन कामनाओ की उत्पत्ति नही होती और कामना-पूर्ति के सुख की आसक्ति भी नही रहती, जिसके मिटते ही कामना-निवृत्ति की शान्ति स्वत प्राप्त होती है । यदि साधक कामना-निवृत्ति की शान्ति मे रमण न करे, तो बडी ही सुगमता-पूर्वक शाति से अतीत जो चिन्मय, स्वाधीन साम्राज्य है, उससे अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते योग की पूर्णता हो जाती है । योग की पूर्णता से ही ज्ञान तथा प्रेम के साम्राज्य मे प्रवेश हो जाता है, अथवा यो कहो कि कामनाओ की निवृत्ति मे ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति निहित है । इस दृष्टि से कामना-निवृत्ति योग से और योग ज्ञान तथा प्रेम से अभिन्न कर देता है । परन्तु जो अप्राप्त है उसमे प्राप्त-बुद्धि और जो प्राप्त है उसमे अप्राप्त बुद्धि होने से भोग का अन्त और योग, ज्ञान तथा प्रेम से एकता हो नही पाती । देह-भाव की स्वीकृति है, उससे एकता नही है, परन्तु स्वीकृति मे ही अहम्-बुद्धि होने से भिन्नता होने पर भी एकता प्रतीत होने लगती है । उसी का परिणाम यह होता है कि जिस देहातीत, अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से एकता है, अर्थात् जो प्राप्त है, उसकी अप्राप्ति प्रतीत होती है । जिससे एकता नही है उसमे आसक्ति हो गई, और जिसकी प्राप्ति है उससे प्रेम नही हुआ । यद्यपि प्राकृतिक नियम के अनुसार जिससे भिन्नता है उससे अनासक्ति होनी चाहिए और जो नित्य प्राप्त है उससे प्रेम होना चाहिए, परन्तु अप्राप्त को

प्राप्त मान लेने से और नित्य-प्राप्त को अप्राप्त मानने से जो होना चाहिए वह नही हुआ, जिससे चित्त अशुद्ध हो गया। जो होना चाहिए उसके न होने का एकमात्र कारण स्वीकृति मे अहम्-बुद्धि के अतिरिक्त और कुछ नही है। स्वीकृति केवल अस्वीकृति से ही मिट सकती है, वह किसी और प्रकार से नही मिटाई जा सकती। अत 'देह मैं नही हूँ' इतने मात्र से ही देह से सम्बन्ध विच्छेद हो सकता है, जिसके होते ही काम का अन्त हो जायगा और नित्य-प्राप्त का प्रेम स्वत जागृत होगा।

देह से प्राप्ति की स्वीकृतिमात्र मे ही, जो देह से अतीत है, उसकी अप्राप्ति प्रतीत होती है, अथवा यो कहो कि विश्व की प्राप्ति की स्वीकृतिमात्र से ही, जो विश्व का आधार है एव जिससे समस्त विश्व प्रकाशित है, उसकी अप्राप्ति प्रतीत होती है। जिसके किसी अश-मात्र मे समस्त विश्व प्रतीत हो रहा है, उस अनन्त की अप्राप्ति का भास केवल विश्व की प्राप्ति की स्वीकृति मे ही है।

शरीर मे ममता की प्राप्ति भी अपने को शरीर मानने पर ही होती है। बुद्धि द्वारा जानते है, मन के द्वारा विश्वास करते है और वाणी के द्वारा वर्णन करते हैं कि शरीर मेरा है। बुद्धि मन, वाणी भी तो शरीर ही है। शरीर से भिन्न वाणी, बुद्धि, आदि का कोई अस्तित्व नही है, क्योकि स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर भी तो शरीर ही है। तीनो शरीरो से असग होकर किसी ने भी शरीर की ममता को नही जाना। इतना ही नही, शरीर और विश्व मे विभाजन किसी भी प्रकार सम्भव नही है। इस दृष्टि से शरीर और विश्व मे स्वरूप की एकता है, अर्थात् जिस धातु से विश्व निर्मित है उसी धातु से शरीर भी निर्मित है। जो विश्व का प्रकाशन तथा आधार है वही शरीर का भी प्रकाशक है। विश्व किसी और की सम्पत्ति हो और शरीर किसी

और की, यह युक्ति-युक्त सिद्धि नही है। शरीर और विश्व किसी एक ही की वस्तु है। इस दृष्टि से किसी भी वस्तु को अपना मानना, अथवा अपने को कोई वस्तु मानना, सर्वदा विवेकहीनता है। समस्त वस्तुओ की ममता से रहित हो जाने पर और सभी वस्तुओ से असंग हो जाने पर अहम् और मम का सदा के लिए अन्त हो जाता है, जिसके होते ही सब प्रकार के भेद स्वत मिट जाते है, जिनके मिटते ही चित्त स्वत· शुद्ध हो जाता है।

अपने को देह आदि किसी-न-किसी स्वीकृति मे आवद्ध कर लेने से ही समस्त प्रवृत्तियो का आरम्भ होता है। प्रवृत्ति साधन भी है और असाधन भी। अपने को व्यक्ति मान लेने पर समाज की सेवा करना साधनरूप प्रवृत्ति है, और समाज से स्वार्थ-सिद्धि करना असाधनरूप प्रवृत्ति है। अपने को प्रेमी मानकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करना साधन, और प्रेमास्पद से कुछ भी मागना असाधन है। समस्त आसक्तियाँ स्वार्थभाव से उत्पन्न होती है। सेवाभाव स्वार्थभाव का अन्त कर अनासक्ति प्रदान करता है, अथवा यो कहो कि साधन-रूप प्रवृत्ति अनासक्ति प्रदान करती है, और असाधनरूप प्रवृत्ति आसक्ति उत्पन्न करती है। अनासक्ति आसक्ति को खाकर स्वत मिट जाती है, जिसके मिटते ही प्रेम का उदय होता है। समस्त स्वीकृतियो को अस्वीकार करने पर निर्वासना अपने आप आ जाती है, जिसके आते ही जो है नही, उसकी निवृत्ति हो जाती है और जो है, उसकी प्राप्ति हो जाती है, अथवा यो कहो कि जो है नही, उसकी आसक्ति मिट जाती है और जो है, उससे प्रेम हो जाता है।

आसक्ति, अनासक्ति और प्रेम इन तीनो मे भेद है। आसक्ति वस्तुओ की दासता मे आवद्ध करती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अनासक्ति वस्तुओ की दासता से मुक्त कर स्वाधीनता

तथा उदासीनता प्रदान करती है। इस दृष्टि से अनासक्ति आसक्ति की अपेक्षा बडे ही महत्व की वस्तु है, परन्तु प्रेम आसक्ति-अनासक्ति दोनो से विलक्षण है। प्रेम पूर्ति-निवृत्ति, पराधीनता तथा स्वाधीनता से परे अलौकिक चिन्मय तत्त्व है। प्रेम के साम्राज्य मे प्रेम का ही आदान-प्रदान है, जो रसरूप है। प्रवृत्ति निवृत्ति मे,भोग योग मे, स्वार्थ सेवा मे परिवर्तित हो जाने पर आसक्ति मिट जाती है और जिसके मिटते ही जो नित्य-प्राप्त है, उससे प्रेम स्वत हो जाता है, प्रेम श्रम-रहित, स्वाभाविक स्वत सिद्ध तत्त्व है।

निवृत्ति स्वाधीनता, योग सामर्थ्य और सेवा करुणा तथा उदारता प्रदान करती है। आसक्ति का अभाव तथा प्रेम का उदय हो जाने पर निवृत्ति, योग तथा सेवा तीनो मे एकता हो जाती है, अथवा यो कहो कि स्वाधीनता, सामर्थ्य, करुणा और उदारता सभी दिव्य गुण प्रेम मे विलीन हो जाते हैं, क्योकि प्रेम की प्राप्ति मे ही जीवन की पूर्णता तथा लक्ष्य की प्राप्ति निहित है। स्वीकृतियो मे अहम्बुद्धि का अन्त होते ही सभी दोष स्वत मिट जाते है और फिर साधनरूप स्वीकृति के अनुरूप कर्तव्य-निष्ठ होकर प्राणी आसक्ति-रहित हो जाता है। आसक्ति-रहित होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति अभिनय के रूप मे, कर्तृत्व के अभिमान तथा फल की आशा से रहित, प्रेमास्पद की प्रसन्नतार्थ स्वत. होने लगती है, अथवा यो कहो कि प्रत्येक प्रवृत्ति प्रीति होकर प्रीतम को रस प्रदान करती है। चित्त की अशुद्धि से ही प्राणी प्रेम से, विमुख हुआ है, अत 'अहम्' और 'मम' का अन्त कर चित्त शुद्ध कर प्रेम को प्राप्त कर लेना चाहिए।

७—६—५६

३७

सुख-भोग की आशा का त्याग

[शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि वस्तुओ की मत्ता स्वीकार करने मे उनसे ममता हो जाती है, जिससे काम की उत्पत्ति होती है । काम की भूमि मे ही अनेक कामनाओ का जन्म होता है, जिनकी पूर्ति के लिये वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदि से सम्वन्व हो जाता है । सम्वन्व होते ही समस्त दोष स्वत उत्पन्न होने लगते हैं, जो चित्त को अशुद्ध कर देते हैं ।

जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नही है उसकी सेवा की जा सकती है, उससे ममता करना अथवा उससे सुख की आशा करना भूल है । सेवा-भाव ज्यो- ज्यो सवल तथा स्थायी होता जाता है, त्यो-त्यो स्वार्थ- भाव स्वत मिटता जाता है, सुख-भोग की रुचि का अन्त हो जाता तथा अहम् और मम का नाश हो जाता है ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

प्राणी जिसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है, उससे सुख की आशा करने से उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है। चित्त की अशुद्धि किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से नही होती, अपितु अशुद्धि होती है जव प्राणी वस्तु, व्यक्ति आदि से सुख की आशा करने

अथवा वस्तुओ का भोग करने लगता है। इस दृष्टि से सुख की आशा तथा सुख के भोग मे ही चित्त की अशुद्धि निहित है।

जिन वस्तुओं से सुख की आशा करते हैं, क्या उनसे प्राणी का नित्य-सम्बन्ध है ? अथवा जिन व्यक्तियों से सुख की आशा करते हैं, क्या वे स्वयं दु खी नही है ? अथवा जिस परिस्थिति को सुखद मानते हैं, क्या उसमे किसी प्रकार का अभाव नही है? अथवा जिस अवस्था मे सुख का भास होता है, क्या उसमे परिवर्तन नही है ? किसी भी वस्तु से नित्य-सम्बन्ध सम्भव नही है। कोई भी व्यक्ति दु ख से रहित नही है। प्रत्येक परिस्थिति अभाव-युक्त है और प्रत्येक अवस्था मे परिवर्तन है। तो फिर उनसे सुख की आशा करना प्रमाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ? प्रमाद उसे नही कहते, जिसे प्राणी जानता नही। जाने हुए को भूल जाना, अथवा उसका आदर न करना ही प्रमाद है, जो स्वय प्राणी ने बनाया है। इस बनाए हुए दोष से ही चित्त अशुद्ध हो गया है। उसका परिणाम यह हुआ है कि जो वस्तुए उत्पत्ति-विनाश-युक्त हैं, पर-प्रकाश्य है, उनमे सत्यता और सुन्दरता प्रतीत होने लगी है, और बेचारा प्राणी उनकी दासता मे आबद्ध हो गया है। वस्तुओ की दासता ने प्राणी मे लोभ जैसे भयकर दोष की उत्पत्ति कर दी है। प्राकृतिक नियम के अनुसार लोभ ही दरिद्रता का मूल है। इतना ही नही, लोभ से ही प्राणी जड़ता मे आवद्ध हो, चिन्मय जीवन से विमुख हो जाता है।

व्यक्तियो से सुख की आशा करने का परिणाम यह हुआ है कि बेचारा प्राणी सयोग की दासता और वियोग के भय मे आबद्ध हो गया है। यद्यपि प्रत्येक सयोग निरन्तर वियोग मे बदल रहा है, परन्तु सुख की आशा सयोग-काल मे वियोग का दर्शन नही करने देती, जिससे बेचारा प्राणी मोह मे आबद्ध होकर अमरत्व

से विमुख हो गया है। इतना ही नही, जिन व्यक्तियो से प्राणी सुख की आशा करता है वे व्यक्ति भी स्वय उससे सुख की आशा करने लगते हैं, अथवा यो कहो कि दो दु:खी परस्पर मे एक दूसरे के मोह मे आबद्ध हो जाते हैं।

प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही अपूर्ण है। जो अपूर्ण है उसे सुखद स्वीकार करना अपूर्णता में आबद्ध हो जाना है, जिससे वेचारा प्राणी परिस्थितियों से अतीत जो वास्तविक पूर्ण जीवन है, उससे विमुख हो जाता है।

प्रत्येक अवस्था स्वभाव से ही सीमित तथा परिवर्तनशील है। उससे सुख की आशा करते ही प्राणी परिच्छिन्नता मे आवद्ध हो जाता है,अथवा यो कहो कि अनन्त से विमुख हो जाता है। इस दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति किसी से भी सुख की आशा करना, अथवा उसमे जीवन-बुद्धि स्वीकार करना, अथवा उनके आधार पर अपना महत्त्व आकना अपने को वास्तविकता से दूर करना है और अनेक प्रकार के अभाव मे आबद्ध हो जाना है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

सुख-भोग तथा सुख की आशा मे आबद्ध प्राणी का चित्त न तो स्वस्थ ही हो सकता है और न शान्त एव शुद्ध ही। चित्त के स्वस्थ हुए बिना कभी प्राणी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नही कर सकता,चित्त की शाति के बिना आवश्यक सामर्थ्य का विकास नही हो सकता और चित्त की शुद्धि के विना पवित्र भाव का प्रादुर्भाव नही होता। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग किए बिना न तो उत्कृष्ट परिस्थिति ही प्राप्त होती है और न परिस्थितियो से अतीत के जीवन मे प्रवेश ही हो सकता है। आवश्यक सामर्थ्य के विना न तो स्वाधीनता ही प्राप्त होती है और न प्राणी सीमित सामर्थ्य के मिथ्या अभिमान से ही मुक्त हो पाता है। पवित्र भाव

के विना न तो कर्म मे शुद्धि ही आती है और न हृदय मे सरसता एव प्रीति का ही सचार होता है ।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि वस्तुओ की सत्ता स्वीकार करने पर उनसे ममता हो जाती है, अथवा यो कहो कि उनमे ही अहम्-बुद्धि बन जाती है, जिससे काम की उत्पत्ति होती है और काम की भूमि मे ही अनेक कामनाओ का जन्म होता है, जिनकी पूर्ति के लिए वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदि से सम्वन्ध हो जाता है। सम्बन्ध होते ही समस्त दोष स्वत उत्पन्न होने लगते हैं, जो चित्त को अशुद्ध कर देते हैं। यह नियम है कि जिन वस्तुओ, व्यक्तियो आदि से केवल मानी हुई एकता है, जातीय तथा स्वरूप की नही, उनसे नित्य-सम्बन्ध हो नही सकता। जिनसे नित्य-सम्बन्ध हो नही सकता, उनकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नही होती। जिनकी स्वतन्त्र सत्ता नही है, उससे सम्बन्ध स्वीकार करना केवल चित्त को अशुद्ध ही करना है। अत. वस्तुओ के सदुपयोग तथा व्यक्ति की सेवा के द्वारा उनसे सम्बन्ध-विच्छेद करना अनिवार्य है, क्योकि उसके बिना लोभ-मोह आदि दोषो की निवृत्ति सम्भव नही है। लोभ-मोह आदि दोषो का अन्त हुए बिना न तो वस्तुओ का सदुपयोग ही हो सकता है, और न व्यक्तियो की सेवा ही हो सकती है। वस्तुओ के सदुपयोग के बिना प्राणी उनकी दासता से न तो मुक्त हो सकता है और न जडता से ही ऊपर उठ-सकता है। व्यक्तियो की सेवा के बिना परस्पर मे स्नेह की एकता सम्भव नही है, स्नेह की एकता के बिना पारस्परिक सघर्ष मिट सकते, सघर्षो का अन्त हुए बिना निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणो की अभिव्यक्ति नही हो सकती और दिव्य गुणो की अभिव्यक्ति हुए बिना चित्त शुद्ध,शात तथा स्वस्थ नही हो सकता।

शरीर का अस्तित्व सृष्टि से भिन्न नही है। जिस प्रकार समुद्र की कोई भी लहर समुद्र से भिन्न नही होती, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु सृष्टि से अभिन्न है, अथवा यो कहो कि शरीर और ससार मे भेद और भिन्नता केवल प्रतीति-मात्र है, वास्तविक नहीं ! इस दृष्टि से किसी भी वस्तु की स्वीकृति समस्त सृष्टि की स्वीकृति है और सृष्टि की स्वीकृति में ही वस्तु की स्वीकृति है। वस्तु और सृष्टि का विभाजन नही हो सकता, अत वस्तु के ज्ञान मे ही सृष्टि का ज्ञान निहित है। भिन्न-भिन्न वस्तुओ के गुणो मे भले ही भेद हो, पर सारी सृष्टि किसी एक ही धातु से निर्मित है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक उत्पत्ति के मूल मे किसी अनुत्पन्न तत्व का होना अनिवार्य है, क्योकि उत्पत्ति किसी से होगी, बिना आधार के उत्पत्ति हो ही नही सकती। इस दृष्टि से उत्पत्ति-विनाश के ज्ञान मे अनुत्पन्न तत्व की स्वीकृति स्वत – सिद्ध है। यद्यपि जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है उसमे सत्ता उसी की होती है जिससे उसकी उत्पत्ति हुई है, परन्तु प्रतीति उसकी होती है जो उत्पन्न हुआ है और जो अनुत्पन्न तत्व है उसकी प्रतीति नही होती। उत्पन्न हुई वस्तु अपने को अपने आप प्रकाशित नही करती, अपितु उसी से प्रकाशित होती है जिससे वह उत्पन्न हुई है। इस दृष्टि से समस्त सृष्टि का जो प्रकाशक है उसी से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, अथवा यो कहो कि सृष्टि मे सत्ता उसी की है जिससे वह प्रकाशित है, क्योकि पर-प्रकाश्य वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व हो ही नही सकता। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करना, उससे सुख की आशा करना और उसमे जीवन-बुद्धि स्वीकार करना व उससे ममता करना चित्त को अशुद्ध करने के अतिरिक्त और कुछ नही है।

जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नही है उसकी सेवा की जा सकती है, उससे ममता करना अथवा उससे सुख की आशा करना भूल है। सेवा-भाव ज्यो-ज्यो सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यो-त्यो स्वार्थ-भाव स्वत मिटता जाता है। स्वार्थ-भाव का अन्त होते ही सुख-भोग तथा सुख की आशा सदा के लिए मिट जाती है और फिर चित्त शुद्ध हो जाता है। सेवा भाव है, कर्म नही। इस दृष्टि से छोटी बडी सेवा समान अर्थ रखती है। सेवा का स्वरूप है—प्राप्त सुख किसी दु खी की भेट कर देना, और उसके बदले मे सेवक कहलाने तक की भी आशा न करना। सेवक कहलाने की लालसा भी स्वार्थ ही है। स्वार्थ-भाव के रहते हुए बडी-से-बडी सेवा भी सेवा नही है। स्वार्थ-भाव गलने पर ही सेवा सम्भव है। सेवा सुख-भोग की आसक्ति को खोकर सेवक के हृदय को करुणा तथा उदारता से भरपूर कर देती है। उदारता सग्रह को और करुणा शुष्कता एव कटुता को खाकर सेवक को अपरिग्रही तथा द्रवीभूत बना देती है, जिसके होते ही सेवा पूजा तथा प्रेम मे परिवर्तित हो जाती है।

सेवा उसी अश मे हो सकती है, जिस अश मे सेवक सुखी है, क्योकि सेवा सुखी का साधन है, अथवा यो कहो कि जिसका हृदय पराए दु ख से भरा रहे, वही सेवा कर सकता है, क्योकि सेवा सुख देकर दु ख लेने का पाठ पढाती है। पराया दु ख अपना हो जाने पर प्राणी दु खी नही रहता, क्योकि पर-दु ख से दु खी होने मे जिस रस की निष्पत्ति होती है उसकी समानता किसी भी सुख-भोग मे नही है। सुख-भोग से तो चित्त अशुद्ध ही होता है, पर उस रस से चित्त शुद्ध हो जाता है।

सेवा की पूर्णता मे पूजा का उदय अपने आप होता है। कारण कि सुखाशक्ति का अत्यन्त अभाव होने पर राग-द्वेष मिट

जाता है, जिसके मिटते ही त्याग तथा प्रेम स्वतः आ जाता है। त्याग के आते ही निरभिमानता एवं समर्पण-भाव स्वत: जागृत होता है। निरभिमानता तथा समर्पण-भाव ही वास्तविक पूजा है। पूजा की पूर्णता मे प्रेम का उदय है।

प्रेम के साम्राज्य मे प्रेम तथा प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता ही शेप नही रहती। इतना ही नही, प्रेमी और प्रेमास्पद का भेद भी स्वत गल जाता है, क्योकि प्रेम मे प्रेम का ही आदान-प्रदान है। इस कारण प्रेमी प्रेमास्पद और प्रेमास्पद प्रेमी हो जाता है, अथवा यों कहो कि कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद इसका भास ही नही रहता, प्रेम क्षति, पूर्ति तथा निवृत्ति से रहित है। निवृत्ति काम की होती है प्रेम की नही, पूर्ति जिज्ञासा की होती है प्रेम की नही, और क्षति सुख-भोग की होती है प्रेम की नही। प्रेम की तो उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है। प्रेम स्व-भाव से ही रसरूप है तथा अगाध और अनन्त है, इस कारण अनिर्वचनीय तत्व है।

सुख-भोग तथा सुख की आशा का अन्त करने के लिए प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता तथा वस्तुओ के द्वारा विश्व की सेवा अनि-वार्य है, क्योकि उसका अन्त हुए बिना चित्त शुद्ध नही हो सकता चित्त की शुद्धि मे ही उसका स्वस्थ तथा शान्त होना भी निहित है। यदि कोई साधक अपने को सेवा करने मे असमर्थ मानता है, तो उसे त्याग को अपना लेना चाहिए। त्याग के अपना लेने पर सेवा, पूजा तथा प्रेम का सामर्थ्य स्वत आ जाता है। शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना न मानना और किसी से भी किसी प्रकार भी सुख की आशा न करना, अर्थात् चाह-रहित होना, अथवा यो कहो कि 'अहम्' और 'मम' का अन्त करना ही त्याग का वास्तविक स्वरूप है।

यह नियम है कि सब प्रकार की चाह का अन्त होते ही जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नही है, अर्थात् जो केवल प्रतीति मात्र है। उसकी निवृत्ति हो जाती है और जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है उस अनन्त की प्राप्ति हो जाती है। चाह-रहित होने मे निर्बल से निर्बल व्यक्ति भी सर्वदा स्वाधीन है, परन्तु उसके लिए प्राणी को जीवन मे ही मृत्यु का अनुभव करना होगा। संसार से सच्ची निराशा, जीवन ही मे मृत्यु का अनुभव है।

चाह की उत्पत्ति, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नही है, उससे सम्बन्ध जोड़ देती है और जो सर्वत्र सर्वदा ज्यो-का-त्यो है उससे दूरी उत्पन्न कर देती है। इस दृष्टि से चाह-रहित होना परम अनिवार्य है। चाह-रहित होने के लिए, जो प्रतीति-मात्र है, उसकी सत्ता को स्वीकार न करना, अपितु उसमे उसी का दर्शन करना, जिसके प्रकाश से वह प्रकाशित है, आवश्यक है, अथवा यो कहो कि असत् का त्याग और सत् को अपना लेना ही चाह-रहित होने का सुगम उपाय है, यह नियम है कि असत् के त्याग मे ही सत् की प्राप्ति निहित है। असत् को असत् जान लेने पर उसके त्याग का सामर्थ्य स्वत आ जाता है।

असत् के त्याग तथा सेवा, पूजा और प्रेम से चित्त शुद्ध शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है।

८—६—५६

३८

मान्यताओं का नाश एवं प्रीति का उदय

[जब प्राणी अपने को जाने बिना किसी मान्यता को स्वीकार कर मिथ्या अभिमान मे आबद्ध हो जाता है, तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है।

समस्त मान्यताओ का नाश वही प्राणी कर सकता है जो विषयो को इन्द्रियो के, इन्द्रियो को मन के और मन को बुद्धि के अधीन करने मे समर्थ हो। समस्त मान्यताओ का नाश होते ही निर्वासना आ जाती है और निर्वासना आते ही मिथ्या अभिमान स्वत गल जाता है। भेद के नाश मे ही काम का अन्त है और काम का अन्त होते ही चित्त स्वत शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है, जिसके होते ही जीवन प्रीति से ओत-प्रोत हो जाता है। प्रीति की प्राप्ति मे ही जीवन की पूर्णता है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

जब प्राणी अपने को जाने बिना किसी मान्यता को स्वीकार कर मिथ्या अभिमान मे आबद्ध हो जाता है तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है। कारण कि मिथ्याभिमान से भेद की उत्पत्ति होती है, जिसके होते ही काम उत्पन्न होता है। काम की भूमि मे ही कामनाए जन्म पाती है, जिनकी पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दु ख मे आबद्ध होने से प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है।

चित्त के अशुद्ध होते ही बेचारा प्राणी दीनता तथा अभिमान की अग्नि मे जलने लगता है। इतना ही नही, अनेक प्रकार के अभावो मे ग्रसित होने से उसमे वर्तमान वस्तुस्थिति मे सदेह की व्यथा उदय होती है।

यदि वह व्यथा वर्तमान जीवन की वस्तु बन जाय, तो वास्तविक जीवन की जिज्ञासा जागृत कर देती है। परन्तु यदि किसी कारण उस व्यथा मे शिथिलता आ जाय, तो प्राणी इन्द्रियजन्य ज्ञान के आधार पर कोई न कोई काल्पनिक चित्र की स्थापना कर उसे अपने जीवन का उद्देश्य बनाकर किसी अप्राप्त परिस्थिति की प्राप्ति के लिए कार्यक्रम बना लेता है। यदि वह कार्यक्रम सफल हो गया, तो कुछ काल जीवन के मूल प्रश्न को भूल जाता है, और परिस्थिति जन्य,परिवर्तनशील सुख मे सतोष कर बैठता है, पर यह स्थिति उसके मूल प्रश्न को हल नही कर पाती, अथवा यो कहो कि मूल प्रश्न कुछ काल के लिए दब-सा जाता है, मिटता नही और यदि अपनी काल्पनिक परिस्थिति को प्राप्त करने मे असफल हो गया,तो भयभीत होकर मिथ्या अहकार को जागृत कर परिस्थिति से सघर्ष करने लगता है, अथवा यो कहो कि काल्पनिक आशाओ मे विचरने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो जीवन का मूल प्रश्न था, जिसका हल होना वर्तमान जीवन की वस्तु है, उसे कालान्तर की वस्तु मान कर उसकी ओर उदासीन हो जाता है और जो न तो वर्तमान मे ही प्राप्त हो सकता है और न कालान्तर मे ही निश्चित रूप से जिसकी प्राप्ति सम्भव है, इतना ही नही, यदि प्राप्त भी हो जाय तो भी उससे नित्य सम्बन्ध नही रह सकता, यह जानते हुए भी उसके लिए प्रयास करता रहता है, जिससे चित्त उत्तरोत्तर अशुद्ध ही होता जाता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार सभी कार्यक्रम उसकी प्राप्ति के लिए बनाए जाते है, जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त है, अर्थात् किसी अप्राप्त परिस्थिति के लिए ही कार्यक्रम बनता है, यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति अभाव-रूप है, परिवर्तनशील है, क्योकि जो उत्पत्ति से पूर्व नही है वह प्राप्त होने पर भी न रहेगी। इस कारण सभी परिस्थितियो मे जीवन का मूल प्रश्न ज्यो-का त्यो रहता है। परिस्थितियो के आधार पर बेचारा प्राणी अपने को सफल-असफल मानकर सुखी-दु खी होता रहता है।

सुख-दु ख का द्वन्द्व उसे विश्राम नही लेने देता, जिसके बिना न तो प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग ही हो पाता है और न आवश्यक सामर्थ्य का विकास ही होता है। प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग से ही जीवन का मूल प्रश्न हल हो सकता है, पर कब ? जब परिस्थितियो में जीवन-बुद्धि न हो। परि-स्थितियो मे जीवन-बुद्धि न रहने से प्रतिकूलता का भय तथा अनूकूलता की दासता स्वत मिट जाती है और किसी अप्राप्त परिस्थिति का आवाहन नही होता। प्रतिकूलता का भय मिटते ही प्राप्त बल का सदुपयोग होने लगता है, और अनु-कूलता की दासता मिटते ही प्राप्त विवेक का आदर होने लगता है। प्राप्त बल के सदुपयोग से निर्बलता मिट जाती है, अर्थात् आवश्यक बल स्वत· प्राप्त होता है और प्राप्त विवेक के आदर से दूसरो के अधिकार और अपने कर्त्तव्य का ज्ञान हो जाता है और परिस्थितियो से अतीत के जीवन की उत्कट लालसा जागृत होती है। आवश्यक बल की प्राप्ति तथा कर्त्तव्य के ज्ञान से कर्त्तव्य-परायणता आती है। कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही प्राणी विद्यमान राग से रहित हो जाता है और परिस्थितियो से अतीत के जीवन की उत्कट लालसा नवीन राग की उत्पत्ति नही होने देती। जब

विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और नवीन राग की उत्पत्ति नही होती, तब चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है।

परिस्थिति मे जीवन-बुद्धि स्वीकार करने का एक मात्र कारण यह है कि प्राणी अपने सम्बन्ध मे निस्सन्देह नही होता। अपने सम्बन्ध मे निस्सन्देह न होने से अपने लक्ष्य के सम्बन्ध मे भी सन्देह-रहित नही होता और लक्ष्य के सम्बन्ध मे सन्देह-युक्त होने के कारण अपने साधन के सम्बन्ध मे भी निस्सन्देह नही होता। अपने सम्बन्ध मे सन्देह-रहित होने से साधन और साध्य के सम्बन्ध मे भी सन्देह नही रहता। अपने सम्बन्ध मे निस्सन्देह होने के लिए यह अनिवार्य है कि प्राणी अपने को उन सभी स्वीकृतियो से मुक्त कर ले, जिनमे उसने अपने को आबद्ध कर लिया है। यदि किसी कारण प्राणी सभी मान्यताओ का अन्त करने मे अपने को असमर्थ पाता हो, तो उसे अपने सम्बन्ध मे किसी एक ऐसी मान्यता को विकल्प-रहित विश्वास के आधार पर स्वीकार कर लेना चाहिए जिस मान्यता का परिवर्तन न हो, अर्थात् जो नित्य हो। सभी मान्यताओ का अन्त करने से जिस वास्तविकता का बोध होता है, किसी एक नित्य मान्यता की स्वीकृति द्वारा भी उसी वास्तविकता से अभिन्नता होती है। इस दृष्टि से चाहे विचारपूर्वक सभी मान्यताओ का अन्त कर दिया जाय, अथवा विश्वासपूर्वक किसी नित्य मान्यता को स्वीकार कर लिया जाय, तो प्राणी अपने सम्बन्ध मे सन्देह-रहित हो सकता है।

समस्त मान्यताओं का नाश वही प्राणी करता है जो विषयो को इन्द्रियो के, इन्द्रियो को मन के और मन को बुद्धि के अधीन करने मे समर्थ हो अर्थात् जिसमे मन और बुद्धि का द्वन्द्व शेष न रहे। द्वन्द्व न रहने पर बुद्धि समता मे स्थित हो जाती है, जिसके होते ही स्वत विचार उदय होता है, जो सभी मान्यताओ को खाकर मान्यताओ से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देता है।

समस्त मान्यताओ का नाश होते ही निर्वासना आ जाती है और निर्वासना आते ही मिथ्या अभिमान स्वत गल जाता है। फिर किसी प्रकार का भेद शेप नही रहता । भेद के नाश मे ही काम का अन्त है और काम का अन्त होते ही चित्त स्वत शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है, जिसके होते ही जीवन प्रेम से ओत-प्रोत हो जाता है। प्रेम की प्राप्ति मे ही जीवन की पूर्णता है। कामनाओ की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति होने पर ही प्रेम की प्राप्ति होती है। चित्त शुद्ध होने पर कामनाओं का नाश और जिज्ञासा की पूर्ति स्वत हो जाती है ।

मिथ्या अभिमान से भेद और भेद से काम की उत्पत्ति होती है, जो वासनाओ की भूमि है। वासनाओ का अन्त विचार से और विचार का उदय बुद्धि के सम होने पर स्वत होता है। बुद्धि की समता मन की निर्विकल्पता मे निहित है और मन की निर्विकल्पता इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव नष्ट होने पर सुरक्षित रहती है। इन्द्रिय-ज्ञान मे सन्देह होने पर जिज्ञासा जागृत होती है। जिज्ञासा की जागृति इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव को खा लेती है।

मिथ्या अभिमान के रहते हुए प्राणी अपने को भोगासक्ति मे आवद्ध कर लेता है । भोग की क्षण-भगुरता का ज्ञान भोगासक्ति से मुक्त करने मे समर्थ है, क्योकि उस ज्ञान से ही सन्देह की व्यथा जागृत होती है। यदि प्राणी उस व्यथा को सुख की आशा से न दवाये, तो वडी ही सुगमता पूर्वक जिज्ञासा की जागृति भोगासक्ति का नाश कर मिथ्या अभिमान का अन्त कर देती है ।

मिथ्या अभिमान में अनेक मान्यताएँ उत्पन्न होती हैं, परन्तु प्रत्येक मान्यता के मूल मे किसी की कामना, जिज्ञासा तथा लालसा रहती है । कामना-पूर्ति का प्रलोभन जिज्ञासा तथा लालसा को

सबल तथा स्थायी नही होने देता, परन्तु लालसा तथा जिज्ञासा का अन्त भी नही होता। कामना भोग्य वस्तु की प्रियता, और जिज्ञासा निस्सन्देहता की प्रियता के अतिरिक्त और कुछ नही है। भोग्य वस्तु की असारता का ज्ञान उसके भोग की आसक्ति का नाश करने मे समर्थ है। भोगासक्ति का नाश भोग की प्रियता को जिज्ञासा मे परिवर्तित कर देता है। जिस काल मे जिज्ञासा की पूर्ण जागृति होती है, उसी काल मे उसकी पूर्ति हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति जिस अनन्त से अभिन्न करती है, प्रियता उसी अनन्त का प्रेम हो जाती है इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राणी मे एक स्वाभाविक प्रियता है। जब उसका सम्बन्ध देहाभिमान से होता है तब वह अनेक कामनाओ के रूप मे प्रतीत होती है और जब उस प्रियता का सम्बन्ध सन्देह की वेदना से हो जाता है तब वह जिज्ञासा का रूप धारण कर निस्सन्देहता प्रदान करती है। निस्सन्देहता जिसका बोध कराती है, प्रियता उसी का प्रेम है। इस दृष्टि से यदि प्राणी अपने सम्बन्ध मे यह स्वीकार करे कि मैं केवल प्रीति हूँ, तो अनेक मान्यताए प्रीति मे विलीन हो सकती है। इस मान्यता का परिवर्तन नही हो सकता और न अभाव हो सकता है, अर्थात अपने को प्रीति स्वीकार करना ही वास्तविक एव नित्य मान्यता है।

प्रीति स्वभाव से ही दिव्य, चिन्मय तथा विभु है, कारण कि प्रीति सुख की आशा को खा लेती है और नित-नूतन रस प्रदान करती है। जो सुख की आशा से रहित है, वह दिव्य है। जो दिव्य है वह चिन्मय और जो चिन्मय है वह विभु है। प्रीति का उद्गम-स्थान अचाह मे है, क्यो कि चाह रहित हुए बिना प्रीति का उदय होता ही नही। इस दृष्टि से प्रीति की भूमि बन्धन से रहित है, अथवा यो कहो कि मुक्ति ही प्रीति का

उद्गम स्थान है। प्रीति स्वभाव से ही दूरी तथा भेद की नाशक है। इस कारण प्रीति देश-काल की परिधि से अतीत है। प्रीति क्षति पूर्ति एव निवृत्ति से रहित होने से आनन्दामृत-वर्षिणी है, अथवा यो कहो कि प्रीति आनन्द को भी आनन्दित करती है। प्रीति मे ही समस्त साधनो की समाप्ति है। प्रीति के बिना कभी किसी को रस की उपलब्धि हो ही नही सकती। और उसके बिना खिन्नता, क्षोभ, क्रोध, राग आदि विकारो का अन्त असभव है। प्रीति से अभिन्नता होने पर ही काम का नाश हो सकता है, अथवा यो कहो कि अपने को प्रीति स्वीकार करने पर प्राणी काम रहित हो जाता है। काम का अन्त होते ही कामनाए स्वतः मिट जाती है और फिर मिथ्या-अभिमान अपने आप गल जाता है। इस दृष्टि से प्रीति और विचार दोनों ही का परिणाम एक है। विचार असत् जानकर असत् से असगता और सत् से अभिन्नता प्रदान करता है, और प्रीति प्रीतम को रस प्रदान कर प्रीतम से अभिन्न हो जाती है। अथवा यो कहो कि प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है, और कुछ नही। इतना ही नही, प्रीति और प्रीतम से भिन्न कभी किसी को किसी और का अनुभव ही नही है। प्रीति देहाभिमानियो मे आसक्ति के रूप मे भासित होती है। आसक्त प्राणी अपनी अभीष्ट वस्तुओ मे आबद्ध रहता है। इस दृष्टि से आसक्ति भी किसी की प्रीति ही है, परन्तु अविवेक के कारण उसमे निर्मलता नही है। इसलिए आसक्ति त्याज्य है, परन्तु आसक्ति मे जो मिठास है वह भी स्वार्थ-परायण प्रीति ही है। जिज्ञासा और तत्त्व-ज्ञान में एकता प्रदान करने मे भी प्रीति का ही चमत्कार है, कारण कि निस्सन्देहता की प्रीति ही जिज्ञासा का स्वरूप है। सभी स्तरो मे जहा कही रस की निष्पत्ति है वहा किसी-न-किसी रूप मे प्रीति का ही चमत्कार है,

परन्तु जब प्रीति अपने को सभी काल्पनिक मान्यताओं से मुक्त कर लेती है, तब वह अपने निर्मल स्वरूप से अभिन्न हो जाती है, जिसके होते ही उस अनन्त को, जो सब प्रकार से पूर्ण है, रस प्रदान करती है, अथवा यो कहो कि उसके प्रेम को पाकर सर्वदा नित-नूतन बनी रहती है । प्रीति का उदय होता है, पर अन्त नही, और न कभी पूर्ति होती है, क्योकि अनन्त की प्रीति अनन्त ही है । पूर्ति-निवृति न होने से नित-नूतन रस की निष्पत्ति कराने मे प्रीति ही समर्थ है । प्रीति मे प्रीतम से भिन्न और किसी की सत्ता नही है ।

सभी मान्यताओ से अतीत जो है, वही प्रीति का आश्रय भी है उन दोनो मे स्वरूप की एकता है । प्रीति सभी मे, और सभी से अतीत मे निवास करती है, परन्तु किसी सीमित वस्तु अवस्था एव परिस्थिति मे आबद्ध नही होती । यही प्रीति और आसक्ति मे भेद है । जिज्ञासा कामनाओ को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है, पर प्रीति की कभी पूर्ति नही होती, यही जिज्ञासा और प्रीति मे भेद है । प्रीति प्रियतम मे, और प्रियतम प्रीति मे निवास करते है, और वे दोनो ही अनन्त है, अथवा यो कहो कि प्रीति एक मे दो और दो मे एकता का विलक्षण दर्शन कराती है । प्रीति की अभिन्नता सर्वदा रस रूप है । सभी मान्यताओ का अन्त होने पर और अपने को प्रीति स्वीकार करने पर मिथ्या अभिमान गल जाता है जिसके गलते ही चित्त शुद्ध हो जाता है ।

९-६-५६

३९

सामूहिक दुःख की अनुभूति का महत्व

[व्यक्तिगत दु ख से भयभीत प्राणी सुख की दासता मे आवद्ध होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है। प्राणी का व्यक्तिगत दु ख का बोध कराने मे साधन-मात्र है। सामूहिक दु ख चित्त को करुण तथा द्रवीभूत बनाता है जिससे अनुराग का उदय होता है, जिसके होते ही काम का अन्त हो जाता है और चित्त शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

व्यक्तिगत दु ख से भयभीत प्राणी सुख की दासता में आवद्ध होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है। यद्यपि दु ख प्राकृतिक विधान है, परन्तु उससे भयभीत होना असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नही है। प्राणी का व्यक्तिगत दु ख उसे सामूहिक दु ख का बोध कराने मे साधन-मात्र है। सामूहिक दुःख की अनुभूति प्राणी को सुख की दासता मे आबद्ध नही करती, अपितु दु.ख से अतीत के जीवन की लालसा जागृत करती है। इस दृष्टि से सामूहिक दु ख की अनुभूति मे प्राणी का विकास निहित है। अत व्यक्तिगत दु ख से भयभीत न होकर उसके द्वारा सामूहिक दु.ख का अनुभव करना अनिवार्य है। ऐसा करते ही व्यक्तिगत दु ख भी दु ख से अतीत के जीवन की प्राप्ति मे साधन हो सकता है।

दु:ख-सुख से चित्त अशुद्ध नही होता, प्रत्युत दु:ख के भय एव सुख की दासता से चित्त अशुद्ध होता है। दु:ख का प्रभाव जीवन मे जागृति लाता है और दुःख का भय प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास करता है। सुख का सद्व्यय प्राणी को उदार बनाने मे समर्थ है, और उसकी दासता जडता मे आबद्ध करती है। दु:ख का भय तथा सुख की दासता प्राणी को शक्तिहीनता तथा जडता मे आबद्ध करती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। दु:ख के प्रभाव से प्राप्त जागृति और सुख के सद्व्यय से प्राप्त उदारता चित्त को शुद्ध कर देती है।

जागृति परिस्थितियो से असङ्गता प्रदान करती है। उदारता सुख-भोग की आसक्ति का अन्त करती है। असगता से सभी कामनाओ का नाश हो जाता है, और सुख-भोग की आसक्ति का अन्त होते ही दु:ख का भय तथा सुख को लोलुपता मिट जाती है। सुख-लोलुपता तथा दु:ख का भय मिटते ही स्वाधीनता तथा निर्भयता और कामनाओ का नाश होते ही निस्सन्देहता स्वत. आ जाती है। स्वाधीनता, निर्भयता एव निस्सन्देहता मे चित्त की शुद्धि निहित है।

परिस्थितिजन्य दुःख तो सुख की दासता मे और विवेकजन्य दु:ख सत्य की खोज मे प्रवृत्त करता है, क्योकि विवेकजन्य दु:ख मे ससार के स्वरूप का ज्ञान होता है, अथवा यो कहो कि ससार के स्वरूप के ज्ञान से विवेक-जनित दु:ख उदित होता है। विवेक-जनित दु:ख सजीव है और घटना-जनित दु:ख निर्जीव है। सजीव दु:ख सामर्थ्य प्रदान करता है और निर्जीव दु:ख सुख-लोलुपता उत्पन्न करता है। सुख-लोलुपता उत्तरोत्तर प्राणी को शक्ति-हीन बनाती है एव जडता को ओर गतिशील करती है तथा सजीव दु:ख से प्राप्त सामर्थ्य साधक को असत् से सत् की ओर,

पराधीनता से स्वाधीनता की ओर और जडता से चिन्मयता की ओर गतिशील करती है। इस दृष्टि से सजीव दु ख बड़े ही महत्व की वस्तु है और निर्जीव दु ख मे आबद्ध रहना सर्वथा निन्दनीय है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक परिस्थिति मे दु ख है, पर सुख का प्रलोभन उस दु ख का भास नही होने देता। सुख के प्रलोभन से दबाया हुआ दु ख सर्वदा नवीन दु ख को जन्म देता रहता है। इतना ही नही, ज्यो-ज्यो सुख का प्रलोभन बढता जाता है, त्यो-त्यो उत्तरोत्तर परिस्थिति-जनित दु ख उत्पन्न होता रहता है। परिस्थिति-जनित दु ख से कोई भी प्राणी बच नही सकता। जिससे बच नही सकते, उससे भयभीत होना कुछ अर्थ नहीं रखता। अत परिस्थिति-जनित दु ख मे भी भयभीत न होकर सुख के प्रलोभन का त्याग करना चाहिए, जिसके होते ही परिस्थितिजनित दु ख भी सजीव हो जावेगा, जो साधन-रूप है।

दु.ख को सजीव बनाने के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए, क्योकि सजीव दु ख से ही दु ख की निवृत्ति तथा आनन्द की उपलब्धि एव असत्य का त्याग और सत्य की प्राप्ति हो सकती है।

सामूहिक दु ख की विमुखता व्यक्तिगत दु ख से भयभीत करती है। इस कारण सामूहिक दु ख पर दृष्टि रखना अनिवार्य है, क्योकि उसके बिना न तो प्राणी सत्य की खोज ही कर सकता है और न असत् को असत् जानकर भी उसके त्याग मे समर्थ होता है। असत् के त्याग के बिना सत् से अभिन्नता हो नही सकती और सामूहिक दु ख से दु खी हुए बिना असत् के त्याग की योग्यता नही आती। अत सामूहिक दु ख को अपना लेने मे ही प्राणी का हित है। सामूहिक दु ख चित्त को करुणित तथा द्रवीभूत बनाता है, जिससे चित्त मे अङ्कित सुख का राग मिट जाता है और अनुराग का उदय होता है, जिसके होते ही काम का अन्त हो

जाता है जिससे चित्त शुद्ध,शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है।

व्यक्तिगत दु ख के भय से भयभीत प्राणी असत् को असत् जान लेने पर भी उसका त्याग नही करता,प्रत्युत असत् के द्वारा सुख सम्पादन में लगा रहता है। यद्यपि उसका परिणाम अहित-कर ही सिद्ध होता है,परन्तु व्यक्तिगत दुःख का भय उसे प्रमादी बना देता है। इस भयंकर स्थिति से मुक्त होने के लिए यह अनिवार्य है कि असत् को असत् जानकर उसका त्याग किया जाय। असत् से सुख सम्पादन की आशा न की जाय।

असत् का त्याग वर्त्तमान की वस्तु है और उसके त्याग से ही सत् से अभिन्नता होती है। असत् के त्याग मे प्राणी पराधीन नही है, अपितु सर्वदा स्वाधीन है, कारण कि असत् स्वय ही उसका त्याग कर देता है जो उसे अपनाना चाहता है, अर्थात् जो स्वय अलग हो रहा है उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना ही असत् का त्याग है। असत् का त्याग और सत् से अभिन्नता युग-पद है। अथवा यो कहो कि असत् के त्याग मे ही सत् का प्रेम निहित है, क्योकि किसी का त्याग ही किसी का प्रेम होता है। त्याग अभ्यास नही है, अपितु श्रमरहित सहज साधन है और विवेक-सिद्ध है। इसी कारण त्याग वर्तमान मे ही फल देता है। त्याग असत् से मुक्त करता है और प्रेम सत् से अभिन्न करता है। त्याग और प्रेम दोनो ही स्वाभाविक सहज साधन हैं। त्याग और प्रेम को अपना लेने पर चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है।

चित्त की अशुद्धि से ही प्राणी सुख की दासता तथा दु ख के भय मे आबद्ध होता है, अथवा यो कहो कि सुख की दासता तथा दु ख के भय से चित्त अशुद्ध होता है। इन दोनो के मूल मे अविवेक ही हेतु है,क्योकि अविवेक से ही देहाभिमान दृढ होता है और उससे ही अनेक प्रकार के सुख-दु ख उत्पन्न होते है।

देहाभिमान के कारण ही आदर, अनादर, लाभ, हानि, संयोग, वियोग का सुख-दुःख होता है। यदि चित्त से लोभ, मोह की अशुद्धि निवृत्त हो जाय तो आदर-अनादर, हानि-लाभ तथा संयोग वियोग का सुख-दुःख स्वतः मिट जाता है,क्योकि लोभ के दोष मे ही हानि-लाभ का सुख-दु ख निहित है और मोह के दोष मे ही संयोग-वियोग एवं आदर-अनादर का सुख-दु ख निहित है। लोभ और मोह का दोप अपने को देह मान लेने पर उत्पन्न होता है। अपने को देह मान लेना केवल अविवेक सिद्ध है।

वियोग, हानि और अनादर का भय मिटने पर लाभ,सयोग, एव आदर का प्रलोभन स्वत मिट जाता है। निर्लोभता के विना हानि का भय और निर्मोहता के विना अनादर तथा वियोग का भय मिट नही सकता। अपने को देह से अलग अनुभव किए विना निर्मोहता प्राप्त नही हो सकती और वस्तुओ के वास्तविक स्वरूप को विना जाने निर्लोभता आ नही सकती। इस दृष्टि से अपने को देह से अलग अनुभव करना और वस्तुओ के वास्तविक स्वरूप को जानना अनिवार्य है,जो विवेकसिद्ध है। विवेक प्रत्येक साधक को स्वत प्राप्त है, अथवा यो कहो कि अनन्त की देन है। इतना ही नही,विवेक ही आदि गुरु-तत्त्व है। उसी मे कर्त्तव्य तथा लक्ष्य का ज्ञान विद्यमान है। उसके अनादर से ही चित्त अशुद्ध हो गया है,पर यह रहस्य चित्त शुद्ध होने पर ही स्पष्ट होता है। उससे पूर्व तो व्यक्तिगत दु ख का भय और सुख का प्रलोभन ही जीवन प्रतीत होता है, जो वास्तव मे अविवेक-सिद्ध है।

वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता के द्वारा व्यक्तियो की सेवा चित्त को शुद्ध करती है और व्यक्तियो के द्वारा सुख का भोग तथा सुख की आशा चित्त को अशुद्ध करती है। यद्यपि वस्तु की

अपेक्षा व्यक्ति अधिक महत्त्व की वस्तु है, परन्तु वास्तविक दृष्टि से तो व्यक्ति भी वस्तु है। इतना ही नही,अपनी देह भी एक वस्तु ही है और समस्त सृष्टि भी एक वस्तु ही है। ऐसी कोई वस्तु है ही नही, जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त तथा पर-प्रकाश्य न हो। तो फिर वस्तुओ के द्वारा सुख की आशा करना और उनके अभाव से भयभीत होना क्या युक्ति-युक्त है ? कदापि नही।

वस्तुओ की निरर्थकता का ज्ञान वस्तुओ की दासता से मुक्त कर उनके सदुपयोग की प्रेरणा देता है,क्योकि वस्तुओ के स्वरूप को जान लेने पर वस्तुओ से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है,जिसके होते ही सभी वस्तुओ से अतीत के जीवन से अभिन्नता हो जाती है,जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध होने पर अनादर का भय और आदर की आशा मिट जाती है, क्योकि देह-रूपी वस्तु मे ममता नही रहती और न किसी से भिन्नता ही रहती है, अपितु स्नेह की एकता जीवन हो जाती है।

स्नेह की एकता प्राप्त होते ही सभी का आदर होने लगता है और अपने आदर की कामना शेष नही रहती। कामनाओ का अन्त होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

आदर की कामना प्राणी मे तभी तक रहती है, जब तक वह आदर के योग्य नही है। आदर के योग्य कब तक नही है ? जब तक उसकी प्रसन्नता किसी वस्तु,व्यक्ति आदि पर निर्भर है, कारण कि वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता मे ही अनादर निहित है। आदर के योग्य वही है, जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति मे दूसरे का हित निहित है,अर्थात् सर्वहितकारी प्रवृत्ति से ही आदर मिलता है। स्वार्थभाव का अत्यन्त अभाव एव सर्वात्मभाव की स्वीकृति मे ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति सम्भव है।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति के अन्त मे निर्वासना स्वत. आ जाती

है जिसके आते ही निर्वैरता,निर्भयता,समता,मुदिता आदि दिव्य गुणो की अभिव्यक्ति स्वत हो जाती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

स्वार्थ-भाव के अभाव मे सर्वहितकारी भाव और सर्वहितकारी भाव मे निष्कामता स्वत सिद्ध है। निष्कामता राग को अनुराग मे और भोग को योग मे परिणत कर देती है। योग की पूर्णता मे शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता निहित है और स्वाधीनता मे निस्सन्देहता अर्थात् वास्तविकता का बोध स्वतः सिद्ध है,अथवा यो कहो कि निष्कामता की भूमि मे योगरूपी वृक्ष स्वत उगता है और उस पर तत्त्वज्ञानरूपी फल लगता है, जो प्रेमरस से परिपूर्ण है। तत्त्वज्ञानरूपी फल प्राप्त होने पर ही निस्सन्देहता,अमरत्व तथा अगाध-अनन्त-रस की प्राप्ति होती है, जिसकी माँग प्राणी को स्वाभाविक है। परन्तु चित्त की अशुद्धि के कारण प्राणी उससे विमुख हो गया है। अत व्यक्तिगत सुख की दासता तथा दु ख के भय का अन्त कर सामूहिक दु ख को अपनाकर चित्त को शान्त,शुद्ध तथा स्वस्थ करने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिये। यह तभी सम्भव होगा, जब चित्त-शुद्धि वर्तमान जीवन की वस्तु मान ली जाय। यह नियम है कि जो वर्तमान जीवन की वस्तु नही होती उसके लिए प्राणी उत्कण्ठा तथा उत्साहपूर्वक कर्त्तव्य-परायण नही होता और न उसके लिए परम व्याकुलता ही जागृत होती है। कर्त्तव्य-परायणता तथा परम व्याकुलता मे ही सिद्धि निहित है। इस दृष्टि से चित्त शुद्धि वर्तमान जीवन की वस्तु है।

१०-६-५६

४०

क्षमा-प्रार्थना एवं क्षमा-शीलता का महत्व

[की हुई भूल के आधार पर अपने मे दोषी भाव अङ्कित हो जाने मे और अपने प्रति होने वाले अन्याय के आधार पर दूसरो को दोषी मान लेने मे चित्त अशुद्ध हो जाता है। दोषी होने की तीव्र वेदना प्राणी को क्षमा-प्रार्थी बना कर दोषयुक्त करने मे समर्थ है। क्षमा-शील उस अनन्त का स्वभाव है अत उससे अभिन्न होने के लिए क्षमा-शील होना अनिवार्य है। अत' क्षगा मागने तथा करने मे ही चित्त की शुद्धि निहित है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

की हुई भूल के आधार पर अपने मे दोषी-भाव अकित हो जाने से और अपने प्रति होने वाले अन्याय तथा अत्याचार के आधार पर दूसरो को दोषी मान लेने से चित्त मे अशुद्धि आ जाती है। उसकी निवृत्ति के लिए यह अनिवार्य है कि की हुई भूल को न दुहराने का व्रत लेकर व्यथित हृदय से क्षमा-याचना की जाय और जिन्होंने अपने प्रति बुराई की है, उनके बिना ही माँगे स्वय अपनी ओर से सदा के लिए क्षमा कर दिया जाय तो वडी ही सुगमता पूर्वक चित्त की अशुद्धि मिट जाती है। परन्तु क्षमा माँगने का बल उन्ही प्राणियो मे होता है जो एक क्षण भी दोषी नही रहना चाहते, अपनी भूल को बड़ी ही ईमानदारी से स्वीकार कर लेते हैं। अर्थात् जो वर्तमान मे निर्दोष होना चाहते

हैं, वे ही क्षमाप्रार्थी हो सकते है। दोष-जनित सुख में आसक्त प्राणी दु.ख से बचने के लिए भले ही क्षमा की बात कहे, पर वह वास्तव मे क्षमा-प्रार्थी नही हो सकता, कारण कि दोष-जनित सुख की आसक्ति दोष न दुहराने का व्रत नही लेने देती। दु.ख से बचने के लिए तो सर्व-साधारण अर्थात् बड़े से बडा अपराधी भी क्षमा मांगने लगता है, पर सच्चाई पूर्वक क्षमा वही माग सकता है, जो दोषी होने से घोर दु खी है। दोष का होना उतनी भूल नही है, जितनी भूल किये हुए दोष को स्वीकार न करना और दोष-जनित प्रवृत्ति से घोर दु:खी न होना है। यद्यपि प्रत्येक दोषी में दोष की स्वीकृति स्वत. होती है, परन्तु अनादर के भय से जानते तथा मानते हुए भी अपने से और दूसरो से उसे छिपाना चाहता है, क्योंकि स्वभाव से प्राणी अपनी तथा दूसरों की दृष्टि मे दोषी होकर रहने मे क्षुभित होता है और क्षोभ के दु ख से बचने के लिए मिथ्या प्रयास करता है।

यह नियम है कि जो अपने को धोखा नही देता, वह दूसरो को धोखा दे ही नही सकता, अर्थात् जो बुराई प्राणी अपने प्रति करता है, वही दूसरो के प्रति भी करता है। इतना ही नही, यदि हम अपने प्रति कोई बुराई न करे, तो दूसरो की की हुई बुराई का प्रभाव हम पर हो ही नही सकता। तात्पर्य यह कि प्राणी प्रथम स्वयं अपने प्रति बुराई करता है, तब दूसरों की की हुई बुराई उसे क्षुभित करती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जो स्वयं बुरा हो नही जाता, वह दूसरों के साथ बुराई कर ही नही सकता, क्योकि दोषी होने पर ही दोषयुक्त प्रवृत्ति का जन्म होता है। इस दृष्टि से प्राणी के निर्दोष होने पर ही उसके द्वारा निर्दोष प्रवृत्ति हो सकती है। दोषयुक्त प्रवृत्ति से पूर्व प्राणी अपने अहम्‌भाव से दोष की

स्थापना कर लेता है तभी दोषयुक्त प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, जैसे अपने मे लोभ तथा मोह की स्थापना करने पर ही लोभ तथा मोहयुक्त प्रवृत्ति होती है, क्योकि कर्ता जैसा अपने को मान लेता है, उसके अनुरूप ही कर्म होता है, किन्तु उस किए हुए कर्म का सस्कार कर्त्ता की रुचि के अनुसार न होकर कर्म के अनुसार अङ्कित होता है। इस कारण दोषयुक्त प्रवृत्ति से दोषी-भाव की स्थापना स्वत हो जाती है। यद्यपि किसी की रुचि अपने को दोषी स्वीकार करने की नही है,यदि होती तो कोई उसको छिपाने का प्रयास न करता, परन्तु प्राकृतिक विधान के अनुसार किए हुए कर्म का सस्कार अङ्कित हो ही जाता है और उन्ही सस्कारो के आधार पर भावी परिस्थिति का निर्माण होता है।

जब किसी की रुचि अपने को दोषी स्वीकार करने की नहीं है, तो फिर कोई अपने अहम्भाव मे दोष की स्थापना क्यो करता है ? प्राप्त-अप्राप्त वस्तुओ के द्वारा सुख का भोग अथवा सुख की आशा से विवश होकर प्राणी अपने को दोषी मान लेता है अर्थात् कामनापूर्ति के सुख का प्रलोभन उसे दोषयुक्त प्रवृत्ति करने की प्रेरणा देता है। यदि वह प्राणी प्राप्त विवेक से कामनापूर्ति के सुख का त्याग कर सके तो बडी सुगमता से दोष-युक्त प्रवृत्ति का निरोध कर सकता है। जिसे कामनापूर्त्ति के सुख का भास है, उसी को दोष का भी ज्ञान है। सुख का प्रलोभन बढ जाने पर दोप का ज्ञान होते हुए भी उस ज्ञान का आदर नही कर पाता। इसी कारण अपने मे दोषी-भाव की स्थापना हो जाती है, क्योकि दोष का ज्ञान था, पर उसका अनादर किया।

यह नियम है कि जब से प्राणी दृढतापूर्वक प्राप्त विवेक का आदर करने लगता है,तभी से दोप-युक्त प्रवृत्तियो का जन्म नही होता, परन्तु भूतकाल की प्रवृत्तियो की स्मृति अङ्कित रहती है।

उन्ही के आधार पर वह वर्तमान मे निर्दोष रहने पर भी अपने को दोषी मानता है।

यदि जीवन मे निर्दोषता न होती, तो दोष का ज्ञान ही न होता, क्योकि सर्वांश मे प्राणी कभी भी दोषी नही होता और यदि कोई सर्वांश मे दोषी है, तो उसे दोष का ज्ञान भी नही है। दोष का ज्ञान उसी प्राणी को है जो सर्वांश मे दोषी नही है। जो सर्वांश मे दोषी नही है, उसी को दोषी-भाव की स्वीकृति व्यथित करती है। ज्यो-ज्यो वह व्यथा तीव्र होती जाती है,त्यो-त्यो दोषी-भाव के निवारण की रुचि जागृत होती जाती है। सर्वांश मे निर्दोष होने की रुचि जागृत होते ही प्राणी बडी सुगमतापूर्वक क्षमा-याचना कर सकता है और दोष को न दुहराने का व्रत लेकर अपने मे निर्दोषता की स्थापना कर सकता है, जिसके करते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

दोषी होने की तीव्र वेदना प्राणी को क्षमा-प्रार्थी बनाने मे समर्थ है और क्षमा मांगने मे की हुई भूल न दुहराने का व्रत स्वाभाविक है। की हुई भूल न दुहराने के व्रत मे निर्दोषता की स्थापना अपने आप हो जाती है क्योकि जो भूल को दुहराता नही वह अपने को सहज भाव से ही निर्दोष मान सकता है। यह नियम है कि दोष की उत्पत्ति आशिक और निर्दोषता की अभिव्यक्ति सर्वांश मे होती है। अत. निर्दोषता की स्थापना सर्वांश मे ही हो सकती है आशिक नही, अथवा यों कहो कि निर्दोष होने के लिए प्राणी को सभी दोषो का त्याग करना अनिवार्य है और यही क्षमा-याचना का वास्तविक अर्थ है। किसी भी अपराध के बदले मे किसी से भी क्षमा-याचना की जाय, उस क्षमा-याचना मे सभी दोषो के त्याग की भावना हो तभी वह क्षमा-याचना है। क्षमा किसी भी व्यक्ति मे क्यो न मागी जाय, वह वास्तव मे समष्टि से

हो जाती है, क्योकि व्यक्ति के प्रति की हुई बुराई समाज के प्रति हो जाती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई किसी के साथ भलाई तथा बुराई करे उसका प्रभाव सारे विश्व के साथ हो जाता है। इतना ही नही, प्रत्येक प्रवृत्ति का प्रभाव अखिल लोक-लोकान्तर तक पहुँचता है क्योकि सब कुछ किसी एक से सत्ता पाकर एक ही मे स्थित है अर्थात् सबका प्रकाशक एक ही है,जो अनन्त है। प्राणी जो कुछ करता है,वह उसी के प्रति होता है और उसकी प्रतिक्रिया भी उसी से होती है, इस कारण बडी ही सावधानी-पूर्वक सजग रहना चाहिए कि बुराई की उत्पत्ति ही न हो।

क्षमा-याचना करने पर यदि कोई क्षमा न करे तो लेशमात्र भी चिन्तित नही होना चाहिए, क्योकि क्षमा करने की क्षमता उस अनन्त मे ही है। व्यक्ति के रूप मे उसी से क्षमा-याचना की जाती है। किन्तु क्षमा मागने का अर्थ यह होना चाहिए कि अब जाने हुए दोषो की पुनरावृत्ति की कौन कहे, उत्पत्ति ही न होगी अर्थात् पूर्ण रूप से निर्दोषता को अपना लिया है, यह भावना दृढ बनी रहे। यही क्षमा-याचना का वास्तविक स्वरूप है।

क्षमा मागते ही क्षमा-प्रार्थी के जीवन मे निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो जाती है जिसके होते ही सीमित अहम्-भाव गल जाता है और फिर की हुई भूल की स्मृति निर्जीव हो जाती है। परन्तु यदि अपने प्रति बुराई करने वालो को विना ही मागे क्षमा नही कर दिया तो चित्त मे वैर-भाव तथा प्रतिहिंसा के सस्कार अङ्कित रहेगे जो पूर्ण रूप से निर्दोषता से अभिन्नता नही होने देगे। इस कारण क्षमाशील होना भी अनिवार्य है। है। वास्तव मे क्षमा-प्रार्थी वही हो सकता है जो क्षमाशील हो। निर्दोषता की अभिव्यक्ति तभी सुरक्षित रह सकती है जब किसी के प्रति वैर-भाव की गन्ध तक न रहे। यह तभी है जब किसी

के प्रति भी दोषी-भाव न रहे अर्थात् अपने प्रति होने वाली बुराई का कारण भी अपने को ही मान लिया जाय। जिन्हे दोषी मान लिया है यदि किसी कारण उन्हे निर्दोष मानने मे असमर्थता प्रतीत हो तो उन्हे अजान बालक की भाँति क्षमा कर दिया जाय और उनकी निर्दोषता के लिए उस अनन्त से क्षमा-प्रार्थना की जाय। कोई भी प्राणी किसी के प्रति कोई भी बुराई उस समय तक कर ही नही सकता जिस समय तक वह स्वय अपने को बुरा न बना ले। जिस बेचारे ने अपने को ही बुरा बना लिया उसके द्वारा यदि किसी प्रकार की अपनी क्षति हो भी गयी तो भी वह दया का पात्र है, दण्ड का नही। क्षमाशील की दृष्टि से सभी अदण्डनीय है। क्षमाशील होने पर ही प्राणी क्षमा-प्रार्थी हो सकता है। क्षमाशील प्राणी अपने तथा दूसरो मे निर्दोषता की अभिव्यक्ति के लिए क्षमायाचना करता है। वही वास्तविक क्षमा प्रार्थी है। इस दृष्टि से क्षमाशील होने पर ही प्राणी क्षमाप्रार्थी हो सकता है।

क्षमाशीलता उस अनन्त का स्वभाव है। अत. उससे अभिन्न होने के लिए क्षमाशील होना अनिवार्य है। क्षमाशील होने मे असमर्थता केवल अधिकार-लोलुपता के कारण ही प्रतीत होती है। यदि प्राणी दूसरो के अधिकार की रक्षा करते हुए अपने अधिकार का त्याग कर डाले तो वह बडी ही सुगमतापूर्वक क्षमाशील हो सकता है। अधिकार लोलुपता ही क्षमाशीलता का अपहरण करती है। क्षमाशीलता बल है, निर्बलता नही, उदारता है सकीर्णता नही। क्षमाशीलता मे अभिन्नता है, भिन्नता नही। क्षमाशील वही हो सकता है जो सभी मे अपने परम प्रेमास्पद का दर्शन करता है। जिसके जीवन मे से प्रतिहिंसा की भावना का अत्यन्त अभाव हो गया है, जो सभी का हित चाहता है और अपराधी से अपराधो की भी प्रसन्नता जिसे अभीष्ट है, अथवा यो कहो कि

पतित से पतित प्राणी मे भी जिसे पवित्रता का दर्शन होता है अर्थात् जिसमे दोष देखने की दृष्टि ही नही है वही क्षमाशील हो सकता है।

अपने प्रति होने वाले अन्याय से क्षुभित तथा क्रोधित न होने से क्षमाशीलता का बल बढता है, अथवा यो कहो कि क्षमाशील प्राणी को अपने प्रति होने वाले अन्याय मे भी अन्याय करने वाले प्राणी का प्रेम ही प्रतीत होता है। जब उसका मन क्षुभित नहीं होता तब वह दु खी नही होता। उसके दु खी न होने से प्रकृति में क्षोभ नही होता, जिससे अन्याय करने वाले का हित नही होता और वह स्वत निर्दोष हो जाता है, अथवा यो कहो कि क्षमाशीलता उसके हृदय को बदल देती है। यदि प्राणी किसी से किसी प्रकार के सुख की आशा न करे और किसी का वुरा न चाहे तो उसके जीवन मे क्षमाशीलता की अभिव्यक्ति हो जाती है।

क्षमाप्रार्थी वही हो सकता है जो की हुई भूल को किसी भी प्रलोभन तथा भय से दुहराता नही है अपितु पूर्ण निर्दोषता ही जिसे अभीष्ट है, अथवा यो कहो कि जो अपना सर्वस्व देकर निर्दोप रहना चाहता है। निर्दोषता को सुरक्षित रखने के लिए जिसे बडी से बडी कठिनाई सहन करने मे प्रसन्नता होती है वही सच्चा क्षमाप्रार्थी है।

क्षमा माँगने तथा क्षमा करने से चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही निर्दोपता तथा निर्वैरता जीवन मे स्वाभाविक आ जाती है। निर्दोपता आते ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति नही होती और कर्त्तव्य कर्तृ त्व के अभिमान से रहित स्वत होने लगता है, जिसके होते ही भेद नष्ट हो जाता है। भेद का अन्त होते ही योग, बोध तथा प्रेम स्वत प्राप्त होता है।

क्षमाप्रार्थी अपने प्रति न्याय करता है और क्षमाशील होकर दूसरो के प्रति प्रेम करता है। जो क्षमाप्रार्थी है वही क्षमाशील है और जो क्षमाशील है वही क्षमाप्रार्थी हो सकता है। अपने प्रति न्याय करने से निर्दोपता और दूसरो के प्रति प्रेम करने से निर्वैरता आ जाती है। निर्दोषता तथा निर्वैरता का प्रादुर्भाव होते ही सीमित अहम्भाव गल जाता है, जिसके गलते ही प्रेमी और प्रेमास्पद मे, जिज्ञासु और तत्वज्ञान मे शरीर और विश्व मे तथा व्यक्ति और समाज मे अभिन्नता हो जाती है।

क्षमाप्रार्थी मे जब निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो जाती है तब किये हुए दोष की स्मृति स्वत मिट जाती है और फिर उसमे पर-दोष दर्शन की दृष्टि उत्पन्न ही नही होती, जिससे वह स्वभाव से ही क्षमाशील हो जाता है। पर-दोष का अन्त होते ही अपने में से दोष की स्वीकृति ही सदा के लिए मिट जाती है, जिसके मिटते ही सर्वदा अपने प्रीतम का ही दर्शन होने लगता है, अथवा यों कहो कि अपने से भिन्न की प्रतीति ही नही रहती। निर्दोषता की अभिव्यक्ति से सीमित अहम् भाव गल जाता है और पर-दोष-दर्शन की दृष्टि का अन्त होने पर भेद का नाश हो जाता है। इस दृष्टि से क्षमा माँगने तथा करने से सर्वांश मे अभेदता प्राप्त होती है, जिसके होते ही बाह्य रूप से अनेक भेद प्रतीत होने पर भी जीवन स्नेह की एकता से परिपूर्ण हो जाता है, अथवा यो कहो कि भेद में अभेदता का दर्शन होता रहता है और फिर चित्त सदा के लिए शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है। अत क्षमा माँगने तथा करने मे चित्त की शुद्धि निहित है।

११-६-५६

४१

अपने से भिन्न सत्ता की अस्वीकृति

[जब प्राणी अपने से भिन्न की सत्ता स्वीकार कर लेता है तब अनेक प्रकार के भय तथा प्रलोभन उत्पन्न हो जाते हैं जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता हैं। स्वीकृति का बन्धन अस्वीकृति से ही मिट सकता है। वस्तुओ के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान जिस ज्ञान मे निहित है वह प्राणी को स्वत प्राप्त है, अत प्राप्त विवेक के आदर मात्र से ही वस्तुओ के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है, जो चित्त शुद्धि मे हेतु है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

जब प्राणी अपने से भिन्न की अर्थात् जिससे स्वरूप की एकता नही है उसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है, तब अनेक प्रकार के भय तथा प्रलोभन उत्पन्न हो जाते है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। वह अशुद्धि ज्यो-ज्यो सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यो-त्यो भिन्नता तथा अनेक प्रकार के भेद पुष्ट होते जाते है और चित्त मे अशुद्धि दृढ होती जाती है। चित्त की अशुद्धि और भिन्नता तथा भेद एक दूसरे से पोषित होते है। विवेक-पूर्वक भिन्नता तथा भेद का अन्त होने पर चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही भिन्नता अभिन्नता मे और भेद अभेद मे अर्थात् अनेकता एकता मे विलीन हो जाती है।

जिसका वियोग अनिवार्य हो, जिसमे सतत् परिवर्त्तन हो,

जिसका अदर्शन हो तथा जो उत्पत्ति विनाशयुक्त एव पर-प्रकाश्य हो उसकी सत्ता स्वीकार करने से भेद तथा भिन्नता का जन्म होता है,कारण कि उससे नित्य-योग, अभिन्नता तथा प्रेम सम्भव नही है। नित्य-योग के बिना चिर-शान्ति,सामर्थ्य तथा स्वाधीनता, अभिन्नता के बिना निर्भयता तथा निस्सन्देहता और प्रेम के बिना अगाध अनन्त रस की प्राप्ति हो नही सकती। शान्ति सामर्थ्य, स्वाधीनता, निस्सन्देहता, निर्भयता और अगाध अनन्त रस के बिना स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति सम्भव नही है और आवश्यकता-पूर्ति के बिना अभाव का अभाव हो नही सकता और उसके बिना जीवन की सार्थकता तथा पूर्णता सिद्ध नही होती। अत. उत्पत्ति-विनाशयुक्त वस्तुओ का स्वतन्त्र अस्तित्व अस्वीकार कर उसी की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए, जिसकी प्राणी को स्वाभाविक आवश्यकता है।

स्वाभाविक आवश्यकता उसी की होती है जिसकी प्राप्ति मे लेश-मात्र भी सन्देह न हो, जिसकी सत्ता स्वतन्त्र तथा स्वय-प्रकाश्य हो और जिसमे स्वाभाविक प्रेम हो। कामना उसीकी होती है जिसकी प्रतीति भले ही हो पर प्राप्ति सम्भव न हो और जिसमे आसक्ति भले ही हो पर प्रेम सम्भव न हो। इस दृष्टि से जिन वस्तु, व्यक्ति आदि की कामना है उनकी सत्ता स्वीकार करना भूल है। कामना-पूर्ति-जनित सुख के प्रलोभन मे आवद्ध होकर कामना-अपूर्ति के भयकर दु ख को भोगने के अतिरिक्त और किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नही होती। जब प्राणी इस रहस्य को जान लेता है तब वस्तुओ की प्रतीति होने पर भी उनकी सत्ता को स्वीकार नही करता, अथवा यो कहो कि प्राप्त वस्तुओ से भी ममता-रहित होकर उनसे विमुख हो जाता है। वस्तुओ की प्राप्ति वस्तुओ से तादात्म्य स्वीकार करने पर भासती

है। वस्तुओ से विमुख होने पर न तो उनकी प्रतीति ही होती है, न प्राप्ति ही भासती है, कारण कि वस्तुओ से अतीत के जीवन मे जडता का लेश नही है, अपितु चिन्मय साम्राज्य है, जिसमे भेद और भिन्नता की गन्ध भी नही है और जो असीम तथा अनन्त है। उसी की सत्ता से सभी वस्तुए प्रकाशित होती है। वही जिज्ञासुओ का तत्त्वज्ञान, प्रेमियो का प्रेमास्पद, सेवको का सेव्य एव तत्त्व-वेत्ताओ का निज स्वरूप है। उसी मे पुरुपार्थ-वादियो के पुरुषार्थ की, प्रेमियो के प्रेम की, विवेकियो के विवेक की तथा योगियो के योग की पूर्णता सिद्ध होती है।

आवश्यकता की पूर्ति मे कामनाओ की उत्पत्ति ही विघ्न है और कामनाओ की उत्पत्ति मे वस्तुओ से ममता तथा उनमे अहम्‌बुद्धि की स्थापना ही हेतु है। आवश्यकता की पूर्ति वर्तमान की वस्तु है और कामनाओ की पूर्ति सदैव प्राणी को भविष्य की आशा मे आबद्ध करती है। इतना ही नही, प्रत्येक कामना-पूर्ति का सुख नवीन कामना को जन्म देता है। परिणाम यह होता है कि अनेक बार कामनाओ की पूर्ति होने पर भी वस्तु-स्थिति ज्यो की त्यो अभावरूप ही रहती है। उस अभाव की वेदना जागृत होने पर प्राणी कामना-पूर्ति के प्रलोभन का त्याग कर कामना-निवृत्ति की ओर अग्रसर होता है। कामना-पूर्ति का महत्त्व मिटते ही कामना-निवृत्ति की सामर्थ्य स्वत आ जाती है। यह नियम है कि कामनाओ की निवृत्ति मे ही आवश्यकता की पूर्ति निहित है। कामना-पूर्ति श्रमसाध्य है, स्वाभाविक नही। उसके लिए किसी न किसी परिस्थिति की अपेक्षा होती है। प्रतिकूल परिस्थिति मे कामना-पूर्ति सम्भव नही है, अथवा यो कहो कि कामना-पूर्ति के लिए प्राणी को पराधीनता स्वीकार करनी ही पडती है, क्योकि वाह्य वस्तु, व्यक्ति आदि के सहयोग के बिना कामना-पूर्ति सम्भव ही नही है। किन्तु कामना-निवृत्ति

श्रम-रहित है, स्वाभाविक है, उसके लिए किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा नही है, अथवा यो कहो कि जिसे स्वाधीनता मे ही प्रियता है, वह बडी ही सुगमता पूर्वक कामनाओ का अन्त कर सकता है । प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वाधीनता की प्रियता पराधीनता की सुदृढ शृङ्खला को स्वत तोड देती है। इतना ही नही, पराधीनता ने जिन आसक्तियो को उत्पन्न कर दिया था, स्वाधीनता की प्रियता का उदय होते ही वे स्वत गल जाती है जिनके गलते ही काम का अन्त हो जाता है और स्वाभाविक आवश्यता की पूर्ति अर्थात् अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है ।

यह नियम है कि प्राण जिसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है उसका अस्तित्व भासने लगता है, जिसका अम्तित्व भासने लगता है उस पर विश्वास होने लगता है, जिस पर विश्वास हो जाता है उससे सम्वन्ध हो जाता है, जिससे सम्वन्ध हो जाता है उसमे प्रियता स्वत उत्पन्न होती है, जिसमे प्रियता उत्पन्न हो जाती है उसकी स्मृति स्वत होने लगती है, जिसकी स्मृति होने लगती है, उसमे आसक्ति हो जाती है और जिसमे आसक्ति हो जाती है उसमे सत्यता, सुख-रूपता, सुन्दरता प्रतीत होने लगती है और फिर प्राणी उसके अधीन हो जाता है । इस कारण जिसकी स्वाभाविक आवश्यकता है उसके अतिरिक्त किसी और की सत्ता स्वीकार नही करनी चाहिए । वस्तु आदि की स्वीकृति से ही प्राणी उनमे आसक्त और उनके अधीन हो गया है, अथवा यो कहो कि प्राणी अपनी स्वीकृति मे आप वंध गया है । स्वीकृति का वन्धन अस्वीकृति से ही मिट सकता है । उसके लिए किसी अभ्यास-विशेष की आवश्यकता नही है । यदि कोई अस्वीकृति मात्र को ही अभ्यास मान ले तो इसी अभ्यास की अपेक्षा है, किसी और की नही ।

अस्वीकृति के लिए केवल वस्तुओ के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान अपेक्षित है,किसी वस्तु की अपेक्षा नही है। वस्तुओ के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान जिसमे निहित है वह ज्ञान प्राणी को स्वत प्राप्त है,अत प्राप्त विवेक के आदर-मात्र से ही वस्तुओ के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है । वस्तुओ के यथार्थ ज्ञान मे ही वस्तुओ की अस्वीकृति निहित है, चित्तशुद्धि मे हेतु है ।

स्वाभाविक आवश्यकता उसी की है जिसके बिना प्राणी किसी प्रकार नही रह सकता । जिसके बिना किसी प्रकार नही रह सकता उसकी नित्य प्राप्ति होनी चाहिए और उससे देश-काल की दूरी भी नही हो सकती अर्थात् वह सर्वत्र सर्वदा है, परन्तु उससे भिन्न की सत्ता स्वीकार करने का परिणाम यह हुआ है कि जो नित्य प्राप्त है वह अप्राप्त-सा प्रतीत होता है और जो अप्राप्त है वह प्राप्त प्रतीत होता है अथवा यो कहो कि प्राप्त मे अप्राप्त-बुद्धि और अप्राप्त मे प्राप्त-बुद्धि हो गई है, जो चित्त की अशुद्धि है ।

स्वीकृतिमात्र से जो अनेकता प्रतीत हो रही है वह अस्वीकृति-मात्र से मिट सकती है जिसके मिटते ही अनेकता मे एकता का दर्शन होता है । ज्यो-ज्यो एकता की प्रियता सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यो-त्यो अनेकता की प्रतीति स्वत गलती जाती है और चित्त शुद्ध होता जाता है । अनेकता की प्रतीति का अस्तित्व मिटते ही चित्त सर्वांश मे शुद्ध हो जाता है और फिर किसी प्रकार का प्रलोभन, भय, भिन्नता तथा भेद शेष नही रहता और फिर स्वाभाविक प्रीति का उदय होता है, जिसके होते ही प्रेमी को प्रेमास्पद से, जिज्ञासु को तत्त्वज्ञान से और योगी को योग से भिन्न की सत्ता ही नही भासती, अथवा यो कहो कि जो प्रेमी का प्रेमास्पद है वही जिज्ञासु का तत्त्वज्ञान है और योगी का योग है अर्थात् उस एक ही मे प्राणी अपनी-

अपनी रुचि तथा योग्यतानुसार अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करता है, क्योकि प्रत्येक प्राणी मे विवेक-शक्ति, भाव-शक्ति और श्रम-शक्ति है।

विवेक-भाव और क्रिया तीनो ही के द्वारा किसी एक हा की प्राप्ति होती है अथवा यो कहो कि क्रिया, भाव तथा विवेक तीनो प्रेम मे विलीन हो जाते हैं, क्योकि प्रेम भिन्नता तथा भेद का नाशक है और रस का उत्पादक है जिसकी सभी को स्वाभाविक आवश्यकता है। अत अनेकता की अस्वीकृति से प्रेम को प्राप्त कर चित्त शुद्ध करना अनिवार्य है।

प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता को अस्वीकार करने पर यदि सकल्पो की उत्पत्ति प्रतीत हो तो उनके उद्गम की खोज करना चाहिए। खोज करते ही यह स्पष्ट विदित होगा कि वस्तुओ मे अहम्बुद्धि स्वीकार करना ही सकल्पो का उद्गम है। उस उद्गम का अन्त अर्थात् वस्तु मे से अहम्बुद्धि का त्याग करने पर वे सभी सकल्प अपने आप मिट जायेगे जिनकी पूर्ति सम्भव नही है, तथा जिनकी पूर्ति मे किसी का अहित है अर्थात् अशुद्ध और अनावश्यक सकल्प निवृत्त हो जायेगे और आवश्यक तथा शुद्ध सकल्प कर्तृत्व के अभिमान तथा फल की आशा से रहित स्वत पूरे हो जायेगे और निर्विकल्पता अपने आप आ जायगी जिसके आते ही शाति का उदय होगा जो सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की प्रतीक है। प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता की अस्वीकृति और देहरूपी वस्तु मे से अहम्बुद्धि का त्याग हो जाने पर जो सकल्प प्रतीत होते हैं, वे केवल भुने हुए दाने के समान हैं। उनके आधार पर काम की उत्पत्ति नही होती। उस पर भी यदि सकल्प उत्पत्ति प्रतीत होती हो तो उनका सम्बन्ध जिन वस्तुओ से है उन वस्तुओ की सत्यता स्वीकार नही करनी चाहिए, अपितु उन वस्तुओ मे तत्व रूप से अपने प्रेमास्पद का ही दर्शन करना चाहिए। सकल्प और वस्तु की

सत्यता का अभाव होते ही प्रेमास्पद से भिन्न की प्रतीत ही न होगी,अथवा यो कहो कि प्रेमी और प्रेमास्पद की नित-नव लीला ही का दर्शन होगा। ज्यो-ज्यो प्रेम सबल होता जायेगा त्यो-त्यो प्रेमी का अस्तित्व गल कर प्रेम मे परिणत होता जायगा और फिर प्रेम और प्रेमास्पद की सत्ता रह जायगी अर्थात् प्रेम मे प्रेमास्पद और प्रेमास्पद मे प्रेम ही प्रेम रह जायगा, क्योकि प्रेमी और प्रेमास्पद में प्रेम का ही आदान-प्रदान है।

जिज्ञासु जिसकी जिज्ञासा है उसमे, सेवक अपने सेव्य मे और प्रेमी अपने प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता स्वीकार न करे तो वडी ही सुगमता पूर्वक चित्त शुद्ध हो सकता है। चित्त शुद्ध होते ही जिज्ञासु जिज्ञासा, सेवक सेवा और प्रेमी प्रेम होकर उस अनन्त से अभिन्न हो जाता है, जो सभी का सब कुछ है जिससे सभी को सत्ता मिलती है अथवा यो कहो जो अपनी महिमा मे आप स्थित है उसका योग ही वास्तविक योग, उसका ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान और उसका प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। उससे भिन्न का योग भोग है योग नही, उससे भिन्न का ज्ञान वास्तविक ज्ञान नही है, उससे भिन्न का प्रेम वास्तविक प्रेम नही है। जो वास्तविक योग, ज्ञान तथा प्रेम नही है उससे मोह आसक्ति तथा अनेक विकार उत्पन्न होते है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अत अपने से भिन्न की सत्ता को अस्वीकार कर चित्त को शुद्ध कर वास्तविक योग, ज्ञान तथा प्रेम प्राप्त कर कृत-कृत्य हो जाने मे ही जीवन की पूर्णता सिद्ध है।

१२—६—५६

४२

व्यक्ति, दृश्य एवं दृष्टियां

[व्यक्ति एक है, दृश्य भी एक है पर दृष्टिया अनेक है। इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव की आसक्ति से चित्त अशुद्ध होता है। भोग-प्रवृत्ति के दुष्परिणाम की अनुभूति से व्यक्ति को इन्द्रिय-दृष्टि पर सन्देह होता है जिससे बुद्धि-दृष्टि का आदर होने लगता है। तब विवेक-दृष्टि उदय होती है जो काम का अन्त कर चिर-शाति, स्वाधीनता एव चिन्मयता की ओर उन्मुख करता है। तब अन्तर्दृष्टि जागृत होती है जो भेद व दूरी का अन्त कर प्रीति-दृष्टि का उदय कराती है जो भोग-वासनाओ का अन्त कर जड-चिद्-ग्रन्थि खोल देती है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

व्यक्ति एक है, दृश्य भी एक है पर दृष्टिया अनेक है। व्यक्ति जिस दृष्टि से दृश्य को देखता है उसके अनुसार उस पर प्रभाव पडता है। इन्द्रिय-दृष्टि सबसे स्थूल दृष्टि है। इसके प्रभाव की आसक्ति से चित्त अशुद्ध होता है। इन्द्रिय-दृष्टि से दृश्य मे सत्यता, सुन्दरता तथा अनेकता का भास होता है अथवा यो कहो कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—विषयो मे रुचि उत्पन्न होती है, जिससे इन्द्रियाँ विषयो के, मन इन्द्रियो के और बुद्धि मन के अधीन हो जाती है, जो वास्तव मे चित्त की अशुद्धि है। बुद्धि मन के,

मन इन्द्रियो के और इन्द्रिया विषयो के आधीन होते ही वस्तुओ मे जीवन-वुद्धि हो जाती है,जिसके होते ही प्राणी सुख-लोलुपता, जडता, पराधीनता, शक्तिहीनता आदि दोषो मे आबद्ध हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह बेचारा सकल्प-पूर्ति-अपूर्ति के द्वन्द्व मे आबद्ध होकर सुखी-दु खी होने लगता है। ऐसा कोई सकल्प-पूर्ति का सुख है ही नही जिसके आदि और अन्त मे दु ख का दर्शन न हो। इतना ही नही सुख-काल मे भी सुख मे स्थिरता नही रहती। जिस प्रकार तीव्र भूख लगने पर प्रथम ग्रास मे जितना सुख भासता है उतना दूसरे मे नही, अर्थात् प्रत्येक ग्रास मे क्रमश सुख की क्षति होती जाती है और अन्तिम ग्रास मे सुख नही रहता, केवल भोग की क्रिया-जनित सुखद स्मृति ही रह जाती है, जो नवीन सकल्पो को उत्पन्न करती है और प्राणी पुन उसी स्थिति मे आ जाता है जिसमे सकल्प-पूर्ति के सुख से पूर्व था, अर्थात् सकल्प-उत्पत्ति का दु ख ज्यो-का-त्यो भासने लगता है। उसी प्रकार प्रत्येक भोग-प्रवृत्ति का परिणाम होता है।

भोग प्रवृत्ति के इस दुष्परिणाम की अनुभूति से व्यक्ति को इद्रिय-दृष्टि पर सन्देह होता है।इसके होते ही बुद्धि-दृष्टि का आदर होने लगता है। ज्यो-ज्यो बुद्धि-दृष्टि का आदर बढने लगता है त्यो-त्यो इन्द्रियदृष्टि का प्रभाव मिटने लगता है। सर्वांश मे इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मिट जाने पर अन्य वस्तुओ की तो कौन कहे जिस शरीर मे सत्यता, सुन्दरता, सुखरूपता प्रतीत होती थी, वह शरीर मल-मूत्र की थैली तथा अनेक व्याधियो का घर प्रमाणित होता है। बुद्धि-दृष्टि के स्थायी होते ही शरीर आदि वस्तुओ से सम्बन्ध-विच्छेद करने की रुचि उत्पन्न हो जाती है, क्योकि प्रत्येक वस्तु मे सतत् परिवर्तन तथा क्षणभगुरता का दर्शन स्पष्ट होने लगता है। अथवा यो कहो कि कोई भी वस्तु इन्द्रिय-दृष्टि से

कर देती है और अन्तर्दृष्टि की पूर्णता मे ही प्रीति की दृष्टि निहित है जो सभी दृष्टियो के भेद को खाकर चित्त को सदा के लिए शुद्ध, शात तथा स्वस्थ कर देती है ।

सर्व का द्रष्टा एक है । समस्त दृष्टिया उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं और उसी की सत्ता से सत्ता पाती है । किसी भी दृष्टि की अपनी स्वतत्र सत्ता नही है । अथवा यो कहो कि सर्व दृष्टियाँ सर्व के द्रष्टा मे ही विलीन हो कर उससे अभिन्न हो जाती हैं और अन्त मे प्रीति की दृष्टि ही सर्व के द्रष्टा को रस प्रदान कर उसे आह्लादित करती है । प्रीति की दृष्टि मे ही सभी दृष्टियो का समावेश है । वही दृष्टि विश्व-प्रेम तथा आत्म-रति के रूप मे अभिव्यक्त होती है । प्रीति ऐसी निर्मल धारा है कि वह किसी मे आबद्ध नही रहती अपितु सभी को पार करती हुई अनन्त मे ही समाहित हो जाती है और सभी को रस प्रदान करती रहती है । प्रीति की धारा अविच्छिन्न रूप से वाहित होती रहती है । वह आदि और अन्त से रहित, देश-काल, वस्तु आदि की सीमा का अतिक्रमण करती हुई अनेक रूपो मे अपने प्रेमास्पद को ही पाकर कृत-कृत्य होती है । अत. इन्द्रिय, बुद्धि आदि सभी दृष्टियो को प्रीति की दृष्टि मे विलीन करना अनिवार्य है जो चित्त की शुद्धि से ही सम्भव है । क्योकि जब इन्द्रिय-दृष्टि बुद्धि-दृष्टि मे और बुद्धि-दृष्टि विवेक-दृष्टि मे विलीन हो जाती है तब चित्त शुद्ध हो जाता है, और अन्तर्दृष्टि तथा प्रीति की दृष्टि उदय होती है । इस प्रकार चित्त की शुद्धि मे ही जीवन की पूर्णता निहित है ।

१३—६ —५६

४३

रुचि-अरुचि के द्वन्द्व का अन्त

[रुचि-अरुचि के द्वन्द्व मे आवद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है। अपने को देह अथवा देह को अपना मान लेने पर रुचि-अरुचि का द्वन्द्व उत्पन्न होता है। समस्त परिस्थितियो से अतीत के जीवन को प्राप्त किए बिना रुचि-अरुचि का द्वन्द्व चलता रहता है अर्थात् प्राणी का चित्त राग-द्वेष से विक्षिप्त रहता है। विवेक-पूर्वक सभी अवस्थाओ से असग होकर अपनी रुचि के अनुसार साधन-निष्ठ होकर रुचि-अरुचि के द्वन्द्व का अन्त करने पर चित्त शुद्ध हो सकता है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

रुचि-अरुचि के द्वन्द्व मे आबद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है। रुचि राग को और अरुचि द्वेष को उत्पन्न करती है। राग से बन्धन और द्वेप से भेद की दृढता होती है। बन्धन से जडता तथा पराधीनता और भेद से भय तथा सघर्ष का जन्म होता है। जडता से अपने मे देह भाव की दृढता, पराधीनता से वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता, भय से प्राप्त शक्ति का ह्रास अर्थात् हृदय-दौर्बल्य और सघर्ष मे हिसा आदि विकारो की उत्पत्ति होती है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

अपने को देह अथवा देह को अपना मान लेने पर रुचि-

जैसी प्रतीत होती थी, अर्थात् उसका एक अपना अस्तित्व मालूम होता था, वह नही मालूम होता अपितु वह अनेक वस्तुओ का समूह प्रतीत होती है। इतना ही नही बुद्धि-दृष्टि से अनेकता मे एकता और व्यक्ति मे अव्यक्त प्रतीत होता है इस कारण वस्तुओ की आसक्ति मिट जाती है और वास्तविकता की जिज्ञासा जागृत होती है, जो सभी कामनाओ को खाकर स्वत पूरी हो जाती है। बुद्धि-दृष्टि से राग वैराग्य मे और भोग योग मे बदल जाता है।

फिर विवेक-दृष्टि उदय होती है जो काम का अन्त कर प्राणी को चिर-शाति तथा स्वाधीन एव चिन्मयता की ओर उन्मुख कर देती है, जिसके होते ही अन्तर्दृष्टि जागृत होती है जो भेद तथा दूरी का अन्त कर उसे अपने ही मे सतुष्ट कर देती है। अन्तर्दृष्टि की पूर्णता मे प्रीति की दृष्टि का उदय होना स्वाभाविक है। प्रीति की दृष्टि समस्त दृष्टियो मे एकता का बोध कराती है क्योकि प्रीति सभी से अभिन्नता प्रदान करने मे समर्थ है। प्रीति स्वभाव से ही सर्वत्र, सर्वदा अपने प्रेमास्पद को ही पाती है। कारण कि प्रीति ने प्रीतम से भिन्न किसी अन्य को कभी देखा ही नही। प्रीति की दृष्टि रसरूप होने से प्रेमास्पद मे नित-नूतनता का बोध कराती है। प्रीति पूर्णरूप से प्रीतम को देख ही नही पाती, क्योकि प्रीति और प्रीतम दोनो ही अनन्त, दिव्य तथा चिन्मय है। प्रीति के साम्राज्य मे जडता का लेश नही है। प्रीति पूर्ति-निवृत्ति से रहित होने से मिलन मे वियोग और वियोग मे भी मिलन का रस प्रदान करती है। अर्थात् प्रीति की दृष्टि से मिलन और वियोग दोनो ही रसरूप है। प्रीति स्वरूप से ही रसरूप है। उसमे अस्वाभाविकता लेशमात्र भी नही है इसी कारण अखण्ड तथा अनन्त है। प्रीति एक मे दो और दो मे एक का दर्शन कराती है अथवा यो कहो कि एक और दो की गणना से विलक्षण है। उसमे भेद और भिन्नता की तो गध

ही नही है। प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है और प्रीति मे ही प्रीतम का निवास है। चिन्मय साम्राज्य मे प्रीति और प्रीतम का नित्य विहार है अथवा यो कहो कि प्रेम के साम्राज्य मे प्रेम का ही आदान-प्रदान है।

इन्द्रिय और बुद्धि-दृष्टि का द्वन्द्व जब तक रहता है तब तक चित्त मे अशुद्धि रहती है। ये दोनो दृष्टिया प्रतीति के क्षेत्र मे ही कार्य करती है। बुद्धि-दृष्टि का अभाव वस्तुओ की स्थिति का अत कर उनसे अतीत के जीवन की लालसा जागृत करता है। इद्रिय दृष्टि ने जिन वस्तुओ की स्थिति स्वीकार की थी बुद्धि-दृष्टि उस स्थिति को वस्तुओ के उत्पत्ति-विनाश का क्रम-मात्र मानती है और कुछ नही अर्थात् वस्तु की स्थिरता बुद्धि-दृष्टि स्वीकार नही करती। उसका परिणाम यह होता है कि दृश्य से विमुखता हो जाती है और विवेक-दृष्टि उदय होती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है क्योकि अशुद्धि अविवेकसिद्ध है।

इन्द्रिय-दृष्टि भोग की रुचि को सबल बनाती है, बुद्धि-दृष्टि भोगो से अरुचि उत्पन्न करती है और विवेक-दृष्टि भोग-वासनाओ का अन्त कर जड-चिद्-ग्रन्थि को खोल देती है। जिसके खुलते ही अन्तर्दृष्टि उदय होती है, जो अपने ही मे अपने प्रीतम को पाकर कृत-कृत्य हो जाती अर्थात् पर और स्व का भेद गल जाता है। अतर्दृष्टि श्रम-रहित स्वाभाविक है, गति और स्थिरता दोनो से विलक्षण है। वह सब प्रकार के अभिमान का अन्त कर देती है। विवेक-दृष्टि ने जिस चिन्मय राज्य मे प्रवेश कराया था, अन्तर्दृष्टि उसी मे सन्तुष्ट कर कृत-कृत्य कर देती है।

इन्द्रिय-दृष्टि पर बुद्धि-दृष्टि शासन करती है और बुद्धि-दृष्टि को विवेक-दृष्टि प्रकाश देती है और अतर्दृष्टि विवेक-दृष्टि को पुष्ट करती है। जब बुद्धि-दृष्टि इन्द्रिय-दृष्टि के उत्पन्न किए हुए राग का

नाश कर देती है तव अकर्त्तव्य कर्त्तव्य मे बदल जाता है अर्थात् स्वार्थ-भाव सेवा-भाव मे विलीन हो जाता है, जो रागरहित प्रवृत्ति मे हेतु है। राग-रहित प्रवृत्ति वाह्य जीवन मे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करती है, जिससे परस्पर मे कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता सुरक्षित रहती है जिससे वैर-भाव की गन्ध भी नही रहती। वैर-भाव का अन्त होते ही निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुणो का प्रादुर्भाव स्वत हो जाता है।

इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव भले ही असाधन रूप हो, क्योकि वह राग का पोषक है, परन्तु बुद्धि-दृष्टि के नेतृत्व मे इद्रिय-दृष्टि का उपयोग साधन रूप है,कारण कि वुद्धि-दृष्टि भाव मे पवित्रता उत्पन्न कर कर्म को शुद्ध कर देती है। कर्म की शुद्धि मे ही सुन्दर समाज का निर्माण निहित है जिससे पारस्परिक सघर्ष शेष नहीं रहता क्योकि कर्म की शुद्धि किसी के अधिकार का अपहरण नही करती प्रत्युत रक्षा करती है। जो किसी के अधिकार का अपहरण नही करता उसमे अधिकार-लोलुपता शेष नही रहती,क्योकि अधिकार-लोलुपता उसी मे निवास करती है जो दूसरो के अधिकार का अपहरण करता है। जिसने दूसरो के अधिकार की रक्षा को, ही अपना कर्तव्य स्वीकार किया है उसकी दृष्टि दूसरों के कर्तव्य पर नही जाती, कारण कि कर्तव्य-परायणता मे जो विकास है वह अधिकार मागने मे नही है। अधिकार लालसा तो उन्ही प्राणियो मे निवास करती है जिन्होने बुद्धि-दृष्टि का आदर नही किया। बुद्धि-दृष्टि प्राणी को कर्तव्यनिष्ठ वनाकर विवेक-दृष्टि मे प्रतिष्ठित कर जडता से विमुख कर देती है। जडता की विमुखता मे विपमता नही है अर्थात् समता है जो वास्तव मे योग है। योग मे इन्द्रियाँ विपयो से विमुख होकर मन की निर्विकल्पता मे विलीन हो जाती है, जिसके होते ही निर्विकल्प स्थिति स्वत हो

जाती है जिसके होते ही अनेकता एकता से और विषमता ममता से अभिन्न हो जाती है अथवा यो कहो कि एकता अनेकता को और समता विषमता को खा लेती है और फिर विवेक का प्रकाश पूर्ण रूप से उदय होता है जो निर्विकल्प स्थिति से असंग कर काम का अन्त कर देता है। काम का नाश होते ही भोक्ता, भोग्य-वस्तु और भोगने के साधन ये तीनो ही गल कर जो सर्व का द्दष्टा है उसमे विलीन हो जाते हैं और फिर अन्तर्दृष्टि स्वत जागृत होती है जो त्रिपुटी का अत्यत अभाव कर देती है अन्तर्दृष्टि में पूर्ण स्वाधीनता है और अप्रयत्न ही प्रयत्न है जिससे अखण्ड, एक रस, नित्य-जीवन से अभिन्नता होती है। नित्य-जीवन से ही सभी को सत्ता मिलती है क्योकि नित्य-जीवन के अतिरिक्त और किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नही है। नित्य-जीवन की प्राप्ति मे प्रेम स्वत. सिद्ध है क्योकि अनित्य जीवन मे जो आसक्ति के रूप मे प्रतीत होती थी वही नित्य-जीवन मे प्रीति के स्वरूप में बदल जाती है। नित्य-जीवन जिसका स्वरूप है प्रीति उसी का स्वभाव है। स्वरूप से स्वभाव और स्वभाव से स्वरूप भिन्न नही होता। जिस प्रकार सुर्य की किरणे और प्रकाश सूर्य से अभिन्न हैं उसी प्रकार नित्य-जीवन के स्वरूप और स्वभाव मे अभिन्नता है। प्रीति की दृष्टि अन्तर और बाह्य भेद की नाशक है और उनका प्रभाव समस्त दृष्टियो मे ओत-प्रोत है। ज्यो-ज्यो प्रीति की दृष्टि सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यो-त्यो सभी दृष्टियाँ गलकर प्रीति से अभिन्न होती जाती है और फिर प्रीति और प्रीतम से भिन्न की सत्ता ही शेष नही रहती।

इन्द्रिय-दृष्टि की सत्यता मिटते ही बुद्धि-दृष्टि सबल हो जाती है। बुद्धि दृष्टि का पूर्ण उपयोग होते ही विवेक-दृष्टि स्पष्ट प्रकाशित होती है,जो अतर्दृष्टि को जागृत कर चिन्मय जीवन से अभिन्न

कर देती है और अन्तर्दृष्टि की पूर्णता मे ही प्रीति की दृष्टि निहित है जो सभी दृष्टियो के भेद को खाकर चित्त को सदा के लिए शुद्ध, शात तथा स्वस्थ कर देती है ।

सर्व का दृष्टा एक है । समस्त दृष्टिया उसी के प्रकाश से प्रकाशित है और उसी की सत्ता से सत्ता पाती है । किसी भी दृष्टि की अपनी स्वतत्र सत्ता नही है । अथवा यो कहो कि सर्व दृष्टियाँ सर्व के दृष्टा मे ही विलीन हो कर उससे अभिन्न हो जाती है और अन्त मे प्रीति की दृष्टि ही सर्व के दृष्टा को रस प्रदान कर उसे आह्लादित करती है । प्रीति की दृष्टि मे ही सभी दृष्टियो का समावेश है । वही दृष्टि विश्व-प्रेम तथा आत्म-रति के रूप मे अभिव्यक्त होती है । प्रीति ऐसी निर्मल धारा है कि वह किसी मे आवद्ध नही रहती अपितु सभी को पार करती हुई अनन्त मे ही समाहित हो जाती है और सभी को रस प्रदान करती रहती है । प्रीति की धारा अविच्छिन्न रूप से वाहित होती रहती है । वह आदि और अन्त से रहित, देश-काल, वस्तु आदि की सीमा का अतिक्रमण करती हुई अनेक रूपो मे अपने प्रेमास्पद को ही पाकर कृत-कृत्य होती है । अत इन्द्रिय, बुद्धि आदि सभी दृष्टियो को प्रीति की दृष्टि मे विलीन करना अनिवार्य है जो चित्त की शुद्धि से ही सम्भव है । क्योकि जव इन्द्रिय-दृष्टि बुद्धि-दृष्टि मे और वुद्धि-दृष्टि विवेक-दृष्टि मे विलीन हो जाती है तव चित्त शुद्ध हो जाता है, ओर अन्तर्दृष्टि तथा प्रीति की दृष्टि उदय होती है । इस प्रकार चित्त की शुद्धि मे ही जीवन की पूर्णता निहित है ।

१३-६-५६

४३

रुचि-अरुचि के द्वन्द्व का अन्त

[रुचि-अरुचि के द्वन्द्व मे आबद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है। अपने को देह अथवा देह को अपना मान लेने पर रुचि-अरुचि का द्वन्द्व उत्पन्न होता है। समस्त परिस्थितियो से अतीत के जीवन को प्राप्त किए विना रुचि-अरुचि का द्वन्द्व चलता रहता है अर्थात् प्राणी का चित्त राग-द्वेष से विक्षिप्त रहता है। विवेक-पूर्वक सभी अवस्थाओ से असग होकर अपनी रुचि के अनुसार साधन-निष्ठ होकर रुचि-अरुचि के द्वन्द्व का अन्त करने पर चित्त शुद्ध हो सकता है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

रुचि-अरुचि के द्वन्द्व मे आबद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है। रुचि राग को और अरुचि द्वेष को उत्पन्न करती है। राग से बन्धन और द्वेष से भेद की दृढता होती है। बन्धन से जड़ता तथा पराधीनता और भेद से भय तथा सघर्ष का जन्म होता है। जडता से अपने मे देह भाव की दृढता, पराधीनता से वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता, भय से प्राप्त शक्ति का ह्रास अर्थात् हृदय-दौर्बल्य और सघर्ष मे हिसा आदि विकारो की उत्पत्ति होती है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

अपने को देह अथवा देह को अपना मान लेने पर रुचि-

अरुचि का द्वन्द्व उत्पन्न होता है। रुचि-पूर्ति का प्रलोभन देह मे अहम्वुद्धि दृढ करता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी अपने को कर्म, चिन्तन और स्थिति मे आवद्ध कर भोक्ता हो जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार किसी भी भोग की सिद्धि प्रमाद तथा हिसा के विना सम्भव नही है कारण कि प्राप्त विवेक का अनादर किए विना कोई भी प्राणी देह से तद्रूप नही हो सकता और उसके विना अपने को कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व मे आवद्ध नही कर सकता अर्थात् "मैं भोक्ता हूँ" यह स्वीकृति दृढ नही हो सकती। "मैं भोक्ता हूँ" इस स्वीकृति के विना भोग-वासनाओ की उत्पत्ति हो ही नही सकती और भोग-वासनाओं की उत्पत्ति हुए विना भोग्य वस्तुओ से सम्वन्ध तथा उनमे आसक्ति सम्भव नही है। भोग प्रवृत्ति से भोग्य वस्तुओ का विनाश तो स्वाभाविक ही है। अत स्पष्टत विदित होता है कि प्रमाद तथा हिसा के विना भोग की सिद्धि नही हो सकती, क्योकि अपने को भोक्ता स्वीकार करना प्रमाद है और भोग्य वस्तुओ के विनाश मे हिसा है। हिसा और प्रमाद से चित्त अशुद्ध होता है।

देहाभिमान प्राणी को शुभाशुभ कर्म, सार्थक-निरर्थक चिन्तन एव सविकल्प तथा निर्विकल्प स्थिति मे आवद्ध करता है। यह नियम है कि किसी भी अवस्था मे आवद्ध होने से रुचि-अरुचि का द्वन्द्व चलता रहता है। शुभाशुभ कर्म प्राणी को स्थूल शरीर मे, सार्थक-निरर्थक चिन्तन सूक्ष्म शरीर मे और सविकल्प-निर्विकल्प स्थिति कारण शरीर मे आवद्ध करती है। कर्म की अपेक्षा चिन्तन मे और चिन्तन की अपेक्षा स्थिति मे अधिक स्वाधीनता एव व्यापकता है। तीनो अवस्थाओ का भोक्ता एक है। स्थूल शरीर मे आवद्ध होते ही वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थिति आदि की दासता उत्पन्न हो जाती है। निरर्थक चिन्तन प्राप्त वस्तु मे ममता और

अप्राप्त मे आसक्ति उत्पन्न करता है और सार्थक चिन्तन निरर्थक चिंतन को खाकर अचितता प्रदान करता है। सविकल्प तथा निर्विकल्प स्थिति सीमित अहम्-भाव को जीवित रखती है और शाति मे रमण कराती है, सीमित अहम्-भाव के रहते हुए न तो भेद का ही नाश होता है,न प्रेम का ही उदय होता है और न शान्ति से अतीत के जीवन मे ही प्रवेश होता है। भेद का नाश हुए बिना काम का नाश नही होता और काम का नाश हुए बिना भोक्तृत्व का अन्त नही होता,उसका अन्त हुए बिना बेचारा प्राणी कभी क्रिया,कभी चिन्तन और कभी स्थिति के क्षेत्र मे रमण करता है। क्रिया के क्षेत्र मे पराधीनता तथा श्रम की अधिकता है। उससे श्रमित तथा क्षुभित होकर प्राणी चिन्तन के क्षेत्र मे रमण करने लगता है। किन्तु स्थिति की अपेक्षा चिन्तन मे भी अधिक श्रम है। अत चिन्तन से श्रमित होकर स्थिति के क्षेत्र मे विश्राम लेता है। परन्तु क्रिया और चिन्तन-जनित राग के बने रहने के कारण स्थिति के क्षेत्र से भी उपराम होता है और फिर क्रिया तथा चिन्तन के क्षेत्र मे रमण करता हुआ स्थिति मे विश्राम लेता है। यह क्रम उस समय तक चलता ही रहता है जब तक सीमित अहम्-भाव गल न जाय अथवा यो कहो कि काम का अन्त न हो जाय।

काम का अन्त हुए बिना कामनाओ का नाश नही हो सकता और कामनाओ का नाश हुए बिना जिज्ञासा की पूर्ति सम्भव नही है। जिज्ञासा की पूर्ति के बिना निस्सन्देहता की प्राप्ति नही हो सकती। सन्देह रहते हुए कभी भी चित्त शुद्ध नही हो सकता।

सन्देह सदैव "यह" और "मैं" के सम्बन्ध मे होता है,क्योंकि जिसके सम्बन्ध मे कुछ नही जानते उसके सम्बन्ध मे सन्देह

नही होता, विश्वास अथवा अविश्वास होता है। सन्देह और अविश्वास मे भेद है। सन्देह मे किसी-न-किसी प्रकार की जानकारी होती है। विश्वास और अविश्वास मे केवल मान्यता होती है। अविश्वास अथवा विश्वास निर्णयात्मक होता है, पर सन्देह निर्णयात्मक नही होता। "यह" अर्थात् जो प्रतीति हो रहा है, "मैं" अर्थात् जिसकी स्वीकृति है अथवा जिसका भास होता है। प्रतीति मे सन्देह का कारण है उसके सतत परिवर्तन का ज्ञान। स्वीकृति भी परिस्थिति तथा अवस्था भेद से बदल जाती है, इस कारण "मैं" के सबध मे भी सन्देह होता है। सदेह जिज्ञासा की भूमि है। जिज्ञासा की जागृति प्रतीति से सम्बन्ध विच्छेद कराती है और स्वीकृति को अस्वीकृति से मिटा देती है। प्रतीति से सम्बन्ध विच्छेद होते ही ममता नष्ट हो जाती है और स्वीकृति को अस्वीकार करते ही अहम् का नाश हो जाता है। अहम् और मम का नाश होते ही काम का नाश हो जाता है। काम का नाश होते ही क्रिया, चिन्तन और स्थिति से अनासक्ति स्वत हो जाती है जो चित्त को शुद्ध कर देती है।

क्रिया-जनित सुख से अरुचि होते ही सार्थक चिंतन स्वत जागृत होता है। यह नियम है कि ज्यो-ज्यो सार्थक चिंतन सबल तथा स्थायी होता जाता है त्यो-त्यो सीमित अहम्-भाव निर्जीव होता जाता है। ज्यो-ज्यो सीमित अहम्-भाव निर्जीव होता जाता है त्यो-त्यो निर्विकल्पता स्वत आती जाती है। निर्विकल्पता के स्थायी होते ही शान्ति की अभिव्यक्ति अपने आप होती है, जो सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की प्रतीक है।

क्रिया-जनित सुख-लोलुपता से ही निरर्थक चिन्तन उत्पन्न होता है और स्थिति भग हो जाती है जो चित्त को अशुद्ध करती है, क्योकि क्रिया-जनित सुख-लोलुपता चेतना से जडता की ओर

गतिशील करता है, जिससे अहम् और मम पुष्ट होता है। अत क्रिया-जनित सुख-लोलुपता का अन्त करने के लिए यह अनिवार्य है कि स्वार्थ-भाव को सेवा-भाव मे परिवर्तित कर सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा सार्थक चिन्तन और सार्थक चिन्तन द्वारा निर्विकल्प स्थिति प्राप्त की जाय जो विकास का मूल है।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति क्रिया को चिन्तन मे और चिन्तन को स्थिति मे विलीन करती है और स्वार्थ-भाव से उत्पन्न प्रवृत्ति स्थिति से चिन्तन की ओर और चिन्तन से क्रिया की ओर गतिशील करती है। क्रिया से स्थिति की ओर गतिशील होने मे प्राणी जडता से चेतना की ओर जाता है और स्थिति से क्रिया की ओर गतिशील होने से चेतना से जडता की ओर गतिशील होता है। इस दृष्टि से क्रिया से स्थिति की ओर अर्थात् जडता से चेतना की ओर जाना चित्त को शुद्ध करना है और स्थिति से क्रिया की ओर, अर्थात् चेतना से जडता की ओर जाना चित्त को अशुद्ध करना है। क्योकि वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि मे आबद्ध होना जडता मे आवद्ध होना है और अनन्त, नित्य, चिन्मय-जीवन से विमुख होना है। इस कारण किसी भी अप्राप्त वस्तु, अवस्था आदि का आवाहन नही करना चाहिए। अपितु प्राप्त वस्तु अवस्था आदि से विमुख होकर चिन्मय-जीवन की ओर अग्रसर होने का प्रयास करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब प्रत्येक प्रवृत्ति सार्थक चिन्तन मे और सार्थक चिन्तन अचिन्तता अर्थात् निर्विकल्पता मे विलीन हो जाय, अर्थात् श्रमरहित स्थिति स्वत प्राप्त हो जाय, परन्तु उसमे भी रमण न हो। तभी चिन्मय जीवन मे प्रवेश हो सकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक परिस्थिति मे प्राणी का हित है, पर कब? जब परिस्थितियो मे जीवन-बुद्धि न हो, प्रत्युत प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग कर्तव्यबुद्धि से अथवा उस अनन्त के नाते, उन्ही की प्रसन्नतार्थ

अभिनय-रूप मे किया जाय। ऐसा करने से होने वाली प्रवृत्तियो का राग अकित न होगा और प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त मे स्वभाव से ही अनुराग अथवा तीव्र जिज्ञासा तथा शाति का उदय होगा, जिससे प्राणी बड़ी ही सुगमतापूर्वक परिस्थितियो से अतीत के जीवन से अभिन्न हो सकता है।

समस्त परिस्थितियो से अतीत के जीवन को प्राप्त किए विना रुचि-अरुचि का द्वन्द्व चलता ही रहता है अर्थात् प्राणी का चित्त राग और द्वेष से विक्षिप्त ही रहता है। अत रुचि-अरुचि का द्वन्द्व समाप्त करने के लिए या तो ऐसी रुचि जागृत् हो जाय जिसकी पूर्ति या अपूर्त्ति क्षोभ उत्पन्न न करे अथवा यो कहो कि नवीन रुचि को जन्म न दे या सभी रुचियो का अत हो जाय। इन दोनो अवस्थाओ मे वडी ही सुगमतापूर्वक रुचि-अरुचि का द्वन्द्व मिट सकता है। ऐसी रुचि जो कभी अरुचि मे न वदले प्रीति ही हो सकती है, क्योकि प्रीति पूर्त्ति-अपूर्त्ति से विलक्षण है, रसरूप है और रसरूप होने के कारण काम की नाशक है। जो काम की नाशक है उसीसे रुचि-अरुचि का द्वन्द्व मिट सकता है।

ऐसी अरुचि, जिससे किसी रुचि का जन्म न हो, असगता ही हो सकती है। क्योकि असंगता से भी निर्वासना आ जाती है, जो समस्त रुचियो का अन्त करने मे समर्थ है। इतना ही नही निर्वासना से प्रीति सवल होती है और प्रीति से वासनाओ का अन्त होता है। इस दृष्टि से प्रीति-रूपी रुचि और असगता-रूपी अरुचि से रुचि-अरुचि का द्वन्द्व सदा के लिए मिट सकता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

असगता तथा प्रीति इन दोनो से ही कर्म, चिन्तन और स्थिति तीनो ही से सम्वन्ध विच्छेद हो सकता है, क्योकि प्रीति और असगता दोनो ही से देहाभिमान गल जाता है, जिसके गलते

ही अहम् और मम का नाश हो जाता है। अहम् के नाश से परिच्छिन्नता मिट जाती है और मम के नाश से असीम प्रीति उदय होती है। परिच्छिन्नता का नाश होते ही भेद मिट जाता है और असीम प्रीति के उदय होने से भिन्नता मिट जाती है। भेद और भिन्नता के मिटते ही योग, ज्ञान तथा प्रेम के साम्राज्य मे प्रवेश हो जाता है, अथवा यो कहो कि भोग, मोह एव द्वेष का सदा के लिए अन्त हो जाता है। भोग-वासनाओ का अन्त होते ही स्वभाव से ही योग, मोह का अन्त होते ही स्वभाव से ही बोध और द्वेष का अन्त होते ही स्वभाव से ही प्रेम की अभिव्यक्ति, होती है, योग मे शाति, सामर्थ्य, स्वाधीनता और बोध मे अनन्त, नित्य जीवन तथा प्रेम मे अगाध, अनन्त रस निहित है। रुचि तथा योग्यता भेद इन तीनो मे से किसी भी एक की उपलब्धि हो जाने पर तीनो ही प्राप्त हो जाते हैं, क्योकि योग की पूर्णता मे बोध तथा प्रेम और बोध की पूर्णता मे योग तथा प्रेम और प्रेम के प्राकट्य मे योग तथा बोध स्वत सिद्ध है। जिन प्राणियो की प्रत्येक प्रवृत्ति प्रीति से उदय होकर प्रीति मे ही विलीन होती है वे प्रेम प्राप्त कर ज्ञान तथा योग प्राप्त कर लेते हैं और जिन प्राणियो की प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त राग-रहित होने मे होता है वे योग प्राप्त कर ज्ञान और प्रेम प्राप्त कर लेते हैं, क्योकि राग-रहित भूमि मे ही योगरूपी वृक्ष की उत्पत्ति होती है और योगरूपी वृक्ष मे ही ज्ञान-रूपी फल लगता है जो प्रेम-रूपी रस से परिपूर्ण है। जो प्राणी विवेकपूर्वक सभी अवस्थाओ से असग हो जाते हैं उन्हे ज्ञान, योग तथा प्रेम की प्राप्ति स्वत हो जाती है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भावननिष्ठ होकर रुचि-अरुचि के द्वन्द्व का अन्त कर चित्तशुद्धि कर सकता है। १४—६—५६

४४

अहम् और वस्तु का विभाजन

[वस्तु मे अहम्-बुद्धि तथा अहम् मे वस्तु-बुद्धि होने से मोह तथा काम की उत्पत्ति होती है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। वस्तु और अहम् के विभाजन से दोनो ही का स्वतन्त्र अस्तित्व नही रहता, जिसके न रहने से अलौकिक, दिव्य, चिन्मय, अनन्त,नित्य जीवन की ही सत्ता शेप रहती है जो सभी का सब कुछ हैं।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

वस्तु मे अहम्-बुद्धि तथा अहम् मे वस्तु-बुद्धि होने से मोह तथा काम की उत्पत्ति होती है जिससे चित्त-अशुद्ध हो जाता है। मोह की उत्पत्ति से भेद और काम से अनेक आसक्तिया उत्पन्न हो जाती है जो चित्त को अशुद्ध कर देती हैं। वस्तु मे अहम्-बुद्धि होने से प्राणी जडता मे और अहम् मे वम्तु बुद्धि होने से परिच्छिन्नता मे आवद्ध हो जाता है। जडता मोह को और परिच्छिन्नता काम को पोषित करती है। मोह सयोग की दासता और वियोग का भय उत्पन्न करता है। सयोग की दासता से वन्धन और वियोग के भय से अभाव का जन्म होता है। यद्यपि बन्धन तथा अभाव किसी भी प्राणी को अभीष्ट नही है परन्तु बेचारा मोह-वश उसी मे जीवन बुद्धि स्वीकार कर लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राप्त

वस्तुओ से तो प्राणी की तद्रूपता हो जाती है, जिससे वह जडता मे आबद्ध हो जाता है और अप्राप्त वस्तुओ का आवाहन करता रहता है, जिससे अनेक प्रकार के अभावो से पीडित रहता है अथवा यो कहो कि सुख की आशा तथा दु ख के भय मे आबद्ध रहता है, जो चित्त की अशुद्धि है ।

अहम् मे वस्तु-बुद्धि स्वीकार करते ही परिच्छिन्नता उत्पन्न होती है, जो काम को जन्म देती है । काम का जन्म होते ही परिवर्तनशील वस्तुओ मे सत्यता तथा सुन्दरता भासित होने लगती है जिससे बेचारा प्राणी अनत, नित्य सौन्दर्य्य से विमुख होकर सीमित, परिवर्तनशील सौन्दर्य्य मे आबद्ध हो जाता है । उस सौन्दर्य का आसक्ति अनेक कामनाओ को जन्म देती है, जिससे बेचारा प्राणी कामना-पूर्ति-अपूर्ति से सुखी दु खी होता रहता है अथवा यो कहो कि दीनता तथा अभिमान की अग्नि मे जलता रहता है, जिससे चित्त अशुद्ध होता है ।

अब विचार यह करना है कि सर्व प्रथम अहम् का भास होता है अथवा वस्तु की प्रतीत होती है । किसी भी वस्तु की प्रतीति उस समय तक नही होती जिस समय तक अपने मे परिच्छिन्नता का भास न हो और परिच्छिन्नता का भास उस समय तक नही होता जिस समय तक अहम्-स्फूर्ति मे किसी मान्यता विशेष की स्वीकृति हो नही जाती । अत अहम्-स्फूर्ति मे किसी मान्यता की स्वीकृति होने पर ही कामनाओ का जन्म होता है और कामनाओ की उत्पत्ति से ही वस्तुओ की प्रतीति होती है । इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि सर्व प्रथम अहम्-स्फूर्ति मे ही मान्यता की स्थापना हुई । तद्यपि उस काल का ज्ञान किसी भी व्यक्ति को नही है जिस काल मे मान्यता की स्थापना की गई थी, परन्तु मान्यता की निवृत्ति अथवा उसमे परिवर्तन होता है, इससे यह स्वीकार करना पडता है कि मान्यता की स्थापना हुई थी ।

यह सभी की अनुभूति है कि घोर निद्रा से जाग जाने पर प्राणी को सभी वस्तुओं से पूर्व अपने अहम् का भास होना है अथवा यो कहो कि प्राणी की प्रथम स्मृति अहम् की होती है। उसके पश्चात् दूसरी स्मृतिया आती है, जिनके आते ही प्राणी अपने को कुछ-न-कुछ मान लेता है। यद्यपि उस मान्यता का चित्र कर्तव्य-अकर्तव्य से भिन्न कुछ नही होता परन्तु निष्क्रियता काल मे भी प्राणी मान्यता की सत्यता को ज्यो का त्यो स्वीकार करता रहता है।

यदि मान्यता का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो उसका अभाव तथा उसमे परिवर्तन न होता। प्राणी जो कुछ करता है उससे मान्यता की सत्यता पुष्ट होती है तथा किसी परिस्थिति से सम्बन्ध हो जाता है, जिससे वस्तुओ, प्रतीतियो व मान्यताओ मे अहम् बुद्धि दृढ हो जाती है, जो भेद की उत्पत्ति मे हेतु है।

कर्तव्यरूप मान्यता से विद्यमान राग-द्वेप की निवृत्ति होती है और अकर्तव्यरूप मान्यताओ से नवीन राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेप की निवृत्ति होने पर मन्यता को स्वीकृति मे सत्यता नही रहती, जिसके मिटते ही भेद तथा भिन्नता शेप नही रहती और स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। इस दृष्टि से कर्तव्यरूप मान्यताए चित्तशुद्धि का साधनमात्र है।

समस्त कर्त्तव्यो की परावधि राग-द्वेष की निवृत्ति तथा त्याग की पूर्णता एव प्रेम की प्राप्ति मे है। किन्तु कर्त्तव्यो की पूर्णता से जव तक प्राणी के जीवन मे आंशिक कर्त्तव्य है तब तक निष्क्रियता काल मे भी परिच्छिन्नता अर्थात् सीमित अहम्-भाव ज्यो का त्यो सुरक्षित रहता है। कर्त्तव्यपरायणता की दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त और दूसरी प्रवृत्ति की उत्पत्ति से पूर्व-काल मे मान्यता अव्यक्तरूप से भले ही हो पर व्यक्तरूप प्रतीत नही होती तव भी परिच्छिन्नता ज्यो की त्यो रहती है, क्योकि

ही अहम्-भाव मे अनेक मान्यताओ की स्वीकृति है। मान्यताओ के अनुरूप प्रवृत्ति का जन्म होता है। साधनरूप प्रत्येक प्रवृत्ति का जन्म व्यक्ति मे दूसरो के अधिकारो की रक्षा के लिए ही होता है। अर्थात् प्रवृत्ति द्वारा व्यक्ति दूसरो के अधिकारो की रक्षा करता है। उसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति मे से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है। यदि प्राणी दूसरो के अधिकार की रक्षा करते हुए अपने अधिकार की आशा न करे तो नवीन राग की उत्पत्ति नही होती। समस्त कर्त्तव्यो मे दो ही भाग होते हैं—एक दूसरो के अधिकार की रक्षा और दूसरा अपने अधिकार का त्याग। दोनो भागो की पूर्णता होने पर राग का अत्यन्त अभाव हो जाता है,जिसके होते ही द्वेष स्वत मिट जाता है। राग-द्वेष-रहित होते ही चित्त शुद्ध, स्वस्थ तथा शान्त हो जाता है।

सर्व प्रथम भासित होनेवाली अहम्-स्फूर्ति मे परिच्छिन्नता भले ही हो पर उसमे किसी गुण-दोष का आरोप नही होता-यद्यपि परिच्छिन्नता स्वय एक बडा दोष है परन्तु अव्यक्त होने के कारण वह दोष क्रियात्मक रूप धारण नही करता। उस अव्यक्त मे ही जब किसी मान्यता की स्थापना हो जाती है तब मान्यता के अनुरूप एक विधान का ज्ञान प्राणी को स्वत. होता है। यदि उस विधान के विपरीत कोई चेष्टा न की जाय तो साधनरूप मान्यता से सुन्दर समाज का निर्माण होने लगता है और व्यक्ति मे सदाचार की अभिव्यक्ति होती है अथवा यो कहो कि विधान और व्यक्ति के चरित्र मे एकता हो जाती है, जिसके होते ही सीमित अहम्-भाव अपने आप गलने गलता है। सर्वांश मे चरित्र और विधान की एकता होने पर समस्त दिव्य गुणो का प्रादुर्भाव स्वत हो जाता है जिसके होते ही चित्त की अशुद्धि का अत्यन्त अभाव हो जाता है।

वस्तु में अहम्-बुद्धि और अहम् में वस्तु-बुद्धि की स्वीकृति कब से हुई है उसका ज्ञान सम्भव नही है, परन्तु वस्तु मे से अहम्-बुद्धि का और अहम् मे से वस्तु-बुद्धि का त्याग हो सकता है। उसके लिए वस्तु और अहम् मे क्या भेद है यह जानना अनिवार्य है अर्थात् वस्तु और अहम् का क्या स्वरूप है ? वस्तु-रहित अहम् क्या है और अहम्-रहित वस्तु क्या है ? जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त है, जिसमे सतत् परिवर्तन है और जो पर-प्रकाश्य है उसे वस्तु कहते हैं। इस दृष्टि से समस्त दृश्य और समस्त परिवर्तनशील मान्यताएँ भी वस्तु ही है। वस्तुओ के सम्बन्ध से भेद और भिन्नता की उत्पत्ति होती है। जिस वस्तु मे अहम् की स्थापना हो जाती है उसमे सत्यता और प्रियता भासने लगती है, अर्थात् वस्तुओ से भेद की उत्पत्ति और अहम् से सत्यता और प्रियता का भास होता है। इसी कारण वस्तु और अहम् के सम्बन्ध से परिच्छिन्नता, जडता आदि दोपो की उत्पत्ति होती है और उन दोषो मे सत्यता,प्रियता और सुखरूपता भासने लगती है,जिससे अनेक आसक्तियाँ उत्पन्न हो जाती है,जिससे चित्त अशुद्ध,अशात और अस्वस्थ हो जाता है। चित्त के अशुद्ध होने से समस्त विकारो की,अशान्त होने से असमर्थता की और अस्वस्थ होने से पराधीनता की उत्पत्ति हो जाती है,जिससे वेचारा प्राणी मिथ्या अभिमान तथा घोर दीनता मे आवद्ध हो जाता है।

यदि वस्तु मे अहम्-वुद्धि न रहे तो जडता की और अहम् मे वस्तु-बुद्धि न हो तो परिच्छिन्नता की उत्पत्ति ही नही होती। जडता और परिच्छिन्नता के विना न तो काम की ही उत्पत्ति होती और न भेद की। काम और भेद के विना आसक्ति तथा मोह शेष नही रहता। मोह का अत होते ही जडता का अभाव, चिन्मय-नित्य जीवन से अभिन्नता और आसक्ति का अन्त होते ही प्रेम की

अभिव्यक्ति हो जाती है। प्रेम की अभिव्यक्ति तथा नित्य,चिन्मय जीवन की अभिन्नता मे स्वरूप की एकता है, कारण कि इन दोनो का विभाजन सम्भव नही है। वस्तु और अहम् के विभाजन से वस्तु और अहम् दोनो ही का स्वतन्त्र अस्तित्व नही रहता,जिसके न रहने से अलौकिक, दिव्य, चिन्मय, अनन्त, नित्य जीवन की ही सत्ता शेष रहती है,जो सभी का सब कुछ है। किसी ने उसे अपने मे और किसी ने उसमे अपने को पाया है।

पर यह तभी सम्भव होगा जब प्राणी या तो मूल दोष का अन्त कर सभी मान्यताओ से रहित हो वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाय अथवा साधनरूप मान्यता के अनुरूप साधननिष्ठ होकर राग-द्वेष का अन्त कर चित्त को शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ कर ले। चित्त के शुद्ध होने पर समस्त विकार अपने आप मिट जाते है, चित्त के शान्त होने पर आवश्यक सामर्थ्य का प्रादुर्भाव स्वत होता है अर्थात् असमर्थता शेष नही रहती और चित्त के स्वस्थ होने पर पराधीनता का नाश अर्थात् स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। निर्विकारता, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता प्राप्त होते ही सभी समस्याए स्वत हल हो जाती है।

प्रत्येक व्यक्ति को साधनरूप मान्यता के अनुरूप साधननिष्ठ होने के लिए आवश्यक परिस्थिति सामर्थ्य तथा योग्यता स्वत प्राप्त होती है, क्यो कि वह अनन्त की देन है। अत प्रत्येक साधक अपनी-अपनी रुचि तथा योग्यतानुसार साधन-परायण हो सकता है।कर्त्तव्यपरायणता समस्त साधनो की भूमि है। अनेक दार्शनिक भेद होने पर भी परिस्थिति के सदुपयोग मे कोई भेद नही है। अपने-अपने विश्वास, भाव तथा विवेक के अनुरूप प्रत्येक साधक का दृष्टिकोण भले ही भिन्न हो परन्तु परिस्थिति के सदुपयोग का जो क्रियात्मक रूप है उसमे प्रायः सभी की समानता है। यद्यपि

प्राकृतिक नियम के अनुसार दो व्यक्ति भी सर्वांश मे समान योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य के नही होते, परन्तु सभी की स्वाभाविक आवश्यकता अर्थात् लक्ष्य एक होना है। लक्ष्य की एकता के नाते सभी साधको मे मान्यता और कर्म का भेद होने पर भी स्नेह की एकता रहती है। स्नेह की भिन्नता किसी भी साधन मे नही है, क्योकि स्नेह की भिन्नता होने पर सिद्धि सम्भव ही नही है। स्नेह की व्यापकता ही राग-द्वेश का अन्त कर सकती है। राग-द्वेप के अन्त मे ही सिद्धि निहित है।

विवेकपूर्वक असगता से भी राग-द्वेप का अन्त हो जाता है, क्योकि अससंगता समस्त वासनाओ का अन्त कर भेद तथा भिन्नता को खा लेती है,जिसके मिटते ही कर्त्तव्यपालन कर्तृत्व के अभिमान से रहित स्वत होने लगता है।

विकल्परहित विश्वास के आधार पर समर्पित होते ही अनन्त की कृपा-शक्ति स्वतः राग-द्वेप को खा लेती है और त्याग तथा प्रेम को प्रदान करती है, जिससे स्वाधीनत्ता, अमरत्व तथा अगाध अनन्त रस की अभिव्यक्ति होती है।

कर्त्तव्यपरायणता, असगता और समर्पण इन तीनो के द्वारा चित्त शुद्ध हो सकता है। इनमे से किसी एक की पूर्णता होने पर तीनो की पूर्णता हो जाती है। अर्त्तव्यपरायणता से योग, असगता से बोध एव समर्पण से प्रेम की प्राप्ति होती है। योग, ज्ञान, प्रेम इन तीनो मे विभाजन सम्भव नही। ये तीनो उस अनन्त की विभूति है। इस रहस्य को वे ही जान सकते है जिन्होने वस्तुओ मे से अहम्-वुद्धि और अहम् मे से वस्तु-वुद्धि का त्याग कर काम और मोह से रहित होकर चित्त शुद्ध कर लिया है। १५-६-५६

४५

आसक्ति और अनासक्ति के द्वन्द्व का अन्त

[आसक्ति और अनासक्ति के द्वन्द्व मे ही चित्त की अशुद्धि निहित है। देह की आसक्ति के आधार पर ही समस्त वस्तुओ मे आसक्ति होती है क्योकि देह के लिये ही वस्तुओ की अपेक्षा है। सूक्ष्म-देह की आसक्ति ही विचारधाराओ, सम्प्रदायो तथा मतो मे आसक्ति उत्पन्न करती है।

सकल्प- निवृत्ति वस्तुओ की आसक्ति को खाकर अनासक्ति और सकल्प-निवृत्ति की असगता अहम् को खाकर अभिन्नता प्रदान करती है। अनासक्ति और अभिन्नता से चित्त शुद्ध हो जाता है और फिर आसक्ति अनासक्ति का द्वन्द्व शेप नही रहता क्योकि अहम् भाव गल जाने से आसक्ति की उत्पत्ति नही होती और अनासक्ति का अभिमान नही रहता, अत चित्त-शुद्धि के लिये अनासक्ति के अभिमान का अन्त करना भी अनिवार्य है।]

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय,

आसक्ति और अनासक्ति के द्वन्द्व मे चित्त की अशुद्धि निहित है, कारण कि वर्तमान जीवन के जिस स्तर मे केवल आसक्ति ही आसक्ति है उस स्तर मे अशुद्धि होने पर भी चित्त की शुद्धि का प्रश्न वर्तमान की वस्तु नही बनता, पर जीवन के जिस स्तर मे आसक्ति के साथ-साथ अनासक्ति का भी प्रकाश है उसी

स्तर मे चित्तशुद्धि की समस्या उत्पन्न होती है अर्थात् अनासक्ति के प्रकाश ने ही आसक्ति को मिटाने की प्रेरणा दी है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि आसक्ति ही चित्त की वास्तविक अशुद्धि है। संकल्प-अपूर्ति के दुःख का भय तथा संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता ही भोगासक्तियो को पोषित करती है, जिससे चित्त अशुद्ध होता है।

आसक्ति की वास्तविकता जान लेने पर आसक्ति मिटाने की सामर्थ्य स्वत आ जाती है। इस दृष्टि से आसक्ति के स्वरूप को जान लेना अनिवार्य है। आसक्ति सदैव उसके प्रति होती है जिसकी मानी हुई एकता और स्वरूप से भिन्नता हो। जिससे किसी प्रकार की एकता तथा भिन्नता नही होती उसमे आसक्ति नही होती। जिससे भिन्नता है ही नही उससे प्रेम होता है, आसक्ति नही। जिससे किसी प्रकार का सम्बन्ध नही है उसका त्याग हो सकता है, उसमे आसक्ति नही हो सकती अर्थात् आसक्ति उसी मे होती है जिससे सम्बन्ध की स्वीकृति और वास्तविक भिन्नता है। देह तथा देही मे ही सम्बन्ध की स्वीकृति और वास्तविक भिन्नता है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी को देह के परिवर्तन और अपने अपरिवर्तन का ज्ञान है। परिवर्तन और अपरिवर्तन मे वास्तविक एकता तथा अभिन्नता सम्भव नही है। इस दृष्टि से देही तथा देह के प्रति सम्बन्ध जनित एकता ही हो सकती है, वास्तविक नही। आसक्ति-जनक सम्बन्ध एकमात्र वस्तुओ के प्रति ही होता है। जो वस्तुओ से अतीत है उससे योग, ज्ञान तथा प्रेमयुक्त सम्बन्ध हो सकता है, आसक्ति-युक्त नही। योग, ज्ञान तथा प्रेमयुक्त सम्बन्ध भेद तथा भिन्नता का अन्त कर देता है। इस कारण, योग, ज्ञान तथा प्रेमपूर्वक जिससे सम्बन्ध होता है उसमे आसक्ति नही होती, प्रत्युत

एकता तथा अभिन्नता होती है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है।

यदि कोई यह कहे कि आसक्तिजनित सम्बन्ध दो व्यक्तियों में ही हो सकता है अथवा विभिन्न विचारधाराओं, दलो तथा सम्प्रदायो के प्रति भी हो सकता है, तो कहना होगा क्या कोई किसी व्यक्ति मे उस समय तक आसक्त होता है जब तक उसमें देहरूपी वस्तु की स्थापना न कर ले ? दो आसक्त प्राणी अपने को देह से अलग अनुभव कर क्या एक दूसरे मे आसक्त हो सकते है ? कदापि नही। इस दृष्टि से आसक्ति केवल वस्तु मे ही सिद्ध होती है, चाहे वह अपनी देह मे हो अथवा किसी अन्य मे। इतना ही नही, देह की आसक्ति के आधार पर ही समस्त वस्तुओ मे आसक्ति होती है, क्योकि देह के लिए ही वस्तुओ की अपेक्षा है। देहातीत के जीवन मे किसी वस्तु की अपेक्षा नही है। अर्थात् देह की आसक्ति को ही प्राणी अनेक वस्तुओ, अवस्थाओ एव परिस्थितियो की आसक्ति के रूप मे बनाए रखता है। यदि देह मे आसक्ति न रहे तो किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदि मे आसक्ति नही हो सकती। सूक्ष्म देह की आसक्ति ही विचार-धाराओ, सम्प्रदायो तथा मतो में आसक्ति उत्पन्न करती है। अपनी विचारधारा के प्रचार के लिए ही प्राणी बडे-बडे दलो का आविष्कार करता है। विचारो की आसक्ति ही दो दलो, दो सम्प्रदायो आदि मे संघर्ष उत्पन्न करती है। यद्यपि दो व्यक्ति भी सर्वांश मे एक नही होते, परन्तु फिर भी प्राणी आसक्ति-वश अपनी विचारधारा के आधार पर अनेक व्यक्तियो को सगठित कर व्यक्त-अव्यक्त रूप से अपने व्यक्तित्व की पूजा कराता है, जिससे बेचारा पराधीन होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है। सर्वांश मे अनासक्ति आ जाने पर प्रत्येक वस्तु, विचारधारा आदि का सदुपयोग हो सकता है पर परस्पर मे भेद तथा सघर्ष नही हो सकता। भेद तथा सघर्ष का अन्त होने पर चित्त शुद्ध

हो सकता है। अतः आसक्ति-अनासक्ति का द्वन्द्व रखते हुए चित्त शुद्ध नहीं हो सकता, अथवा यों कहो कि जब अनासक्ति आसक्तियों को खा लेती है तभी चित्त शुद्ध हो सकता है। अनासक्ति किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, विचारधारा आदि की नाशक नहीं है, अपितु उनकी दासता से मुक्त कर उनके सदुपयोग की प्रेरणा देती है। इस दृष्टि से अनासक्ति की भूमि में ही सभी का विकास निहित है।

वर्तमान वस्तुस्थिति में प्रत्येक प्राणी को संकल्प की उत्पत्ति, पूर्ति और अपूर्ति का चित्र दिखाई देता है। संकल्प-उत्पत्ति का दुःख सकल्प-पूर्ति से क्षणमात्र के लिए दब जाता है। परन्तु जब ऐसे सकल्प उत्पन्न हो जाते हैं जिनकी पूर्त्ति सम्भव नही तब वेचारा प्राणी संकल्प-पूर्ति के चिन्तन में आवद्ध होकर परिस्थितियों का दास वन जाता है। परिस्थितियों की दासता प्राप्त परिस्थिति में ममता और अप्राप्त परिस्थितियो का आवाहन कराती रहती है। ज्यों-ज्यो प्राप्त की ममता और अप्राप्त का चिन्तन दृढ़ होता जाता है, त्यो-त्यो वेचारा प्राणी पराधीनता तथा जडता मे आबद्ध होता जाता है जिससे चित्त की अशुद्धि दृढ होती जाती है।

यद्यपि सकल्प-उत्पत्ति से पूर्व भी जीवन है परन्तु प्राणी उस पर दृष्टि नहीं रखता। उसका परिणाम यह होता है कि संकल्प-पूर्ति का महत्त्व वढ जाता है। प्रत्येक सकल्प-पूर्त्ति के सुख की दासता नवीन संकल्प की जननी है। इस कारण सकल्प-पूर्त्ति को महत्त्व देने से सकल्पों की उत्पत्ति का प्रवाह चलता ही रहता है और अन्त मे संकल्प-अपूर्त्ति का दुःख ही शेष रहता है। इतना ही नही, वेचारा सकल्प-पूर्त्ति के सुख का भोक्ता पराधीन तथा असमर्थ होकर जड़ता मे आवद्ध हो जाता है, क्योकि भोग्य वस्तुओ का विनाश और भोगने की शक्ति का ह्रास तो हो ही जाता है,

पर उस बेचारे के चित्त मे केवल .भोगासक्ति ही अङ्कित रह जाती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

सकल्प-अपूर्ति का दु ख जब सकल्प-पूर्ति की महत्ता को खा लेता है तब सकल्प-निवृत्ति के जीवन मे श्रद्धा तथा विश्वास उत्पन्न होता है, जिसके होते ही अनावश्यक और अशुद्ध सकल्प तो उत्पन्न ही नही होते और 'आवश्यक तथा शुद्ध सकल्प पूरे हो होकर अपने आप मिटते जाते हैं, जिनके मिटते ही सकल्प-निवृत्ति की, जो कि प्रत्येक सकल्प की उत्पत्ति से पूर्व और पूर्ति के पश्चात् स्वाभाविक है, दृढता स्वत होने लगती है। सकल्प-निवृत्ति के स्तर पर दुःख नही है और अशान्ति, असमर्थता तथा पराधीनता भी नही है, इतना ही नही, ज्यो-ज्यो सकल्प-निवृत्ति की महत्ता और सुलभता चित्त मे अकित होती जाती है त्यो-त्यो सकल्प-पूर्ति का सुख नीरस होता जाता है। सकल्प-पूर्ति के सुख की नीरसता सकल्प-निवृत्ति की शान्ति को सबल तथा स्थायी बनाती है। ज्यो-ज्यो सकल्प-निवृत्ति की शान्ति दृढ तथा अचल होती जाती है त्यो-त्यो सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति स्वत होती जाती है। इस दृष्टि से सकल्प-निवृत्ति प्राणी को असमर्थता, पराधीनता एव जडता से रहित कर देती है।

सकल्प-निवृत्ति की शान्ति के द्वारा सकल्प-पूर्ति के सुख की नीरसता ज्यो-ज्यो स्थायी होती जाती है त्यो-त्यो प्राप्त वस्तुओ की ममता और अप्राप्त वस्तुओ का चिन्तन स्वत मिटता जाता है, जिसके मिटते ही बेचारा अहम्-भाव निर्जीव हो जाता है, कारण कि प्राप्त की ममता और अप्राप्त का चिन्तन ही उसका जीवन था। समस्त ममताओ का जो केन्द्र है वही सीमित अहम् का स्वरूप है। अत समस्त ममताओ का अन्त होते ही बेचारा अहम् अपने आप गल जाता है। यह नियम है कि अहम् के गलने

से सभी ममताए मिट जाती है और ममताओ के मिट जाने से अहम् गल जाता है। अहम् और मम का अत होते ही सभी आसक्तियाँ स्वत मिट जाती है,जिनके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

सकल्प-निवृत्ति की सुलभता तथा महत्ता दृढ होने पर प्राणी असाधारण जीवन की ओर अग्रसर होने लगता है क्योकि समस्त विकास सकल्प-निवृत्ति मे ही निहित है। सकल्प-निवृत्ति के स्तर पर दृढ होने से ही प्राणी चित्त-विज्ञान अर्थात् चित्त की वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करने मे समर्थ हो सकता है। चित्त कितनी गहरी खाई है इसका पता सकल्प-निवृत्ति के विना सम्भव नही है, क्योकि चित्त का निरोध अथवा चित्त का वाध वही कर सकता है जो सकल्प-निवृत्ति के स्तर पर ठहर सकता है, अथवा यो कहो कि चित्त का निरोध, चित्त का वाध तथा चित्त का अपने अभीष्ट लक्ष्य मे पूर्णरूप से लग जाना अर्थात् चित्त का लक्ष्याकार हो जाना तभी सम्भव है जब प्राणी सकल्प निवृत्ति की स्थिति को सुरक्षित रख सके। यहाँ तक कि उसकी शान्ति मे भी रमण न करे अर्थात् सकल्प-अपूर्ति के दु ख के भय, सकल्प-पूर्ति के सुख की दासता एव सकल्प-निवृत्ति की शान्ति से असग हो जाय। चित्त के निरोध मे योग, वाध मे ज्ञान और लक्ष्याकार होने मे प्रेम निहित है। इस दृष्टि से समस्त विकास का मूल चित्त की शुद्धि पर ही निर्भर है।

सकल्प-निवृत्ति से ही सकल्प-पूर्ति का सामर्थ्य आता है और सकल्प-निवृत्ति के महत्व से ही सकल्प-पूर्ति के सुख का राग मिट सकता है अर्थात् अनासक्ति प्राप्त हो सकती है। अनासक्ति के विना कोई भी प्राणी न तो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही कर सकता है और न अप्राप्त परिस्थिति की कामना से रहित हो सकता है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग किए विना परिस्थितियो से अतीत के जीवन मे न तो विश्वास तथा श्रद्धा ही हो सकती है

और न उसकी प्राप्ति ही सम्भव है। अतः भौतिक विकास और आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि सकल्प-निवृत्ति मे ही निहित है।

सकल्प-निवृत्ति के स्तर पर समर्थ और असमर्थ समान हो जाते हैं, कारण कि सकल्प-निवृत्ति मे दु ख की निवृत्ति है। दु ख की निवृत्ति होने पर सुख का महत्व अपने आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही सुखी और दुखी मे जो विषमता थी वह शेष नही रहती। जिस प्रकार गहरी नीद मे सभी प्राणी समान होते हैं उसी प्रकार सकल्प-निवृत्ति मे समता आ जाती है। गहरी नीद और सकल्प-निवृत्ति की समता मे एक बडा अन्तर यह है कि गहरी नीद की समता प्राणी को जडता मे आबद्ध करती है परन्तु सकल्प-निवृत्ति की समता चिन्मय जीवन की ओर अग्रसर करती है। परन्तु कब ? जब प्राणी सकल्प-निवृत्ति को ही जीवन नही मानता। यद्यपि सकल्प-निवृत्ति सकल्प-पूर्ति की अपेक्षा बड़े ही महत्व की वस्तु है, परन्तु वही जीवन नही है। सकल्प-पूर्ति और सकल्प-निवृत्ति मे एक बडा अन्तर यह है कि सकल्प-पूर्ति जिन साधनो से होती है, प्राणी उनके अधीन हो जाता है अर्थात् स्वाधीन नही रहता किंतु सकल्प-निवृत्ति के स्तर पर वस्तु, व्यक्ति आदि की पराधीनता नही रहती, परन्तु अह का महत्व सुरक्षित रहता है। सकल्प-पूर्ति वस्तु, व्यक्ति आदि के अधीन बनाती है और सकल्प-निवृत्ति अहम् का महत्व बढाती है। अहम् का महत्व वस्तुओ की अपेक्षा भले ही अधिक हो परन्तु वास्तविक जीवन मे अहम् का कोई महत्व नही है, क्योकि अहम् भेद को उत्पन्न करता है जो अनर्थ का मूल है।

वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिए सीमित अहम् का अन्त करना अनिवार्य है जो योग,ज्ञान तथा प्रेम की पूर्णता से ही सभव है। सकल्प-निवृत्ति मे जीवन बुद्धि न. रहने से अपने आप विचार

का उदय होता है जो काम का अन्त कर निस्सन्देहता प्रदान करने मे समर्थ है। निस्सन्देहता सभी अवस्थाओ से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देती है, क्योकि किसी भी अवस्था मे आवद्ध प्राणी सन्देह रहित नही हो सकता। निर्विकल्प स्थिति सभी अवस्थाओ मे श्रेष्ठ है परन्तु अवस्थातीत के जीवन का तो द्वार ही है। इस कारण प्राणी को वडी ही सावधानीपूर्वक निर्विकल्प स्थिति से असंग होना है।

अवस्था की आसक्ति अहम् को जीवित रखती है, और अवस्थाओ की असगता अहम् को भस्मीभूत कर देती है। अहम् का अन्त होते ही नित्य-योग, निस्सन्देहता एव प्रेम स्वत. प्राप्त होता है।

संकल्प-निवृत्ति वस्तुओ की आसक्ति को खाकर अनासक्ति और सकल्प-निवृत्ति की असंगता अहम् को खाकर अभिन्नता प्रदान करती है। अनासक्ति और अभिन्नता से चित्त शुद्ध हो जाता है और फिर आसक्ति-अनासक्ति का द्वन्द्व शेप नही रहता, क्योकि अहम्-भाव गल जाने से आसक्ति की उत्पत्ति नही होती और अनासक्ति का अभिमान नही रहता, अथवा यो कहो कि अनासक्ति का अभिमान भी एक आसक्ति ही है जिसके रहते हुए चित्त शुद्ध नही हो सकता। अतः चित्तशुद्धि के लिए अनासक्ति के अभिमान का अन्त करना भी अनिवार्य है।

१६—६—५६

४६

प्राप्त परिस्थिति द्वारा साधन-निर्माण

[किसी अप्राप्त-साधन के द्वारा किसी ऐसे साध्य की खोज करना जो सर्वत्र तथा सर्वदा नही है, चित्त को अशुद्ध करना है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को विवेकशक्ति, भावशक्ति और क्रियाशक्ति स्वत प्राप्त हैं। न्यूनाधिक का भेद भले ही हो पर प्राप्त सबको है। अत उनका सदुपयोग करके प्रत्येक व्यक्ति साधन-निर्माण कर साधननिष्ठ हो साध्य को प्राप्त कर सकता है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय

किसी अप्राप्त साधन के द्वारा किसी ऐसे साध्य की खोज करना जो सर्वत्र तथा सर्वदा नही है, चित्त को अशुद्ध करना है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक साधक को साधन-सामग्री स्वत प्राप्त है और उसीके सदुपयोग से साध्य की उपलब्धि अनिवार्य है, कारण कि वह साधन साधन नही जिसके करने में साधक असमर्थ हो और वह साध्य साध्य नही जिसकी प्राप्ति सम्भव न हो। साधन वही है जिसके करने मे साधक समर्थ तथा स्वाधीन है और साध्य वही है जिसकी प्राप्ति अवश्यम्भावी है। साधक और साधन के मध्य मे अगर कोई आवरण है तो वह असाधन है। साधन और असाधन मे केवल इतना ही भेद है कि प्राप्त वस्तु तथा सामर्थ्य का उपयोग निज सेवक के अनुरूप

होना साधन और उसके विपरीत होना असाधन है। साधक साधन से अभिन्न होकर अपने साध्य का प्रेम तथा उसका ज्ञान एवं अभिन्नता प्राप्त करने की लालसा रखता है। उसकी पूर्ति तभी सम्भव होगी जब साधक मे से असाधन का अन्त और साधन की अभिव्यक्ति हो जाय अर्थात् साधनरूपी प्रकाश असाधनरूपी अन्धकार को खा जाय।

असाधन का ज्ञान साधक मे स्वय है। यदि ऐसा न होता तो साधन की लालसा ही जागृत न होती। ऐसा कोई प्राणी नही है जिसके जीवन मे कर्त्तव्य का प्रश्न न हो और जिसका कोई लक्ष्य न हो। कर्त्तव्य का प्रश्न यह सिद्ध करता है कि वर्तमान वस्तु स्थिति मे किसी न किसी अश मे अकर्त्तव्य है। जब प्राणी निज विवेक के प्रकाश मे अकर्त्तव्य को जान लेता है तब बड़ी ही सुगमतापूर्वक उसका त्याग कर कर्त्तव्यनिष्ठ हो जाता है, कारण कि अकर्त्तव्य के त्याग मे कर्त्तव्यपालन का सामर्थ्य निहित है। कर्त्तव्यनिष्ठ होते ही असाधन मिट जाता है और साधन से अभिन्नता हो जाती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार साधन साध्य का स्वभाव है,और वही साधक का जीवन है। साधन के अतिरिक्त साधक का कोई अलग स्वतन्त्र अस्तित्व हो ही नही सकता। पर यह रहस्य तभी खुलता है जब साधक अपने जाने हुए तथा बनाए हुए असाधन का अन्त कर साधन से अभिन्न हो जाय।

असावधानी के कारण बेचारा प्राणी असाधन को देखने की दृष्टि का उपयोग अपनी वस्तुस्थिति पर न करके दूसरो पर करने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि साधक के जीवन मे साधन और असाधन का द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। असाधन का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है।

साधक की असावधानी से ही असाधन की उत्पत्ति और उसका पोषण होता है, अथवा यो कहो कि असावधानी की भूमि मे ही असाधन की उत्पत्ति होती है। जो जानते है उसको न मानना और जो कर सकते है उसको न करना ही असावधानी है। इस दृष्टि से असावधानी किसी और की देन नही है और न प्राकृतिक है और न उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है। इतना ही नही, स्वाभाविकता मे जो अस्वाभाविकता की स्थापना कर ली जाती है वही असावधानी है। अस्वाभाविकता कितनी ही सबल क्यो न प्रतीत हो, पर वह स्वाभाविकता का नाश नही कर सकती और स्वाभाविकता कितनी ही निर्बल क्यो न हो, पर वह अस्वाभाविककता के मिटाने मे समर्थ होती है, क्योकि स्वाभाविकता उस अनन्त का विधान है और अस्वाभाविकता व्यक्ति का अपना बनाया हुआ दोष है। इस कारण स्वाभाविकता से अस्वाभाविकता मिट सकती है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय मे किसी का अहित नही है। अत जिसे जो परिस्थिति प्राप्त है वह उसी के सदुपयोग से साधननिष्ठ हो सकता है। अब यदि कोई यह कहे कि मेरा तन, मन, बुद्धि, साथी, देश, काल, वस्तु आदि मेरे अनुकूल नही हैं इस कारण साधननिष्ठ नही हो सकता, तो जो प्राणी प्राप्त वस्तु सामर्थ्य तथा योग्यता के द्वारा साधननिष्ठ नही हो सकता वह वर्त्तमान मे साधक नही बन सकता, क्योकि साधन वर्त्तमान जीवन की वस्तु है। उसको भविष्य पर नही छोडा जा सकता। प्रकृति के विधान मे प्राणिमात्र के प्रति हित-कामना तथा स्नेह है। भला उससे किसी भी व्यक्ति को ऐसी परिस्थिति मिल सकती है जो साधन-सामग्री न हो ? कदापि नही।

समस्त साधन विवेकशक्ति, भावशक्ति और क्रियाशक्ति के

सदुपयोग से सिद्ध होते है। ऐसा कोई व्यक्ति है ही नही जिसमे किसी न किसी अंश मे विवेकशक्ति, भावशक्ति और क्रियाशक्ति न हो। न्यूनाधिक का भेद भले ही हो पर इन शक्तियों से रहित कोई व्यक्ति नही है। अत. प्रत्येक व्यक्ति साधननिष्ठ हो सकता है। यह मानना कि मैं साधननिष्ठ नही हो सकता, अपने प्रति घोर अत्याचार करना है अथवा यो कहो कि अपने द्वारा अपना विनाश करना है। प्रत्येक व्यक्ति मे यह विकल्परहित विश्वास होना चाहिए कि मैं जिस परिस्थिति मे हूँ उसीमे साधन कर सकता हूँ क्योकि इस विश्वास का विरोध न तो प्राकृतिक विधान मे है और न व्यक्ति के विवेक मे। असाधनजनित सुख-लोलुपता के कारण बेचारा प्राणी यह मान बैठा है कि मैं साधन करने मे असमर्थ हूँ। यह मान्यता अस्वाभाविक है, इसका त्याग करना परम अनिवार्य है।

प्राप्त विवेक मे कर्त्तव्य-विज्ञान तथा वस्तुओ के स्वरूप का ज्ञान विद्यमान है। यदि विवेक मे कर्त्तव्य का ज्ञान न होता तो व्यक्ति अपने प्रति होने वाले अन्याय को कैसे जानता और दूसरो से न्याय तथा प्रेम की आशा कैसे करता? अपने प्रति होने वाली बुराई का ज्ञान यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति बुराई को बुराई जानता है। यदि प्राणी अपनी जानी हुई बुराई का अत कर दे तो वह बडी ही सुगमतापूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। व्यक्ति के कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर सुन्दर समाज का निर्माण स्वत होने लगता है, क्योकि समाज के अधिकार की रक्षा ही व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इतना ही नही, दूसरो के अधिकारों की रक्षा करते ही उसमे जो विद्यमान राग था उसकी निवृत्ति हो जाती है और यदि वह अपने अधिकार की चिन्ता न करे अर्थात् उसका त्याग कर दे तो नवीन राग की उत्पत्ति ही न हो। विद्यमान राग की निवृत्ति हो

जाय और नवीन राग की उत्पत्ति न हो तो प्राणी बडी ही सुगम-तापूर्वक राग-रहित हो जाता है। राग-रहित होते ही द्वेष अपने आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही स्वत प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है जिसके होते ही समस्त भेद अपने आप मिट जाते है, क्योकि प्रेम का स्वभाव ही है कि वह भेद तथा भिन्नता को खा लेता है। भेद तथा भिन्नता के मिटते ही प्राणी कामरहित हो जाता है, जिसके होते ही चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है।

कर्त्तव्य-विज्ञान की दृष्टि से दूसरो के हित मे ही अपना हित निहित है, क्योकि प्राकृतिक नियम के अनुसार दूसरो के प्रति जो कुछ किया जाता है वही कई गुना अधिक होकर अपने प्रति हो जाता है। इस विधान के अनुसार किसी भी प्राणी को किसीके प्रति वह करना ही नही है जो अपने प्रति दूसरो के द्वारा अभीष्ट नही है। यदि निर्बलता आदि किसी कारण से दूसरो के द्वारा हमारे साथ वह न हो सके जो हमने दूसरो के साथ किया है तो यह नही समझना चाहिए कि हमारा किया हुआ हमारे प्रति नही होग। प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वतः वह शक्ति उत्पन्न हो जायगी जिसके द्वारा हमारा किया हुआ हमारे प्रति स्वत हो जायगा। क्योकि किये हुए कार्य की प्रतिक्रिया स्वत, होती है। इस दृष्टि से-प्रत्येक सबल को निर्बल की रक्षा करनी चाहिए तभी सबल का बल सुरक्षित रह सकता है। जिस बल से निर्बलो की सेवा नही होती अपितु ह्रास होता है वह बल स्वत मिट जाता है जिसके मिटते ही बेचारा सबल निर्बल हो जाता है और उसका विरोधी पक्ष सबल हो जाता है। अत प्राकृतिक विधान के अनु-सार बल निर्बलो की ही वस्तु है, उसके द्वारा निर्बलो की सेवा करना अनिवार्य है जिसके करने से सबल और निर्बल मे अभिन्नता हो जाती है और फिर सघर्ष सदा के लिए मिट जाता है। समस्त

निर्बलताओ का कारण एकमात्र बल का दुरुपयोग ही है, और कुछ नही। बल का दुरुपयोग वही करता है जो कर्त्तव्यविज्ञान का अनादर करता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

कर्त्तव्यविज्ञान की दृष्टि से कर्त्तव्यपालन मात्र में ही प्राणी का अधिकार है। उससे भिन्न कर्त्तव्यपरायण प्राणी अपना कोई अधिकार नही मानता है। अब यदि कोई यह कहे कि तो फिर कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणियो के अधिकारो की रक्षा कैसे होगी ? यह नियम है कि प्राणियो के जीवन के अनुरूप ही समाज बनता है, अत कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणियो के द्वारा समाज मे स्वत कर्त्तव्यपरायणता आ जाएगी, जिसके आते ही परस्पर मे स्वत एक दूसरे के अधिकार सुरक्षित हो जाएंगे, क्योंकि किसी के अधिकार मे ही किसी का कर्त्तव्य निहित रहता है। अत अपना अधिकार दूसरे का कर्त्तव्य है और दूसरे का अधिकार अपना कर्त्तव्य है। अपने अधिकारों के त्याग की सामर्थ्य कर्त्तव्यपरायण प्राणियो मे स्वत आ जाती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणियो के अधिकार स्वतः सुरक्षित होने लगते है, फिर भी कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी मे अधिकार लालसा उदय नही होती। परिणाम यह होता है कि अधिकार सुरक्षित रहने पर राग की उत्पत्ति नही होती और यदि किसी कारण अधिकार का अपहरण हो जाय तो क्रोध की उत्पत्ति नही होती। अर्थात् जो कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी अपने अधिकार का त्याग कर देता है वह राग तथा क्रोध से रहित हो जाता है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है और जो प्राणी कर्त्तव्यपालन के बदले मे अधिकार मागता है, यदि उसकी पूर्ति हो गयी तो उसके चित्त मे राग अङ्कित हो जाता है और यदि अपूर्त्ति हुई तो क्रोध उत्पन्न हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है अत चित्तशुद्धि के लिए अनिवार्य है कि अपने अधिकार

का त्याग और दूसरो के अधिकार की रक्षा की जाय, जो वास्तविक कर्त्तव्य विज्ञान है।

प्राप्त विवेक अनन्त का विधान है। उसका आदर करना अनिवार्य है। वस्तुओ के परिवर्तन तथा उनके अदर्शन का ज्ञान भी विवेक मे विद्यमान है। यदि उसका आदर किया जाय तो प्राणी बडी ही सुगमतापूर्वक वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि की दासता से रहित हो जाता है, जिसके होते ही निर्लोभता, निर्मोहता और अपरिच्छिन्नता आदि की अभिव्यक्ति स्वत होती है। निर्लोभता की अभिव्यक्ति दरिद्रता का, निर्मोहता की अभिव्यक्ति अविवेक का और अपरिच्छिन्नता की अभिव्यक्ति भेद का अन्त करने मे समर्थ है। दरिद्रता के अन्त मे उदारता, अविवेक के अन्त मे निस्सन्देहता और भेद के अन्त मे निर्भयता स्वत आ जाती है। उदारता, निस्सन्देहता, निर्भयता आते ही प्रेम, वास्तविकता का ज्ञान और सामर्थ्य का प्रादुर्भाव स्वत होता है। प्रेम मे अनन्त रस, वास्तविकता के ज्ञान मे अमरत्व और सामर्थ्य मे स्वाधीनता निहित है। अमरत्व स्वाधीनता और अनन्त रस की स्वाभाविक आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति मे विद्यमान है। अत वही प्राणी का लक्ष्य है, जिसकी उपलब्धि प्राप्त विवेक के प्रकाश मे प्राप्त वस्तु और सामर्थ्य का उपयोग करने पर स्वत सिद्ध है। इस दृष्टि से प्राणी का जो लक्ष्य है उसकी प्राप्ति प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से हो सकती है। अतः साधन करने मे कोई भी साधक असमर्थ नही है और साधननिष्ठ होने पर सफलता अनिवार्य है।

परिस्थिति के अनुरूप प्रत्येक प्रवृत्ति पवित्र भाव से भावित और भाव निज विवेक के प्रकाश से प्रकाशित होना चाहिये। ऐसा कोई प्राणी नही है जिसमे प्रेम, आदर तथा रक्षा की आकाक्षा न हो अर्थात् यह आकाक्षा सभी मे स्वाभाविक है। रक्षा उसी की होती है जिससे किसी

का विनाश अर्थात् अहित न हो और आदर उसी को मिलता है जो स्वयं अपनी दृष्टि मे आदर के योग्य हो और किसी का अनादर न करता हो। अपनी दृष्टि मे आदर के योग्य वही हो सकता है जो अपने जाने हुए दोषो का अन्त करने मे समर्थ है, अर्थात् जिसमे निर्दोषता की अभिव्यक्ति हो गयी है और उसी के द्वारा किसी का अनादर नही होता जिसमे से पर-दोष-दर्शन की दृष्टि मिट जाती है। इस दृष्टि से जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति सर्वहितकारी-भाव अथवा सर्वात्म-भाव अथवा प्रेमास्पद की पूजा के भाव से होती है, उसकी प्रवृत्ति पवित्र-भाव से भावित है। प्रेम उन्ही को प्राप्त हो सकता है जिन्होने प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता ही स्वीकार न की हो और जो प्रत्येक प्रवृत्ति द्वारा अपने प्रेमास्पद की ही पूजा करते है, क्योकि प्रेम के आदान-प्रदान मे ही प्रेम की प्राप्ति है।

सर्वहितकारी-भाव, सर्वात्म-भाव अथवा प्रत्येक प्रवृत्ति प्रेमास्पद की पूजा के भाव से होने पर ही प्रवृत्ति पवित्र भाव से भावित हो सकती है। सर्वहितकारी-भाव से की हुई प्रवृत्ति विश्वप्रेम और सर्वात्मभाव से की हुई प्रवृत्ति आत्मरति और प्रेमास्पद की पूजा के भाव से की हुई प्रवृत्ति स्वत प्रेम हो जाती है। इस दृष्टि से पवित्र-भाव से भावित प्रवृत्ति प्रेम प्रदान करती है अर्थात् कर्ता प्रेमी हो जाता है। प्रेमी होने पर सर्वत्र सर्वदा उसे प्रेमास्पद ही की अभिव्यक्ति प्रतीत होती है अथवा यो कहो कि प्रेमी की दृष्टि मे प्रेमास्पद से भिन्न कुछ है ही नही। भेद तथा भिन्नता का अभाव होते ही चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है। अत प्राप्त परिस्थिति के द्वारा साधन-निर्माण कर साधननिष्ठ हो साध्य को प्राप्त करने मे प्रत्येक साधक सर्वदा समर्थ है।

१०—६—५६

४७

प्रवृत्ति का विलय निवृत्ति में

[परिस्थिति के अनुरूप अपने आप होने वाली प्रवृत्तियो का अन्त जब वास्तविक निवृत्ति मे नही होता तब प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है ।

प्रत्येक प्रवृत्ति का मूल विद्यमान राग मे है, उसकी निवृत्ति के लिए प्राकृतिक नियमानुसार प्राणी को परिस्थिति मिली है । जब तक प्राणी सुख की आशा और दुख के भय मे आबद्ध रहता है तब तक प्राप्त विवेक के अनुरूप परिस्थिति का सदुपयोग नही कर पाता । उसका परिणाम यह होता है कि जो कार्य जितनी सुन्दरतापूर्वक होना चाहिये । नही होता वर्तमान कार्य असुन्दर होने से कार्य करने का राग तो बना रहता है पर उसकी सामर्थ्य का ह्रास हो जाता है । इसी कारण प्रवृत्ति के अन्त मे वास्तविक निवृत्ति नही आती ।

अत परिस्थित्ति के अनुरूप जो कार्य उपस्थित है उसे लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए पवित्र भाव से, उत्कठा तथा उत्साहपूर्वक इतना सुन्दर किया जाय कि कार्य के अन्त से वास्तविक निवृत्ति स्वत आ जाय, जिसके आते ही चिरशाति, सामर्थ्य, स्वाधीनता, निस्सन्देहता, सरसता आदि दिव्य गुणो की अभिव्यक्ति अपने आप हो जाती है और फिर चित्त शुद्ध हो जाता है ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय

परिस्थिति के अनुरूप अपने आप होने वाली प्रवृत्तियो का अन्त जब वास्तविक निवृत्ति मे नही होता तब प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही अशान्ति ,असमर्थता, पराधीनता, नीरसता आदि अनेक दोप उत्पन्न हो जाते है। यद्यपि उन दोपो का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही होता परन्तु प्राणी उनमे आवद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त स्वभाव से ही वास्तविक निवृत्ति मे होना चाहिए। परन्तु प्रवृत्तिकर्त्ता की असावधानी के कारण प्रवृत्ति का अन्त वास्तविक निवृत्ति मे नही होता अथवा यो कहो कि प्रवृत्ति का अधूरापन उसका अन्त वास्तविक निवृत्ति मे नही होने देता। यद्यपि ऐसी कोई प्रवृत्ति हो ही नही सकती जिसका उद्गम निवृत्ति न हो और जो अन्त मे स्वभाव से ही निवृत्ति मे विलीन न हो, अर्थात् समस्त प्रवृत्तिया निवृत्ति की भूमि से उत्पन्न होकर उसी मे विलीन होती है। परन्तु प्राणी असावधानी के कारण प्रवृत्ति के आदि और अन्त की निवृत्ति को महत्व नही देता, उसका परिणाम यह होता है कि प्रवृत्ति के अन्त मे अपने आप आने वाले निवृत्ति-काल मे भी प्रवृत्ति-जनित स्मृतिया उत्पन्न होती रहती हैं, जिससे वेचारा प्राणी आगे-पीछे के व्यर्थ चिन्तन मे आवद्ध हो जाता है जिसके होते ही प्राणी विवेक का अनादर तथा प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग करने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि शान्ति भङ्ग हो जाती है और असमर्थता तथा पराधीनता अपने आप जाती है, जो चित्त की अशुद्धि है।

प्रत्येक प्रवृत्ति का मूल विद्यमान राग है। उसकी निवृत्ति के लिए प्राकृतिक नियमानुसार प्राणी को परिस्थिति मिली है जो सुख-दु ख से युक्त और परिवर्तनशील है। जब तक प्राणी सुखकी

आशा और दु.ख के भय मे आबद्ध रहता है तब तक प्राप्त विवेक के अनुरूप परिस्थिति का सदुपयोग नही कर पाता । उसका परिणाम यह होता है कि जो कार्य जितनी सुन्दरतापूर्वक होना चाहिए नही होता । वर्तमान कार्य असुन्दर होने मे कर्त्ता मे कार्य करने का राग तो बना रहता है पर उसकी सामर्थ्य का ह्रास हो जाता है । इसी कारण प्रवृत्ति के अन्त मे वास्तविक निवृत्ति नही आती और भूतकाल की घटनाओ का प्रभाव चित्त मे अंकित रहता है, जो निवृत्ति को भग कर अनावश्यक प्रवृत्तियो की स्मृतियो को जन्म देता है । चित्त मे अकित स्मृतियाँ अनेक सम्बन्ध उत्पन्न करती हैं । इतना ही नही,वस्तुओ के नष्ट हो जाने पर भी उनका सबध और उनकी स्मृति सजीव रहती है, जो प्राणी को सीमित अहम्-भाव मे आबद्ध करती है अथवा यो कहो कि स्मृति और सम्बन्ध का समूह ही सीमित अहम्-भाव है । सीमित अहम्-भाव के रहते हुए, जिन वस्तुओ का अस्तित्व है ही नही, उन वस्तुओं की सत्यता भासित होती है, जो बेचारे प्राणी को वस्तु, व्यक्ति, अवस्था एव परिस्थिति की दासता से रहित नही होने देती । इसी कारण प्रवृत्ति के अन्त मे वास्तविक निवृत्ति सुरक्षित नही रहती और अनहोनी प्रवृत्तियो की स्मृति प्राणी को चैन से नही रहने देती, अर्थात् बेबस प्राणी मानसिक व्यथा मे आबद्ध हो जाता है । कितने आश्चर्य की बात है कि अस्तित्वहीन वस्तुओ की स्मृतियो और माने हुए सम्बन्धो ने बेचारे प्राणी को वास्तविकता से विमुख कर दिया है । यदि प्राणी विवेकपूर्वक स्मृति और सम्बन्धो के समूह का अन्त कर डाले तो बडी ही सुगमतापूर्वक दीर्घ काल की अशुद्धि वर्तमान में मिट सकती है ।

प्रवृत्तिजनित सुख प्रवृत्ति के राग को दृढ करता है । यद्यपि प्रवृत्ति-जनित सुख में पराधीनता, जड़ता, शक्तिहीनता,

अभाव आदि अनेक दोष हैं,परन्तु प्राणी सुखलोलुपता के कारण दोषो मे ही जीवन-बुद्धि मानकर प्रवृत्ति का दास बन जाता है। प्रवृत्ति की दासता निवृत्ति का महत्त्व चित्त में अङ्कित नही होने देती । निवृत्ति का महत्व जाने बिना प्राणी निवृत्ति से भय-भीत होता है और प्रवृत्तिजनित पराधीनता मे ही स्वाधीनता के समान सुख भोगने लगता है । अर्थात् पराधीनता को स्वाधी-नता मान लेता है ।

यदि प्राणी प्रवृत्ति के मूल को जान लेता तो बडी सुगमता-पूर्वक प्रवृत्ति की दासता से रहित हो जाता । समस्त प्रवृत्तियो का मूल देहाभिमान है, जो अविवेकसिद्ध है । किसी ने भी अपने को देह से अलग जानकर किसी भी प्रवृत्ति का आश्रय नही लिया । कोई भी व्यक्ति यह सिद्ध नही कर सकता कि मैंने अपने को देह से अलग जानकर अपने लिए अमुक कार्य किया है । समस्त कार्यों की उत्पत्ति अपने को देह मान लेने पर ही होती है,अर्थात् देह की तद्रूपता ही प्रवृत्ति की जननी है । देह की तद्रूपता से प्रवृत्ति का जन्म होता है और प्रवृत्तिजनित सुखाशक्ति से देह की तद्रूपता दृढ होती है । यह चक्र उस समय तक चलता ही रहता है जब तक प्रवृत्ति का अन्त वास्तविक निवृत्ति मे न हो जाय ।

प्रत्येक परिस्थिति सुख-दु.ख से युक्त है। उनके अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है । उत्पत्ति-विनाशयुक्त कोई भी परिस्थिति ऐसी हो ही नही सकती जो सुख-दु.ख से रहित हो । इतना ही नहीं परि-स्थिति मे जो स्थिरता प्रतीत होती है वह केवल उत्पत्ति-विनाश का क्रम है और कुछ नही । इस दृष्टि से जब परिस्थिति में ही स्थिरता नही है, अथवा कहो कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नही है,तो फिर उसपर आधारित प्रवृत्ति मे स्थिरता कब सम्भव है? प्रवृत्ति कितनी ही सुखद क्यो न हो, पर उसका अस्तित्व नित्य

नही हो सकता। जिसका अस्तित्व नित्य नही है उसका आश्रय लेकर प्राणी कब तक अपने को सुरक्षित रख सकता है ?

यह जान लेने पर कि प्रवृत्ति का अस्तित्व नित्य नही है, फिर भी परिस्थिति के अनुसार प्रवृत्ति होती ही है। अत प्राणी को बडी ही सावधानी पूर्वक यह देखना चाहिए कि होने वाली प्रवृत्ति के पीछे भाव और भाव के पीछे ज्ञान और ज्ञान के पीछे उद्देश्य क्या है ? प्रवृत्ति का उद्देश्य प्रवृत्ति हो नही सकता। इस नियम के अनुसार प्रवृत्ति का अन्त प्रवृत्ति मे होना उसके अधूरे पन को सिद्ध करता है। प्रवृत्ति का अधूरापन ही प्रवृत्ति के अन्त मे वास्तविक निवृत्ति का अपहरण कर प्राणी को व्यर्थ चिन्तन मे आबद्ध कर देता है, जिससे वर्तमान कार्य सुन्दर नही हो पाता, जिसके न होने से व्यक्ति मे करने का राग, देह को बनाए रखने की आशा, मरने का भय और अप्राप्त वस्तु आदि के पाने का प्रलोभन ज्यो का त्यो बना रहता है, जिससे चित्त अशुद्ध ही रहता है।

प्रत्येक प्रवृत्ति का उद्देश्य वास्तविक विश्राम होना चाहिए क्योकि श्रम के अन्त मे विश्राम सभी को अभीष्ट है। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी सम्भव है जब प्रत्येक कार्य उत्साह तथा उत्कण्ठा-पूर्वक पवित्र-भाव से विवेक के अनुरूप किया जाय। अर्थात जिन कार्यों मे निज विवेक का विरोध हो उनको क्रियात्मकरूप न दिया जाय, अपितु उनका त्याग कर सहज निवृत्ति को अपना लिया जाय तो बडी ही सुगमता पूर्वक प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त वास्तविक निवृत्ति मे हो सकता है, जो चित्त की शुद्धि मे हेतु है।

प्रवृत्ति के द्वारा जिस किसी को जो कुछ मिलता है वह कालान्तर मे स्वत मिट जाता है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति का परिणाम अभाव रूप है, कारण कि परिस्थिति से उत्पन्न हुई प्रवृत्ति जिस वस्तु, अवस्था आदि को उत्पन्न करती हैं वे सभी क्षणभगुर

तथा परिवर्तनशील है । परन्तु वास्तविक निवृत्ति से जो कुछ मिलता है वह सदैव रहता है इतना ही नही वास्तविक निवृत्ति जिस प्रवृत्ति को जन्म देती है वह सर्वहितकारी होती है और सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तविक निवृत्ति को पुष्ट करती है । इस दृष्टि से सर्वहितकारी प्रवृत्ति और वास्तविक निवृत्ति एक दूसरे की पोपक है । वास्तविक निवृत्ति से उत्पन्न सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा प्राणी मे कर्तृत्व का अभिमान नही होता और न की हुई प्रवृत्ति की स्मृति ही अंकित होती है । इतना ही नही सर्वहित-कारी प्रवृत्ति सर्वात्मभाव प्रदान करती है, जिससे किसी से भेद-जनित सम्वन्ध की स्थापना नही होती और प्रवृत्ति-जनित फल की आशा भी नही रहती ।

वास्तविक निवृत्ति की भूमि से जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है उसका वाह्य रूप भले ही सीमित हो, परन्तु भाव असीम तथा विभु होता है । इस कारण सर्वहितकारी प्रवृत्ति समाज के लिए विधान वन जाती है । परिस्थिति के अनुसार प्राणी चाहे वास्त-विक निवृत्ति को अपना कर सर्वहितकारी प्रवृत्ति उत्पन्न करे और चाहे सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा वास्तविक निवृत्ति प्राप्त करे सुखमय परिस्थिति मे सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा वास्तविक निवृत्ति प्राप्त की जा सकती है और दु खमय परिस्थिति मे वास्त-विक निवृत्ति द्वारा सर्वहितकारी प्रवृत्ति सम्पादित की जा सकती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति और वास्तविक निवृत्ति की पूर्णता मे समस्त परिस्थितियों से असगता स्वत प्राप्त होती है । परिस्थि-तियो से असंग होते ही अशान्ति चिर-शान्ति मे, असमर्थता साम-र्थ्य मे, पराधीनता स्वाधीनता मे,जडता चिन्मयता मे और नीर-सता सरसता मे विलीन हो जाती है जिसके होते ही चित्त-शुद्ध हो जाता है ।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति सुख-भोग की आसक्ति को खा लेती है, जिसके मिटते ही काम का नाश हो जाता है। काम का नाश होते ही सीमित अहम्भाव अपने आप गल जाता है। परन्तु कब ? जब सर्वहितकारी प्रवृत्ति का उद्देश्य वास्तविक निवृत्ति हो। वास्तविक निवृत्ति अपने आप आती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति अथवा देहाभिमान का त्याग वास्तविक निवृत्ति का साधन है। देहाभिमान का त्याग विवेकसिद्ध है जो दु खमय परिस्थिति मे भी हो सकता है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति करुणा तथा उदारता के द्वारा ही सम्भव है। जो व्यक्ति प्राणीमात्र के दु ख को अपना दु ख मानता है और प्राप्त सुख को प्राणीमात्र का मानता है वही सुखमय परिस्थिति मे सर्वहितकारी प्रवृत्ति को अपना सकता है अथवा यो कहो कि जिस अश मे प्राणी सुखी है उस अश मे उसे सर्वहितकारी प्रवृत्ति को अपना कर वास्तविक निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिए और जिस अश मे दु खी हो उस अश मे विवेकपूर्वक कामना-रहित वास्तविक निवृत्ति को अपनाना चाहिए।

वास्तविक निवृत्ति स्वाभाविक हो जाने पर जिस जीवन से अभिन्नता होती है उसका वर्णन सम्भव नही है, परन्तु उसकी प्राप्ति अनिवार्य है।

उसके सबध मे सकेतमात्र यही कहा जा सकता है कि उस जीवन के बिना जीवन ही सिद्ध नही होता। इस दृष्टि से उसकी प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति को करनी है जो वास्तविक निवृत्ति से ही सभव है। जब तक वर्तमान कार्य इतना सुन्दर न किया जाय कि उस परिस्थिति मे उससे सुन्दर न हो सके, तब तक करने की रुचि का नाश नही होता और उसके हुए बिना प्रवृत्तिजनित सुख की दासता मिट नही सकती। करने की रुचि का अन्त होते ही चिर-विश्राम प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त मे अपने आप आ जाता है,

जिसके आते ही सीमित अहम्भाव मे अङ्कित स्मृति तथा सम्वन्ध अपने आप मिट जाते हैं अथवा यो कहो कि स्मृति तथा सम्वन्ध के मिटते ही सीमित अहम्भाव अपने आप गल जाता है। यह नियम है कि स्मृति तथा सम्वन्ध मिटने पर सीमित अहम्भाव नही रहता और सीमित अहम्भाव के गल जाने पर स्मृति और सम्वन्धो का समूह स्वत. नष्ट हो जाता है, जिसके होते ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो रस रूप है, अर्थात् नीरसता का अत हो जाता है जिसके होते ही चित्त स्वत. शुद्ध हो जाता है।

भूतकाल की प्रवृत्तियो के प्रभाव से उत्पन्न हुई स्मृतिया और उनसे उत्पन्न सम्बन्धो का समूह प्राणी का वर्तमान व्यक्तित्व है। उसका अभिमान ही प्राणी को प्रवृत्तिजनित सुख-दु ख मे आवद्ध करता है, जो वास्तव मे निर्जीव है अर्थात् उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। जिसका स्वतत्र अस्तित्व नही है उसको महत्व देना प्राप्त विवेक का अनादर है। अत विवेकपूर्वक व्यक्तित्व के अभिमान का अन्त करने के लिए भूतकाल की स्मृति और माने हुए सम्वन्धो का अन्त करना अनिवार्य है। सम्वन्ध कितना ही दृढ क्यो न हो, अस्वीकृति-मात्र से मिट सकता है और यदि भूतकाल मे हुई घटनाओ के अर्थ को अपना लिया जाय तो उनसे उत्पन्न हुई स्मृति स्वत. मिट जाती है।

प्रत्येक घटना अपने अभाव की समर्थक है और वास्तविक जीवन की जिज्ञासा जागृत करने मे हेतु है। घटनाओ के इस अर्थ को अपना लेने पर भोग की रुचि का नाश हो जाता है और जिज्ञासा की जागृति हो जाती है। जिज्ञासा की जागृति स्वय अपनी पूर्ति मे आप समर्थ है, क्योकि जिज्ञासा उसकी होती है जिसका वास्तविक स्वतन्त्र अस्तित्व है और स्मृतिया उसी की अङ्कित होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। ज्यो-ज्यो

जिज्ञासा सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यो-त्यो चित्त मे अङ्कित स्मृतिया स्वतः मिटती जाती है। जिज्ञासा की पूर्ण जागृति समस्त स्मृतियो को खाकर स्वत पूरी हो जाती है, अर्थात् निस्सन्देहता आ जाती है। सन्देहरहित होते ही व्यक्तित्व-का अभिमान गल जाता है, कारण कि सन्देह मे निस्सन्देह बुद्धि होने से ही व्यक्तित्व का अभिमान जीवित रहता है अर्थात् अल्प ज्ञान को ज्ञान मान लेने पर ही व्यक्तित्व का अभिमान जीवित है। यद्यपि अल्प-ज्ञान सन्देह की वेदना तथा जिज्ञासा की जागृति में हेतु है, परन्तु कब ? जब अल्प-ज्ञान को ज्ञान स्वीकार न किया जाय। किन्तु प्रवृत्ति-जनित सुखासक्ति अल्प-ज्ञान मे ज्ञान- उत्पन्न करती है जो वास्तव मे प्रमाद है। अत परिस्थिति के अनुरूप जो कार्य उपस्थित है उसे लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए पवित्र भाव से उत्कण्ठा तथा उत्साह-पूर्वक इतना सुन्दर किया जाये कि कार्य के अन्त मे वास्तविक निवृति स्वत आ जाय, जिसके आते ही चिरशान्ति, सामर्थ्य, स्वाधीनता,निस्सन्देहता,सरसता आदि दिव्य गुणो की अभिव्यक्ति अपने आप हो जाती है और फिर चित्त शुद्ध हो जाता है।

१८-६-५६

४८

अशुद्धि के ज्ञान में ही शुद्धि की अभिव्यक्ति

[प्राणी को अपने चित्त की गतिविधियो को प्राप्त विवेक की दृष्टि से भलीभाति धीरजपूर्वक देखने पर यह स्पष्ट विदित होगा कि सग्रह, पराधीनता और परिश्रम द्वारा सुखभोग तथा सुख की आशा से ही चित्त मे अशुद्धि हो गई है। जब साधक को अपनी अशुद्धि का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है तो उससे शुद्धि की अभिव्यक्ति स्वत. हो जाती है, कारण की अशुद्धि का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

चित्त की अशुद्धि के ज्ञान मे ही उसकी शुद्धि की साधना विद्यमान है अथवा यो कहो कि अशुद्धि का स्पष्ट-ज्ञान होते ही शुद्धि की अभिव्यक्ति स्वत. हो जाती है, कारण कि अशुद्धि का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। वह उसी समय तक भासित होती है जिस समय तक उसे स्पष्ट रूप से जान न लिया जाय। अशुद्धि के ज्ञान से शुद्धि की लालसा जागृत होती है जो अशुद्धि-जनित सुखासक्ति को खाकर शुद्धि से अभिन्न कर देती हैं। जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति युगपद है उसी प्रकार शुद्धि की लालसा की जागृति और अशुद्धि-जनित सुखासक्ति की

निवृत्ति युगपद है। इस दृष्टि से अशुद्धि के ज्ञान मे ही शुद्धि की साधना निहित है।

प्रत्येक प्राणी को अपने चित्त की गतिविधि को प्राप्त विवेक की दृष्टि से भय तथा प्रलोभन को त्याग कर भली भाति धीरज-पूर्वक देखने पर यह स्पष्ट विदित होगा कि सग्रह, पराधीनता और परिश्रम द्वारा सुखभोग तथा सुख की आशा से ही चित्त मे अशुद्धि आ गई।

भय तथा प्रलोभन के कारण जब प्राणी विवेक-दृष्टि से अपनी वस्तुस्थिति को देख नही पाता तब अनेक प्रकार के भेद तथा भिन्नता प्रतीत होने लगती है। भेद की प्रतीति एकता को भंगकर सग्रह की रुचि उत्पन्न कर देती है। सग्रह की रुचि चित्त मे वस्तुओ का महत्त्व अकित कर देती है। उसका परिणाम यह होता है कि जो वस्तुए व्यक्तियो की सेवा के लिए थी वे ही लोभ उत्पन्न करने मे हेतु बन गई, जिससे चित्त अशुद्ध हो गया।

प्राकृतिक नियमानुसार किसी भी वस्तु का कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नही है और न कोई भी वस्तु अपरिवर्तनशील है, तो फिर वस्तुओ का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना तथा उनकी स्थिति को महत्त्व देना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नही है। समस्त वस्तुए जिससे उत्पन्न हुई हैं,जिससे प्रकाशित है उसके अतिरिक्त किसी की स्वतन्त्र सत्ता हो ही नही सकती। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नही है उससे सम्बन्ध जोडना अथवा उससे सुख की आशा करना निरर्थक प्रयास है। वस्तुओ के सम्बन्ध ने ही प्राणी में जडता उत्पन्न कर दी और उनके द्वारा सुख की आशा ने ही पराधीन बना दिया। पराधीनता ज्यो-ज्यो सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यों-त्यो प्राणी सग्रही होता जाता है और ज्यो-ज्यो सग्रही होता जाता है त्यो-त्यो पराधीन होता जाता है। अर्थात्

सग्रह पराधीनता को और पराधीनता सग्रह को पुष्ट करती है। जड़ता, सग्रह और पराधीनता मे आवद्ध प्राणी को विश्राम नही मिलता जिसके विना आवश्यक सामर्थ्य का विकास नही होता। यह नियम है कि प्राणी ज्यो-ज्यो असमर्थ होता जाता है त्यो-त्यो जड़ता से उत्पन्न हुए वल का आश्रय लेता जाता है। इतना ही नही वेचारा असमर्थ प्राणी प्राप्त वल का सदुपयोग भी नही कर पाता अपितु उसके दुरुपयोग से अपना और दूसरो का विनाश ही करता है। इसी प्रमाद से समस्त सघर्षों का जन्म होता है।

जिसे वास्तविक सामर्थ्य प्राप्त है उसे सग्रह की अपेक्षा नही होती और जिसे सग्रह की अपेक्षा नही होती उसे प्राकृतिक नियमानुसार समस्त आवश्यक वस्तुएं स्वत प्राप्त होती है अथवा यों कहो कि वस्तुएं उससे मिलकर अपने को धन्य मानती है। वास्तविक सामर्थ्यशाली वही है जिसे वस्तुओ की खोज नही है अपितु वस्तुए जिसकी खोज मे रहती है, कारण कि आवश्यकता की पूर्ति अनन्त के विधान से स्वत होती है। वस्तुओ की प्राप्ति को जो भौतिक-विज्ञानी अपना पुरुपार्थ मानता है उससे यदि यह पूछा जाय कि जिस मस्तिष्क से उसने विज्ञान की खोज की है वह मस्तिष्क किस प्रयोगशाला का आविष्कार है और किस यन्त्रालय में ढाला गया है तो उसे यह स्वीकार करना ही होगा कि वैज्ञानिक खोज करने की सामर्थ्य विज्ञानवेत्ता मे खोज से पूर्व थी। जिस अनन्त ने उसे वैज्ञानिक खोज करने की सामर्थ्य प्रदान की है उसी अनन्त ने उसे विवेक भी प्रदान किया है। इस दृष्टि से सभी विज्ञान वेत्ताओ को विज्ञान का उपयोग विवेक के प्रकाश मे ही करना उचित है। ऐसा करने से प्राप्त वल का उपयोग निर्वलो की सेवा मे होगा। यह नियम है कि सेवा-भाव का उदय सग्रह की रुचि का नाश कर देता है, जिसके नाश होते ही वस्तुओ की ममता मिट जाती

है और जडता से उत्पन्न हुए बल का अभिमान गल जाता है। अभिमान के गलते ही स्नेह की एकता का सचार होने लगता है जो समस्त सघर्षों का अन्त करने में समर्थ है।

वस्तुओं की ममता का त्याग वस्तुओ के सदुपयोग की प्रेरणा देता है जिससे प्राणी की निर्लोभता प्राप्त होती है। निर्लोभता की अभिव्यक्ति होते ही समष्टि शक्तियाँ स्वतः आवश्यक वस्तुए प्रदान करने लगती है, क्योकि अव्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होती है। अव्यक्त तत्व मे असमर्थता तथा अभाव नही है, परन्तु सग्रह तथा लोभ के कारण अभाव-सा प्रतीत होने लगता है। पर यह रहस्य तभी खुलता है जब निर्लोभता की अभिव्यक्ति हो जाय जिसके लिए सग्रह की रुचि का अत्यन्त अभाव करना अनिवार्य है। सग्रह की रुचि का अत्यन्त अभाव होने पर वस्तुओ की दासता स्वत मिट जाती है जिसके मिटते ही बाह्य वस्तुओ की तो कौन कहे देह से भी सम्बन्ध नही रहता पर देह तो जब तक रहना है, रहता है किन्तु उसमे सत्यता एव सुन्दरता की प्रतीति नही रहती, जिसके न रहने पर काम का नाश हो जाता है और ऐसा होते ही यथेष्ठ विश्राम स्वत प्राप्त होता है। अथवा यो कहो कि लोभ तथा मोह से युक्त जो परिश्रम था, वह शेष नही रहता। इसका अर्थ कोई यह न समझे कि प्राणी आलसी हो जाता है। आलस्य और विश्राम मे एक बड़ा भेद है। आलसी प्राणी सदैव वस्तु के चिन्तन मे आबद्ध रहता है और जिसे चिर विश्राम प्राप्त है वह वस्तुओ के चिन्तन से रहित हो जाता है। इतना ही नही, जिसे विश्राम प्राप्त है उसके द्वारा प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर्तृत्व के अभिमान से रहित स्वत होने लगता है, अथवा यो कहो कि उसके चित्त मे अशुद्धि की तो उत्पत्ति ही नही होती और शुद्धि का अभिमान शेष नही रहता। यह नियम है कि निरभिमानता के आते ही

भेद तथा भिन्नता स्वत. मिट जाती है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

चित्त की अशुद्धि-जनित सुख-लोलुपता प्राणी का वस्तुओ और व्यक्तियो से सम्बन्ध जोड देती है। यद्यपि किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति से नित्य सम्बन्ध नही है और न उनके द्वारा उत्पन्न हुए सुख का अस्तित्व ही शेष रहता है परन्तु सुख-भोग काल की सुखद स्मृति तथा वस्तु, व्यक्ति आदि का सम्बन्ध चित्त मे अङ्कित हो जाता है जिससे चित्त अशुद्ध होता है। देहरूपी वस्तु से तादात्म्य स्वीकार करने पर ही अन्य वस्तु, व्यक्तियो की कामना उत्पन्न होती है। उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी इच्छित वस्तुओं, व्यक्तियों से सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है। परन्तु उन वस्तु और व्यक्तियो का वियोग तथा परिवर्तन अनिवार्य है। सम्बन्ध के कारण वस्तुओ का नाश तथा व्यक्तियो का वियोग हो जाने पर भी प्राणी वस्तु और व्यक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करता रहता है। यद्यपि प्रत्येक वस्तु उत्पत्ति-विनाशयुक्त है, किसी भी वस्तु, व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है—इतना ही नही, उत्पत्ति के साथ-साथ ही विनाश आरम्भ हो जाता है और सयोग के साथ ही वियोग, फिर भी प्राणी की दृष्टि वस्तुओ के विनाश और व्यक्तियो के वियोग पर नही रहती अथवा यो कहो कि प्राणी वस्तुओ और व्यक्तियो को देखता है पर उनकी वास्तविकता को नही। यह सभी की अनुभूति है कि गहरी नीद के लिए प्राणी प्रिय मे प्रिय वस्तु और व्यक्ति का त्याग कर देता है। प्राणी का इतना घनिष्ट सम्बन्ध किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति से नही, जिसके लिए वह निद्रा का त्याग कर सके। परन्तु निद्रा के लिए सभी वस्तुओ एवं व्यक्तियो का त्याग करता ही है। इस दृष्टि से समस्त वस्तुओ का सम्बन्ध जागृत और स्वप्न अवस्था तक ही सीमित है। अर्थात् किसी भी

वस्तु और व्यक्ति से नित्य सम्बन्ध नही है। जिनसे नित्य सम्बन्ध नही है उनके सम्वन्ध तथा अस्तित्व को चित्त मे अकित रखना चित्त को अशुद्ध करने के अतिरिक्त और कुछ नही है। यदि प्राणी प्रत्येक आवश्यक प्रवृत्ति के अन्त मे चित्त से वस्तु और व्यक्तियो के अस्तित्व का त्याग कर दे तो सुषुप्ति के समान जागृत् मे ही वस्तु और व्यक्ति से रहित स्थिति प्राप्त हो सकती है। इतना ही नही, गहरी नीद मे जो वस्तु और व्यक्ति से रहित स्थिति है उसमे और जो चित्त की वस्तु और व्यक्ति के सम्बन्ध से रहित स्थिति है उसमे एक बडा अन्तर यह है कि गहरी नीद की स्थिति मे जडता का दोष है और जागृत् की स्थिति उस दोष से रहित है। विषमता का अन्त दोनो ही मे है परन्तु जागृत की सुषुप्ति मे जडता नही है, जिससे वस्तुओ से अतीत के जीवन मे विश्वास तथा श्रद्धा हो जाती है, जिससे प्राणी वस्तुओ और व्यक्तियो के रहते हुए भी उनसे सम्बन्ध-विच्छेद करने मे समर्थ होता है। वस्तुओ के सदुपयोग ओर व्यक्तियो की सेवा से चित्त अशुद्ध नही होता। चित्त अशुद्ध होता है वस्तु और व्यक्तियो से नित्य सम्बन्ध स्वीकार करने से अथवा यो कहो कि वस्तु और व्यक्तियो के सयोग मे ही जीवन है, इसको स्वीकार करने से। यद्यपि वास्तविक जीवन वस्तु और व्यक्तियो के वियोग मे ही निहित है, परन्तु देहाभिमान के कारण बेचारा प्राणी इस रहस्य से अपरिचित रहता। अत. वस्तु और व्यक्तियो की दासता से रहित होने के लिए देहाभिमान का त्याग परम अनिवार्य है।

देहाभिमान मे आबद्ध प्राणी सग्रह, पराधीनता और परिश्रम मे ही जीवन बुद्धि स्वीकार करता है। उसका परिणाम यह होता है कि चित्त अशुद्ध हो जाता है। वस्तुओ की वास्तविकता का ज्ञान संग्रह की रुचि का नाश करने मे समर्थ है। सग्रह की रुचि

का अन्त होते ही पराधीनता एव जडता स्वत मिटने लगती है और स्वाधीनता तथा चिन्मय की लालसा जागृत् होती है। स्वाधीनता की लालसा ज्यो-ज्यो सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यो-त्यो पराधीनता-जनित वेदना उत्तरोत्तर बढती जाती है। जिस काल मे पराधीनता की वेदना असह्य हो जाती है उसी काल मे पराधीनता सदा के लिए मिट जाती है,जिसके मिटते ही चिर-विश्राम स्वत प्राप्त होता है।

पर श्रम की आसक्ति देहाभिमान से उत्पन्न होकर देहाभिमान को ही पुष्ट करती है। ऐसा कोई श्रम है ही नही जिसका अन्त न हो और जिससे प्राप्त शक्ति का ह्रास न हो। प्राप्त शक्ति के सदुपयोग मे भले ही परिश्रम का स्थान हो परन्तु आवश्यक शक्ति का विकास तो विश्राम मे ही निहित है। इस दृष्टि से परिश्रम का सामर्थ्य विश्राम मे है। परिश्रम के द्वारा आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन हो सकता है, परन्तु परिश्रम के द्वारा वस्तुओ से अतीत के जीवन मे प्रवेश नही हो सकता। वस्तुओ का उत्पादन व्यक्तियो की सेवा के लिए अभीष्ट है और व्यक्तियो की सेवा उनसे मोह-जनित सम्बन्ध का विच्छेदन करने के लिए साधनरूप है। परन्तु व्यक्तियो की सेवा वही प्राणी कर सकेगा जो स्वय व्यक्तियों के द्वारा सुख की आशा न करे। सुखलोलुपता मे आवद्ध प्राणी कभी भी सेवा करने मे समर्थ नही होता। इस दृष्टि से सुखलोलुपता का अन्त करना अनिवार्य है।

सुखलोलुपता का अन्त वही कर सकता है जिसे विश्राम प्राप्त हो। विश्राम आलस्य तथा परिश्रम दोनों से रहित है। इसी कारण विश्राम उन्ही को प्राप्त होता है जिन्होने विवेकपूर्वक काम का अन्त कर देहाभिमान का नाश कर दिया है। ऐसी कोई गति नही जिसका उद्गम विश्राम न हो, ऐसी कोई स्थिति नही जो

विश्राम से सिद्ध न हो और ऐसा कोई विचार नही जिसका उदय विश्राम मे निहित न हो। विश्राम से जिस गति, स्थिति तथा विचार का उदय होता है वह अखण्ड होता है, क्योकि वह श्रम से रहित है। इसी कारण विश्राम से प्राप्त स्थिति योग, विचार, बोध, गति तथा प्रीति है, अथवा यो कहो कि विश्राभ के द्वारा जो सहज स्थिति है उसी मे योगियो की पराकाष्ठा है, और विश्राम से उदित जो अखण्ड ज्ञान है उसी मे तत्व-वेत्ताओं के तत्व की परावधि है और विश्राम से जो स्वत सिद्ध प्रगति है वही,प्रेम की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से योग, ज्ञान तथा प्रेम की प्राप्ति चिर विश्राम मे ही निहित है। समस्त शान्ति तथा सामर्थ्य योग मे, निस्सन्देहता तथा अमरत्व ज्ञान मे और अगाध, अनन्त रस मे परिपूर्ण होता है। योग, ज्ञान तथा प्रेम–इनकी भूमि एक है। इस दृष्टि से रस में भेद होने पर भी तीनो का स्वरूप एक है अर्थात् योग, ज्ञान तथा प्रेम मे विभाजन नही हो सकता। इस दृष्टि से ये तीनो ही अनन्त की अभिव्यक्ति हैं, जो सभी का सब कुछ होने पर भी सभी से अतीत है। उस अनन्त से अभिन्न होने के लिए यह अनिवार्य है कि प्राणी सग्रह, पराधीनता और परिश्रम के राग से रहित होकर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर स्वाधीनता, अपरिग्रह और चिर-विश्राम द्वारा चित्त को शुद्ध शान्त तथा स्वस्थ कर ले। पर यह तभी सम्भव हो सकता है जब प्राणी प्राप्त विवेक के प्रकाश मे चित्त की वर्तमान वस्तुस्थिति को जानकर उसकी शुद्धि के साधननिर्माण मे समर्थ होता है।

१९—६—५६

४६

अहम्-भाव की निवृत्ति एवं भय-प्रलोभन से मुक्ति

[प्रलोभन के रहते हुए भयरहित होना असम्भव है और ज्यो-ज्यो भय बढता जाता है त्यो-त्यो प्रलोभन की दृढता होती जाती है। भय तथा प्रलोभन के आधार पर ही सीमित अहम्-भाव जीवित है। सुख की आशा और शाति की रुचि भय तथा प्रलोभन को जीवित रखती है।

शान्ति की रुचि शान्ति से विमुख कर देती है कारण कि रुचि का अन्त होने पर ही शान्ति की अभिव्यक्ति होती है। इतना ही नहीं सुख की आशा तथा दु ख के भय के कारण ही शान्ति की रुचि उत्पन्न होती है। सुख की आशा तथा दु ख के भय का अन्त होते ही शान्ति की रुचि स्वत मिट जाती है।

विवेक और विश्वास दोनो ही स्वतन्त्र साधन हैं। दोनो ही के द्वारा प्राणी काम रहित होकर सब प्रकार के भय तथा प्रलोभन का अन्त कर सकता है। विश्वास और विचार का अपने-अपने क्षेत्र मे उपयोग कर विचार द्वारा समस्त आसक्तियो का अन्त और विश्वास द्वारा प्रेम की प्राप्ति कर लेनी चाहिए।

समस्त आसक्तियो का अन्त होने पर प्राणी काम रहित हो जाता है और प्रेम की प्राप्ति से भी काम रहित हो जाता है। काम का नाश होते ही सीमित अहम्-भाव अपने आप गल जाता है जिसके गलते ही

समस्त भय तथा प्रलोभन अपने आप मिट जाते है और चित्त शुद्ध हो जाता है ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

सम्भव को असम्भव और असम्भव को सम्भव मान लेने पर ही प्राणी का चित्त अशुद्ध होता है । प्रलोभन के रहते हुए भय-रहित होना असम्भव है, क्योकि प्रलोभन उस परिस्थिति से सम्वन्ध जोड देता है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है । जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है उसकी नित्य प्राप्ति सम्भव नही है । इसी कारण प्रलोभन अनेक प्रकार के भय उत्पन्न करता है । यह नियम है कि ज्यो-ज्यो प्राणी भयभीत होता जाता है त्यो-त्यो प्रलोभन और बढता जाता है, अर्थात् प्रलोभन से भय और भय से प्रलोभन की दृढता होती है । भय और प्रलोभन मे आबद्ध हो जाना ही चित्त अशुद्धि है ।

यह नियम है कि प्रलोभन का नाश होते ही भय स्वत मिट जाता है,क्योकि प्रलोभन की उत्पत्ति अविवेकसिद्ध है, जो निज विवेक द्वारा सुगमतापूर्वक मिटाई जा सकती है । विवेक प्रत्येक सत्य के जिज्ञासु को स्वत प्राप्त है क्योकि विवेक के बिना सत्य की जिज्ञासा ही सम्भव नही है । इस दृष्टि से प्रलोभन का अन्त करने मे प्रत्येक जिज्ञासु सर्वदा स्वतन्त्र है । परन्तु कब ? जब प्राणी प्रलोभन तथा भय के नाश को वर्तमान का कार्य मान ले अर्थात् किसी प्रकार भी भय तथा प्रलोभन का द्वन्द्व सहन न कर सके । प्राकृतिक नियम के अनुसार असह्य वेदना की जागृति सफलता की कुञ्जी है । अत प्रलोभन तथा भयरहित होना सम्भव है, क्योकि सत्य की लालसा असत्य को खाकर सत्य से अभिन्न करने मे सर्वदा समर्थ है । लालसा कोई अभ्यास नही है

अपितु सत्य के जिज्ञासु की स्वाभाविक पुकार है जिसे भय तथा प्रलोभन ने शिथिल कर दिया है।

भय और प्रलोभन की वास्तविकता का ज्ञान शिथिलता का अन्त कर लालसा को जागृत करने मे समर्थ है। प्रलोभन मे जीवन-बुद्धि स्वीकार करने से प्राणी प्रलोभन की वास्तविकता नही जान पाता जिसके न जानने से प्रलोभन मे सत्यता और प्रियता भासने लगती है, जो अनेक प्रकार के भय उत्पन्न कर देती है। इस दृष्टि से प्रलोभन की वास्तविकता जानने के लिए उनमे जीवन-बुद्धि को अस्वीकार करना अनिवार्य है, अथवा यो कहो कि प्रलोभन जीवन नही है अपितु प्रमादवश जीवन जैसा भासित होता है। प्रलोभन को प्रलोभन जान लेने मात्र से ही प्रलोभन मिट सकता है,क्योकि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है वह उसी समय तक भासित होता है जब तक उसको जानने का प्रयास न किया जाय। यह नियम है कि जो नही है उस पर सन्देह होने मात्र से ही उसकी सजीवता नाश हो जाती है,क्योकि सन्देह मे सम्बन्ध-विच्छेद करने की सामर्थ्य है। यह नियम है कि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है उससे यदि किसी प्रकार सम्बन्धविच्छेद हो जाय अथवा यो कहो कि उसकी विस्मृति हो जाय तो वह स्वत मिट जाता है।

सितने प्रलोभन प्रतीत होते है उनके मूल मे एकमात्र संकल्प-पूर्ति के सुख का भोग और सकल्प-निवृत्ति की शान्ति मे रमण करना है,अर्थात् सुख के भोग और शान्ति के रमण मे ही समस्त प्रलोभन उत्पन्न होते हैं। सकल्प-पूर्ति के प्रलोभन ने ही प्राणी को शरीर,इन्द्रिय,मन, बुद्धि आदि वस्तुओ मे तथा परिस्थितियो एव अवस्थाओ मे आबद्ध कर दिया है, जिसके होते ही अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो गए हैं, क्योकि प्रत्येक सकल्प-पूर्ति

का सुख नवीन संकल्प को जन्म देकर बेचारे प्राणी को सुख-दु ख मे आबद्ध रखता है। इतना ही नही ज्यो-ज्यो सुख का प्रलोभन वढता जाता है त्यो-त्यो दु ख की उत्पत्ति भी स्वत होती जाती है। कारण कि सुख के आदि और अन्त मे दु ख ही शेष रहता है। सुख-भोग का आरम्भ होते ही सुख की क्षति होने लगती है और अन्त मे सुख दु ख मे बदल जाता है। सुख की उत्पत्ति भी दु ख मे ही होती है और उसका अन्त भी दु ख मे ही होता है। इस रहस्य को जान लेने पर प्राणी सुख मे भी दु ख का दर्शन कर सुख की दासता से मुक्त होने के लिए प्रयास करता है और फिर सकल्पपूर्ति की अपेक्षा सकल्प-निवृत्ति को अधिक महत्व देता है। किंतु सकल्प-निवृत्ति की शाति मे भी अहम्भाव ज्यो का त्यो पुष्ट होता रहता है क्योकि शाति मे रमण करने से भी परिच्छिन्नता ज्यो की त्यो सुरक्षित रहती है जो अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न कर प्राणी को भयभीत कर देती है। इस दृष्टि से सकल्प-पूर्ति तथा सङ्कल्प-निवृत्ति दोनो से ही प्राणी प्रलोभन मे आबद्ध होता है।

सकल्प-पूर्ति के प्रलोभन से ही सकल्प-विकल्प का प्रवाह चलता रहता है। प्राणी प्रमाद-वश उत्पन्न हुए सकल्प-विकल्पो के द्वारा अपने को सुखी-दु खी, भला-बुरा बनाता रहता है अर्थात् सकल्पो के आधार पर ही अपना मूल्य आकता है अथवा यो कहो कि उन सकल्प-विकल्पो के प्रवाह को ही अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति स्वीकार करता है। यद्यपि प्रत्येक सकल्प उत्पत्ति से पूर्व कुछ नही है और पूर्ति के पश्चात् कुछ भी नही है, परन्तु फिर भी बेचारा प्राणी सकल्पो के अधीन हो जाता है। यहाँ तक कि एक-एक संकल्प-पूर्ति के लिए न जाने कितने काल तक बडी-बडी यात-नाएँ भोगता है और परिणाम मे अभाव ही पाता है। इस दृष्टि से सकल्प-पूर्ति का प्रलोभन निरर्थक ही सिद्ध होता है। सकल्प-पूर्ति

के सुख की दासता का अंत होते ही अनावश्यक और अशुद्ध सकल्प उत्पन्न ही नही होते और परिस्थिति के अनुरूप आवश्यक और शुद्ध सकल्प स्वत पूरे हो होकर मिट जाते है, जिनके मिटते ही सकल्प निवृत्ति स्वतः आ जाती है, अथवा यो कहो कि प्रत्येक सकल्प की पूर्ति के पश्चात् निर्विकल्प स्थिति अपने आप आती है। निर्विकल्प स्थिति मे वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता शेष नही रहती किन्तु वेचारा प्राणी असावधानी के कारण स्थिति-जनित शान्ति मे आवद्ध हो जाता है। यदि सकल्प-निवृत्ति का प्रलोभन न रहे तो प्राणी वडी ही सुगमतापूर्वक निर्विकल्प स्थिति से अतीत नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाता है और फिर सकल्प-पूर्ति तथा सकल्प-निवृत्ति की दासता से रहित हो जाता है। अर्थात् सुख शाति से अतीत जो वास्तविक जीवन है उससे अभिन्न हो जाता है। यद्यपि निर्विकल्प स्थिति सकल्प-पूर्ति की अपेक्षा कही अधिक महत्व की वस्तु है, क्योकि उसके विना आवश्यक सामर्थ्य का विकास नही होता, परन्तु उसी को जीवन मान लेना भूल है। निर्विकल्प स्थिति का प्रलोभन न रहने पर निर्विकल्प स्थिति स्वत रहने लगती है, क्योकि निर्विकल्प स्थिति सकल्प-पूर्ति की दासता और अपूर्ति के भय को खा लेती है। इस दृष्टि से सकल्प-निवृत्ति सभी अवस्थाओ से उत्कट अवस्था है।

भय तथा प्रलोभन के आधार पर ही सीमित अहम्भाव जीवित है। सुख की आशा और शान्ति की रुचि भय तथा प्रलोभन को जीवित रखती है। सुख की आशा से किसी को यदि सुख मिलता तो दु ख का कभी दर्शन ही नही होता। पर यह सम्भव नही है। प्राणी सुख की आशा करता है और परिणाम में दु ख भोगता है। इस दृष्टि से सुख की आशा का कोई स्थान ही नही है। सुख की आशा से रहित होते ही प्राणी दु ख से छूट जाता है,

अर्थात् उसके भय का नाश हो जाता है।

शान्ति की रुचि शान्ति से विमुख कर देती है कार
रुचि का अन्त होने पर ही शान्ति की अभिव्यक्ति होती है।
ही नही सुख की आशा तथा दु ख के भय के कारण ही शान्
रुचि उत्पन्न होती है। सुख की आशा तथा दु ख के भय क
होते ही शान्ति की रुचि स्वत मिट जाती है, जिसके मिट
चिरशान्ति अपने आप आ जाती है। सुख की आशा में दु
भय निहित है। यदि सुख की आशा न रहे तो दु ख का भय
आप मिट जाता है। निर्भयता आते ही प्रलोभन की दास
अपने आप मिट जाती है अथवा यो कहो कि भय के मिट
प्रलोभन भी मिट जाता है। भय और प्रलोभन का अन्त ह
सीमित अहम्भाव गल जाता है अथवा यो कहो कि सीमित
भाव गल जाने पर भय तथा प्रलोभन अपने आप मिट जात

सुख की आशा अविवेकसिद्ध है, जो विवेक द्वारा
सकती है, जिसके मिटते ही भय तथा प्रलोभन अपने आप
जाते है। यदि कोई प्राणी विवेकपूर्वक सुख की आशा से रहि
मे अपने को असमर्थ पाता है तो वह विकल्परहित विश्वास
अपने को समर्पण कर अहम् और मम से रहित हो सक
जिसके होते ही समस्त भय तथा प्रलोभन मिट जाते है अथ
कहो कि निर्भयता और निश्चिन्तता अपने आप आ जाती
किसी प्रकार के भय तथा प्रलोभन को उत्पन्न नही होने
प्रत्येक व्यक्ति में किसी-न-किसी अश में विवेक तथा भाव-
विद्यमान है। यह दूसरी बात है कि किसी मे भाव की न
और विवेक की अधिकता हो और किसी मे भाव की अधि
और विवेक की न्यूनता हो, अर्थात् कोई मस्तिष्कप्रधान हो
और किसी मे हृदयशीलता अधिक होती है। मस्तिष्क

प्राणियो को निज विवेक के प्रकाश मे भय तथा प्रलोभन की वास्तविकता को जान कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना चाहिए। ज्यो-ज्यो निश्चिन्तता तथा निर्भयता स्थाई होती जाती है त्यो-त्यो भय तथा प्रलोभन का अभाव होता जाता है, अथवा यो कहो कि निश्चिन्तता तथा निर्भयता की दृढ स्थापना होते ही भय तथा प्रलोभन स्वत मिट जाते हैं। भय तथा प्रलोभन की प्रतीति भले ही हो, पर उनका कोई वास्तविक अस्तित्व नही है। जव विचारशील प्राणी विवेक-दृष्टि से भय तथा प्रलोभन को देखता है तव वे स्वत सदा के लिए मिट जाते है, अथवा यो कहो कि विवेक-दृष्टि से किसी ने भय तथा प्रलोभन का दर्शन ही नही किया। वे उसी समय तक प्रतीत होते है जव तक प्राणी विवेकपूर्वक उनका निरीक्षण नही करता। यह नियम है कि विवेकपूर्वक निरीक्षण करने पर भय तथा प्रलोभन मिट जाते है, क्योकि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है।

हृदयशील प्राणियो को विकल्परहित विश्वासपूर्वक अपने को समर्पित कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना चाहिए। विकल्प रहित विश्वास तभी सम्भव है जव दो विश्वास न रहे अर्थात् एक ही विश्वास जीवन हो जाय, यहा तक कि विश्वासी और विश्वास मे विभाजन न हो सके, विश्वास ही विश्वासी का जीवन हो जाय। विश्वास उस पर नही करना चाहिए जिसे इन्द्रिय, मन बुद्धि द्वारा जानते हो। विश्वास उस पर होना चाहिए जिसे कभी किसी इन्द्रिय द्वारा विपय नही किया। अव कोई कहे कि जो इन्द्रिय आदि का विपय नही है उस पर विश्वास कैसे हो सकता है ? विश्वास उसी पर होता है जो इन्द्रिय आदि का विपय नही है, कारण कि इन्द्रिय, बुद्धि आदि के द्वारा जो कुछ जानने मे आता है, उस पर तो सन्देह होता है। जिस पर सन्देह होता है उस पर

विश्वास करना भूल है। इस दृष्टि से विश्वासपात्र वही है जो इन्द्रिय आदि का विषय नही है।

जब प्राणी उस पर विश्वास कर सकता है जिस पर अनेक सन्देह होते है तो क्या उस पर विश्वास नही कर सकता जिस पर सन्देह सम्भव ही नही है ? क्योकि सन्देह उस पर हो सकता है जिसमे दोष का दर्शन हो और दोष का दर्शन उसमे होता है जो द्वन्द्वात्मक हो अर्थात् जिसके विषय मे इन्द्रिय और बुद्धि के निर्णय मे भिन्नता हो। जिससे सभी को सत्ता तथा प्रकाश मिलता है वह इन्द्रिय आदि का विषय नही हो सकता। अत. जो इन्द्रिय आदि का त्रिपय नही है वही विश्वास-पात्र है। अनेक विश्वास निकल जाने पर एक विश्वास स्वत रह जाता है यह नियम ही है। इस दृष्टि मे एक विश्वास मे कोई क्षति नही हो सकती। विश्वास सबध को और सबध आत्मीयता अर्थात् प्रीति को उदय करता है। प्रीति का उदय होते ही काम का नाश हो जाता है। काम का नाश होने पर समस्त भय तथा प्रलोभन स्वत मिट जाते हैं, क्योकि काम की भूमि मे ही प्रलोभन तथा भय उत्पन्न होते हैं। एक विश्वास वस्तु आदि के विश्वास को खाकर पुष्ट होता है, जिसके पुष्ट होते ही स्वभाव से ही निर्भयता एव निश्चिन्तता आ जाती है, जिसके आते ही अनन्त की कृपाशक्ति स्वत सब कुछ करने लगती है, और फिर प्राणी बडी ही सुगमतापूर्वक सब प्रकार के भय तथा प्रलोभन से रहित हो जाता है।

विवेक और विश्वास दोनो ही स्वतन्त्र साधन है। दोनो ही के द्वारा प्राणी काम-रहित होकर सब प्रकार के भय तथा प्रलोभन का अन्त कर सकता है। अन्तर केवल इतना है कि विचारशील प्रतीत होने वाले भय तथा प्रलोभन की वास्तविकता को जानकर उससे रहित हो जाता है और सरल विश्वासी भय तथा

प्रलोभन से व्यथित होकर उस अनन्त को पुकारने लगता है जिसे कभी जाना नही था। दु खी की पुकार मे वही सामर्थ्य है जो विचारशील के विचार मे है। दु खी प्राणी मे स्वभाव से ही निर्भरता आ जाती है,जिसके आते ही अहम् और मम अपने आप गल जाता है, जिससे समस्त भय तथा प्रलोभन स्वत· मिट जाते हैं।

यदि किसी की विचार और विश्वास दोनो ही मे श्रद्धा हो तो उसे विचार का उपयोग शरीर, इन्द्रिय आदि समस्त दृश्य पर अथवा अपने व्यक्तित्व पर करना चाहिए और विश्वास का उपयोग उस अनन्त पर करना चाहिए, जिसे बुद्धि आदि के द्वारा कभी नही जाना, अथवा यो कहो कि विचार के द्वारा समस्त वस्तुओ की आसक्ति से रहित हो जाय और विश्वास के द्वारा अपने को समर्पित कर सब प्रकार से निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाय। इस प्रकार विश्वास और विचार का अपने-अपने क्षेत्र मे उपयोग कर विचार द्वारा समस्त आसक्तियो का अन्त और विश्वास द्वारा प्रेम की प्राप्ति कर लेना चाहिए।

समस्त आसक्तियो का अन्त होने पर भी प्राणी काम-रहित हो जाता है और प्रेम की प्राप्ति से भी काम-रहित हो जाता है। काम का नाश होते ही सीमित अहम्-भाव अपने आप गल जाता है, जिसके गलते ही समस्त भय तथा प्रलोभन अपने आप मिट जाते है और चित्त-शुद्ध हो जाता है।

२०—६—५६

५०

अनन्त के विधान—विवेक का आदर

[प्राणी-मात्र को विवेक, सामर्थ्य और वस्तु प्राप्त है। विवेक उस अनन्त का विधान है। जब प्राणी प्राप्त सामर्थ्य और वस्तु का उपयोग उस विधान के विपरीत करने लगता तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है। विवेक-रूपी विधान से ही बुद्धि, इन्द्रिय आदि को सामर्थ्य मिलती है। विवेक-रूपी विधान मे कर्त्तव्य विज्ञान, योग-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान विद्यमान है।

विवेक का अनादर शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि मे अहम्-भाव उत्पन्न करता है जिससे कर्त्तव्य और भोक्तृत्व की उत्पत्ति होती है। वस्तु, सामर्थ्य और विवेक की एकता होते ही सीमित अहम्-भाव गल जाता है, जिसके गलते ही काम का नाश हो जाता है और फिर कामना आसक्ति और चित्त की शुद्धि हो जाती है।

विवेक का आदर करते ही प्रीति की अभिव्यक्ति, जिज्ञासा की जागृति और सेवा मे प्रवृत्ति स्वत होने लगती है। सेवा मे समस्त कर्त्तव्य-विज्ञान, जिज्ञासा की जागृति मे अध्यात्म-विज्ञान और प्रीति की अभिव्यवित मे आस्तिक-विज्ञान निहित है। अत प्रीति, जिज्ञासा तथा सेवा द्वारा चित्त- शुद्धि के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए जो विवेक सिद्ध है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

प्राणी-मात्र को विवेक, सामर्थ्य और वस्तु प्राप्त है। विवेक उस अनन्त का विधान है। जब प्राणी प्राप्त सामर्थ्य और वस्तु का उपयोग उस विधान के विपरीत करने लगता है तब चित्त अशुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि प्राणी का अपना ही बनाया हुआ दोष है, प्राकृतिक नही। अपने बनाए हुए दोषो का अन्त करने का दायित्व अपने ही पर है। अत. प्राप्त विधान के अनुरूप ही प्राप्त सामर्थ्य तथा वस्तु का उपयोग कर चित्त को शुद्ध करना अनिवार्य है। चित्तशुद्धि वर्तमान की वस्तु है, उसे भविष्य पर छोडना असावधानी है। चित्त की अशुद्धि के रहते हुए प्राणी अपने साधन और साध्य दोनों से ही विमुख हो जाता है। साधन और साध्य की विमुखता मे ही असाधन की उत्पत्ति होती है, जिससे बेचारा प्राणी उत्तरोत्तर अवनति की ओर ही गतिशील होता है। इस दृष्टि मे सर्वप्रथम प्राणी को चित्त मे अङ्कित अशुद्धि का अन्त करना अनिवार्य है, क्योकि असाधन अर्थात् अकर्तव्य के अभाव मे ही कर्तव्य-परायणता निहित है। ज्यो-ज्यो कर्तव्य-परायणता स्थायी होती है त्यो-त्यो प्राणी का चित्त स्वत शुद्ध होता जाता है, क्योकि कर्तव्य-परायणता राग-द्वेष का अन्त करने मे समर्थ है अथवा यो कहो कि कर्तव्य-परायणता आ जाने पर त्याग तथा प्रेम की अभिव्यक्ति स्वत हो जाती है, जिसके होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आदि सामर्थ्य तथा वस्तु का समूह है। वस्तु और सामर्थ्य मे इतना भेद है कि वस्तु व्यक्त है और सामर्थ्य अव्यक्त है। अव्यक्त सामर्थ्य का उपयोग व्यक्त वस्तु के आश्रय से ही हो सकता है। इस दृष्टि से वस्तु और सामर्थ्य मे केवल गुणो का भेद और स्वरूप की एकता है। वे दोनो एक

धातु से निर्मित है, गुणो की भिन्नता के कारण अलग-अलग
सित होते है। दोनो का अलग-अलग स्वतन्त्र अस्तित्त्व नही
विवेकरूपी विधान का प्रकाश बुद्धि को प्रकाशित करता
। बुद्धि के प्रकाश से मन मे क्रियाशीलता उत्पन्न होती है।
की क्रियाशीलता से ज्ञानेन्द्रियो मे गति होती है और
नेन्द्रियो के आश्रय से कर्मेन्द्रिया कार्य मे प्रवृत्त होती है।
विधान स्वय कर्त्ता हो नही सकता और जो कार्य करने
साधन है, उनमे कर्तापन की स्थापना सम्भव नही, क्योकि
ऩनी लेखक नही हो सकती, अर्थात् करण कर्ता नही हो सकते।
ी स्थिति मे यह प्रश्न स्वाभाविक ही उत्पन्न होता है कि
र्ता कौन है? कर्ता वही हो सकता है जो शरीर, इन्द्रिय,
र, बुद्धि आदि से अपने को तद्रूप कर लेता है अथवा शरीर
न्द्रिय आदि को अपना मानता है। उस कर्ता मे जब काम
उत्पत्ति हो जाती है तब कामना पूर्ति के प्रलोभन से प्रेरित
कर बेचारा वस्तु तथा सामर्थ्य का दास हो जाता है, यहाँ
क कि सामर्थ्य और वस्तु के अस्तित्व को ही अपना अस्तित्व
नने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि मिथ्या
क्तित्व का अभिमान उत्पन्न हो जाता है, जिसके होते ही
क्ति और समाज मे भेद की उत्पत्ति होती है। भेद की
त्पत्ति अनेक प्रकार के सघर्ष उत्पन्न करने मे हेतु है।

वस्तु और सामर्थ्य के समूह को अपना अस्तित्व स्वीकार
रना प्राप्त विवेक का अनादर है। प्राकृतिक नियम के अनुसार
ब कुछ अनन्त की अभिव्यक्ति ही है, अर्थात् व्यक्तिगत कुछ
ही है। ऐसी कोई वस्तु नही जो समष्टि से सत्ता न पाती हो
ौर ऐसी कोई सामर्थ्य नही है जो समष्टि शक्तियो से अभिन्न
हो। केवल व्यक्तित्व का अभिमान ही एक ऐसी प्रतीत है

जो भासित तो होती है परन्तु उसका कोई अस्तित्व नही है। अस्तित्वहीन अहम्भाव ने ही कर्त्ता को करण से तद्रूप कर दिया है। यदि करण का विभाजन करके कर्त्ता की खोज की जाय तो उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही मिलता, परन्तु करण और कर्त्ता के मध्य मे काम ही एक ऐसी प्रतीति है जो कर्त्ता और करण के सम्बन्ध को सुरक्षित रखती है, अर्थात् काम की भूमि मे जो कामनाएँ उत्पन्न होती है उनके द्वारा ही शरीर,इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध दृढ होता है और फिर इन्द्रियो के विषयो मे प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति-जनित सुख-दु ख का प्रभाव चित्त मे अकित हो जाता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

बुद्धि तथा इन्द्रिय-ज्ञान से जो स्थूल वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं उस स्थूल भाग को ही वस्तु के नाम से कह सकते है और इन्द्रिय प्राण, मन, बुद्धि आदि को सामर्थ्य के नाम से कह सकते हैं। यद्यपि अपने स्तर पर इन्द्रियाँ दो भागो मे विभाजित हो जाती हैं-कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। कर्मेन्द्रिय क्रियाशक्ति का भाग है और ज्ञानेन्द्रिय इच्छाशक्ति का भाग है। मन मे यह दोनो भाग एकत्रित रहते हैं। क्रियाशक्ति प्राण का भाग है और इच्छाशक्ति ज्ञान का भाग है। मन इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति का समूह है। इसी कारण प्राण के निरोध से मन मे स्थिरता और मन के निरोध से प्राण का निरोध हो जाता है। प्राण और मन मे बडी ही घनिष्ठ एकता है। बुद्धि केवल ज्ञान का प्रतीक है, इसी कारण बुद्धि का निर्णय मन को मान्य होता है। बुद्धि और विवेक के मध्य मे जो अहभाव है उसी मे काम का निवास है, इसी कारण कामना और जिज्ञासा दोनो ही अहभाव मे निवास करती हैं। कामनापूर्ति के लिए अहम् बुद्धि के अधीन और बुद्धि मन के, मन इन्द्रियो के और इन्द्रियाँ विषयो के अधीन हो जाती हैं,जिससे बेचारा प्राणी जडता,

पराधीनता, शक्तिहीनता आदि दोषो मे आबद्ध हो जाता है। परन्तु जब जडता, पराधीनता आदि की वेदना स्वभाव से जागृत होती है तब कामनानिवृत्ति की लालसा उत्पन्न होती है, जो इन्द्रिय-ज्ञान मे सन्देह उत्पन्न कर देती है। ज्यो-ज्यो सन्देह की वेदना दृढ होती जाती है त्यो-त्यो जिज्ञासा सबल होती जाती है। ज्यो-ज्यो जिज्ञासा सबल होती जाती है त्यो-त्यो कामनाए स्वत मिटती जाती है। कामनाओ का अन्त होते ही सन्देह की निवृत्ति और निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति उदय होती है, जिससे जिज्ञासा की पूर्ति और काम की निवृत्ति हो जाती है, जिसके होते ही समस्त आसक्तिया गल कर प्रीति मे विलीन हो जाती हैं और फिर सीमित अहभाव का नाश हो जाता है जिसके होते ही प्रीति अनत से अभिन्न हो जाती है अथवा यो कहो कि प्रीति और प्रीतम से भिन्न की सत्ता ही शेष नही रहती।

विवेकरूपी विधान से ही बुद्धि एव इन्द्रिय आदि को सामर्थ्य मिलती है। यद्यपि बुद्धि और इन्द्रिय का ज्ञान भी ज्ञान-जैसा ही प्रतीत होता है परन्तु इन्द्रिय या बुद्धि का ज्ञान सन्देह रहित नही होता अर्थात् बुद्धि या इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर प्राणी निस्सदेह नही हो सकता। जिससे निस्सन्देहता प्राप्त न हो सके उसे ज्ञान मान लेना अज्ञान को ज्ञान का स्थान देना है, अथवा यों कहो कि इन्द्रिय या बुद्धि के अल्प ज्ञान को पूरा ज्ञान मानना है। ऐसी मान्यता का निज विवेक मे विरोध है। इस दृष्टि से विवेक बुद्धि और इन्द्रिय की अपेक्षा अलौकिक तत्त्व है, अथवा यो कहो कि उस अनन्त का विधान है। अनन्त के विधान का आदर और अनुसरण अनन्त से अभिन्न करने मे समर्थ है। इस दृष्टि से विवेक को विधान, बुद्धि, मन, प्राण और इन्द्रिय आदि को सामर्थ्य और इन्द्रिय आदि जिसके आश्रय से सक्रिय होते हैं

उसे वस्तु मानना चाहिए। जब प्राणी प्रमादवश वस्तु को सामर्थ्य और सामर्थ्य को ज्ञान मान लेता है तब विवेक का अनादर होने लगता है। उसका परिणाम यह होता है कि प्रीति आसक्ति मे और जिज्ञासा कामनापूर्ति के साधन मे और सेवा स्वार्थ-भाव मे बदल जाती है, जिसके बदलते ही काम, कामना और भोगप्रवृत्ति मे ही जीवन-बुद्धि भासने लगती है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

विवेकरूपी विधान मे कर्त्तव्यविज्ञान, योगविज्ञान और अध्यात्मविज्ञान विद्यमान है। यदि प्राणी प्राप्त विवेक का अनादर न करे तो अकर्त्तव्य, भोग और मिथ्या अहभाव की उत्पत्ति ही नही हो सकती। अहभाव की उत्पत्ति के बिना काम का जन्म ही नही हो सकता और काम की उत्पत्ति के बिना कामनाओ का जन्म सम्भव ही नही है। कामनाओ की पूर्ति के बिना भोग और भोगासक्ति उत्पन्न ही नही हो सकती। भोगासक्ति के बिना स्वार्थ-भाव की उत्पत्ति सभव नही है और स्वार्थभाव के बिना पराधीनता, सकीर्णता, जडता आदि विकारो मे प्राणी आबद्ध हो ही नही सकता। इस दृष्टि से विवेकरूपी विधान का अनादर ही समस्त दोषो का मूल है।

विवेक का अनादर ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि मे अहंभाव उत्पन्न करता है, जिससे कर्तृत्व और भोक्तृत्व की उत्पत्ति होती है, अर्थात् प्राणी अपने को कर्त्ता और भोक्ता मान लेता है। कर्त्ताभाव मे से ही कर्म की रुचि और फल की आशा उत्पन्न होती है, जिसके होते ही कर्त्ता भोक्ता होकर अपने मे भोग की रुचि और भोग्य वस्तुओ की आसक्ति उत्पन्न कर लेता है। भोगासक्ति भोक्ता मे स्वार्थभाव उत्पन्न कर देती है, जिससे उसका व्यक्तित्व कामना, आसक्ति और स्वार्थभाव का समूह बन जाता

है। भोक्ता, भोगवासना और योग्य वस्तुओ मे गुणो का भेद और स्वरूप की एकता है, अर्थात् ये तीनो एक ही धातु से निर्मित है। भोग्य वस्तुओ के विनाश का ज्ञान तो प्रत्यक्ष ही है और विवेक का आदर करने पर भोगवासनाओ का अन्त हो ही जाता है, जिसके होते ही 'मैं भोक्ता हूँ', यह स्वीकृति स्वत मिट जाती है। उसके मिटते ही भोक्ता, भोग-वासना और भोग्य वस्तुओ की भिन्नता शेष नही रहती। अथवा यों कहो कि वस्तु, सामर्थ्य और विवेक की एकता होते ही सीमित अहभाव गल जाता है, जिसके गलते ही काम का नाश हो जाता है और फिर कामना, आसक्ति और स्वार्थभाव तीनो ही दोष मिट जाते है, अर्थात् स्वार्थ सेवा-भाव मे, कामना जिज्ञासा मे और आसक्ति प्रीति मे वदल जाती है, जिसके बदलते ही चित्तशुद्ध हो जाता है।

विवेक का आदर करते ही प्रीति की अभिव्यक्ति, जिज्ञासा की जागृति और सेवा मे प्रवृत्ति स्वत होने लगती है। सेवा मे समस्त कर्त्तव्य-विज्ञान, जिज्ञासा की जागृति मे अध्यात्म-विज्ञान और प्रीति की अभिव्यक्ति में आस्तिक-विज्ञान निहित है। सेवा की पूर्णता रागरहित होने में है। रागरहित होते ही भोग योग मे बदल जाता है। योग-विज्ञान शान्ति, सामर्थ्य एव स्वाधीनता का प्रतीक है। इसी कारण ज्यो-ज्यों योग-विज्ञान का आदर होता जाता है त्यों-त्यो कर्त्तव्यपालन की सामर्थ्य और निष्कामता अपने आप उदित होती है। निष्कामता प्राणी को अधिकार-लालसा से रहित कर देती है। कर्त्तव्यपरायणता दूसरो के अधिकारो की रक्षा करने मे समर्थ है। दूसरो के अधिकार की रक्षा से विद्यमान राग की निवृत्ति होती है और अपने अधिकार के त्याग से, नवीन राग की उत्पत्ति ही नही होती, अर्थात् प्राणी राग-रहित हो जाता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-विज्ञान और योग-

विज्ञान मे अत्यन्त घनिष्ठता है, क्योकि कर्त्तव्य-परायणता से प्राणी योग-विज्ञान का अधिकारी हो जाता है और योग-विज्ञान कर्त्तव्य-परायणता का सामर्थ्य प्रदान करता है। इतना ही नही योग-विज्ञान की पूर्णता निस्सन्देहता एव स्वाधीनता की ओर अग्रसर कर अध्यात्म-विज्ञान का अधिकारी बना देती है। अध्यात्म-विज्ञान मे पराधीनता, जडता एव सन्देह का अभाव करने की सामर्थ्य स्वत -सिद्ध है। अत. अध्यात्म-विज्ञान द्वारा प्राणी निस्सन्देहता, स्वाधीनता, चिन्मयता से अभिन्न हो जाता है, जिसके होते ही आस्तिक-विज्ञान में स्वत प्रवेश हो जाता है, जो प्रेम से परिपूर्ण है, अथवा यो कहो कि कर्त्तव्यपरायणता की पूर्णता योग मे, योग की पूर्णता बोध मे और बोध की पूर्णता प्रेम की अभिव्यक्ति मे निहित है।

विवेक जिस अनन्त का विधान है, सामर्थ्य और वस्तु भी उसी की अभिव्यक्ति है। अत विवेक के प्रकाश मे ही सामर्थ्य तथा वस्तुओ का सदुपयोग करना अनिवार्य है। विवेक के अनादर से ही काम, कामना और अकर्त्तव्य का जन्म होता है। अत साधक के जीवन मे अविवेक का अर्थात् विवेक के अनादर का कोई स्थान ही नही है। अनन्त की अहैतुकी कृपाशक्ति ने ही अपने स्वभाव से विवश होकर प्राणी को विवेक, सामर्थ्य तथा वस्तु प्रदान की है और अपने को इतना छिपाया है कि प्राणी प्राप्त विवेक, सामर्थ्य और वस्तु को अपनी ही मानता है, यह नही जानता कि अपनी कृपा से आप मोहित होकर उस अनन्त ने सभी को सब कुछ दिया है। भला, इस उदारता पर कौन ऐसा होगा-जो अपने को निछावर न कर सके, अर्थात् उसीकी प्रीति होकर न रहे,जिसकी यह अनुपम, अलोकिक एवं अनिर्वचनीय उदारता है।

अब यदि कोई यह कहे कि तुम जिसे उदारता मानते हो

वह तो प्राकृतिक विधान है, तो भी यह स्पष्ट हो ही जाता है कि जिसका विधान इतना सुन्दर है वह न जाने कितना सुन्दर होगा। भला, उसका प्रेमी होने मे किसे आपत्ति तथा हिचक हो सकती है अर्थात किसी को भी नही। उसकी प्रीति बिना हुए आसक्तियो का अन्त सभव नही है। उसकी जिज्ञासा के बिना कामनाओ का अन्त हो ही नही सकता और प्रत्येक प्रवृत्ति के द्वारा उन्ही के नाते सेवा करने पर ही स्वार्थ भाव गल सकता है। इस दृष्टि से प्रीति जिज्ञासा और सेवा ही चित्तशुद्धि की मुख्य साधना है, जिसकी अभिव्यक्ति विवेक के आदर मे निहित है। जब तक साधक मे साधन की अभिव्यक्ति नही होती तब तक साधन में स्वाभाविक अभिरुचि अर्थात नित-नव प्रियता नही होती, जिसके हुए बिना साधन मे अस्वाभाविकता और असाधन मे स्वाभाविकता प्रतीत होती है अर्थात् कर्त्तव्य-परायणता मे कठिनता और अकर्त्तव्य मे सुगमता प्रतीत होती है जो वास्तव मे चित्त की अशुद्धि है। अत प्रीति, जिज्ञासा तथा सेवा द्वारा चित्त शुद्धि के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए जो विवेक-सिद्धि है।

२१—५—५६

५१

वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति

[वस्तुओ के अस्तित्व को स्वीकार करने मे, उनको अपना मानने मे और उनका दुरुपयोग करने से चित्त अशुद्ध होता है । वस्तुओ के सदुपयोग द्वारा व्यक्तियो की सेवा किये बिना न तो निर्मोहता की ही अभिव्यक्ति होती है और न सग्रह की रुचि ही नाश होती है । वस्तुओ के अस्तित्व की स्वीकृति मे समस्त दोषो का अन्त और वस्तुओ से अतीत के जीवन से अभिन्नता स्वत हो जाती है । अत वस्तुओ का सदुपयोग, उनकी ममता का त्याग एव उनके अस्तित्व को स्वीकार कर चित्त को शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ करना अनिवार्य है ।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

वस्तुओ के अस्तित्व को स्वीकार करने से, उनको अपना मानने से और उनका दुरुपयोग करने से चित्त अशुद्ध होता है । यदि अपने से भिन्न की स्वीकृति न होती तो चित्त कभी अशुद्ध न होता । अब विचार यह करना है कि अपने से भिन्न की स्वीकृति का मूल कारण क्या है ? जब प्राणी किसी प्रतीत तथा मान्यता को ही अपना स्वरूप मान लेता है तब उसमे अपने आप परिच्छिन्नता की सत्यता दृढ हो जाती है, जिसके होते ही अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हो जाते हैं ।भेद की उत्पत्ति से चित्त अशुद्ध

हो जाता है अथवा यो कहो कि 'यह' को 'मैं' स्वीकार करने पर काम तथा मोह की उत्पत्ति होती है, जो चित्त को अशुद्ध कर देती है। यद्यपि 'यह' को 'मैं' स्वीकार करने मे निज अनुभूति का विरोध है परन्तु प्राणी प्रमादवश अपनी अनुभूति का आदर नही करता। उसका परिणाम यह होता है कि देह में ही अहम्-बुद्धि दृढ हो जाती है, जिसके होते ही अनेक दोप अपने आप उत्पन्न हो जाते है। कितने आश्चर्य्य की बात है कि प्राथी कभी तो अपने को देह मानता है और कभी देह को अपना मानता है। अर्थात् अहम् और मम् दोनो की स्थापना देह मे कर लेता है। अहम् की स्थापना करके देह से भिन्न बाह्य वस्तु मे ममता करता है और देह के प्रति ममता करके अपने को किसी मान्यता विशेष मे आबद्ध करता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक मान्यता मे परिच्छिन्नता की स्वीकृति स्वतः सिद्ध प्रतीत होने लगती है। यद्यपि प्राणी मे आवश्यकता स्वभाव से ही अनन्त से अभिन्न होने की है, क्योकि कोई भी अपने को सीमित होकर सदैव नही रखना चाहता, परन्तु मान्यता मे अस्तित्व-बुद्धि स्वीकार करने से काम की उत्पत्ति होती है, जिससे स्वाभाविक आवश्यकता मे शिथिलता आ जाती है और अनेक कामनाये उत्पन्न हो जाती हैं जो वस्तुओ से सम्बन्ध दृढ कर देती हैं। इस दृष्टि से वस्तुओ के अस्तित्व की स्वीकृति तथा उनसे सम्बन्ध स्वाभाविक आवश्यकता के प्रमाद से अथवा निज अनुभूति के विरोध को सहन करने से होता है।

यह नियम है कि स्वाभाविक आवश्यकता की विस्मृति भले ही हो जाय पर उसका नाश नही होता। स्वीकृति से सत्यता तथा प्रियता भले ही प्रतीत होती हो, परन्तु उसका अस्तित्व नही होता, अर्थात् अस्तित्वहीन स्वीकृति प्राणी को न जाने कितना नाच नचाती है, अथवा यो कहो कि अनेक प्रकार के सघर्षों मे आबद्ध कर देती है।

समस्त स्वीकृतियो के मूल मे क्या है इसका निर्णय उस समय तक सम्भव नही है जब तक कि समस्त स्वीकृतियो का अन्त अस्वीकृति द्वारा न कर दिया जाय। ऐसी कोई स्वीकृति हो ही नही सकती जिसमे परिवर्तन तथा अभाव न हो। समस्त स्वीकृतिया दो प्रकार से उत्पन्न होती है—एक तो श्रवण के आधार पर और एक अपने को देह मान लेने पर। श्रवण से पूर्व प्राणी अपने को क्या मानता था, इसका उसे पता नही और देह की तद्रूपता से पूर्व किसके साथ तादात्म्य था, इसे भी बेचारा प्राणी जानता नही। परन्तु निज विवेक द्वारा वह यह अवश्य जानता है कि "देह मैं नही हूँ" क्योकि जो 'यह' है वह 'मैं' हो ही नही सकता। 'मैं' क्या है ? यह प्रश्न उत्पन्न होकर "मैं देह नही हूँ" इस निर्णय तक प्राणी को पहुँचा देता है। परन्तु बेचारा प्राणी सन्देह की वेदना को न सहने के कारण जब अपने को किसी मान्यता से अभिन्न कर लेता है तब देह को अपना मानकर देह के नाते देश, समाज, वर्ग, जाति, सम्प्रदाय, दल आदि मान्यताओ से बंध जाता है और देह की भाँति ही सबको अपना मानने लगता है। परन्तु उसकी स्वाभाविक आवश्यकता विभु होने की है, इस कारण किसी भी सीमा मे अपने को सन्तुष्ट नही कर पाता। यहाँ तक कि समस्त सृष्टि को अपना मानने पर भी उसे सन्तोष नही होता और फिर उसमे यह प्रश्न स्वाभाविक उत्पन्न हो जाता है कि वास्तव मे मेरा कौन है और मैं क्या हूँ ? यह मूल प्रश्न उस समय तक हल हो ही नही सकता जब तक प्राणी किसी को भी अपना मानता है और अपने को कुछ मानता है। कारण कि विकल्प-रहित मान्यता वास्तविकता की भाँति ही सत्य प्रतीत होती है। अत मान्यता के रहते हुए वास्तविकता का बोध सम्भव ही नही है। मैं और मेरा

ज्यो-ज्यो विभु होता जाता है त्यों-त्यो व्यक्तिगत सुख-दु ख निर्जीव होता जाता है,जिससे प्राणी के जीवन मे करुणा,उदारता, क्षमा, समता, मुदिता आदि सद्‌गुणो की अभिव्यक्ति होती जाती है। किन्तु वे गुण किसके हैं? कहाँ से आए है? यह समस्या ज्यो की त्यो रहती है। यद्यपि सद्‌गुणो के आ..ार पर व्यक्ति को आदर, प्यार और आवश्यक वस्तुए बडी ही सुगमतापूर्वक मिलने लगती हैं, पर अपने सम्बन्ध में व्यक्ति सन्देहरहित नही हो पाता और किसी न किसी गुण-दोष और मान्यता के आधार पर अपने व्यक्तित्व की रक्षा करता रहता है, अथवा यो कहो कि व्यक्तित्व के अभिमान मे आबद्ध रहता है, जो चित्त की अशुद्धि है।

व्यक्तित्व का अभिमान समस्त दोषो का मूल है, कारण कि उसके रहते हुए अनन्त से अभिन्नता अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व का ज्ञान सम्भव ही नही है। अनन्त से अभिन्न हुए बिना स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति और अस्वाभाविक कामनाओ की निवृत्ति हो ही नही सकती और स्वतन्त्र अस्तित्व के बोध के बिना अनन्त से अभिन्नता सम्भव नही है। यद्यपि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उससे देश-काल की दूरी हो ही नही सकती, परन्तु जो मान्यता तथा सम्बन्ध अस्तित्वहीन है वह स्वतन्त्र अस्तित्व के वोध मे आवरण बन गया है। उस आवरण का नाश तभी हो सकता है जब अस्तित्वहीन मान्यता को विवेकपूर्वक अस्वीकार कर दिया जाय।

अब यदि कोई यह कहे कि अस्वीकार करने पर भी स्वीकृति ज्यो की त्यो प्रतीत होती है। ऐसी दशा मे स्वीकृति के अनुसार अपने पर जो दूसरो का अधिकार है उसकी यथाशक्ति रक्षा की जाय और दूसरो पर जो अपना अधिकार है, उसका त्याग कर दिया जाय। यह नियम है कि जिसको जो देना है वह

देने पर और जिससे लेना है उससे न लेने पर अपने आप सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही वह स्वीकृति अपने आप मिट जाती है जिसके आधार पर सम्बन्ध की स्थापना हुई थी। सम्बन्ध कितना ही पुराना क्यो न हो विच्छेद होते ही सदा के लिए मिट जाता है। यह नियम है कि सम्बन्ध न रहने पर जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उसका बोध हो जाता है और जो अस्तित्वहीन है उसका अभाव हो जाता है, जिसके होते ही अनत से अभिन्नता और जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उसका बोध हो जाता है और फिर जो मूल प्रश्न है कि "मेरा कौन है और मैं क्या हू ?" वह अपने आप हल हो जाता है, जिसके होते ही चित शुद्ध हो जाता है।

मान्यता में सत्यता और वस्तुओ की ममता एक मात्र लेन-देन के आधार पर ही जीवित है। जिसे किसी से कुछ लेना नही है और जो प्राप्त है वह देकर देने की रुचि का अन्त कर देता है, वह बडी ही सुगमतापूर्वक उससे अभिन्न हो जाता है जो समस्त मान्यताओ से पूर्व था और सदैव है अर्थात् जो देश-काल की दूरी से रहित है। देने की रुचि का अन्त तभी हो सकता है जब प्राणी देने के अभिमान से और लेने की आशा से रहित हो जाय अर्थात् दी हुई वस्तु को उसी की जाने जिसको दी है। अपनी मानकर देने से लेने की आशा अवश्य उत्पन्न होती है। लेने की आशा रहते हुए देने की बात कहना ईमानदारी नही है अथवा यो कहो कि देने के रूप मे लेना ही है, देना नही। इतना ही नही उस प्राणी का लेना भी देना हो जाता है जो अपने मे अपना कुछ नही पाता। जिसे अपने मे अपना कुछ भी प्रतीत होता है उसका देना भी लेना है अर्थात् उसका त्याग भी राग है और प्रेम भी मोह है। उसके द्वारा की हुई सेवा भी स्वार्थ है। पर इस रहस्य को वे ही जान

पाते हैं जिन्होने विवेक-दृष्टि से अपने में अपना कुछ नही पाया अपितु सभी मे उसी को पाया जो सर्वदा सभी का सब कुछ है। जो सभी का सब कुछ है, प्रत्येक प्राणी को सर्वदा उसी का होकर रहना है। यह नियम है कि जो जिसका होकर रहता है उसमे उसी की सत्यता एव प्रियता अङ्कित हो जाती है और उससे भिन्न को स्वीकृति ही शेष नही रहती। अस्वीकृति से उसी का नाश होता है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नही है और सत्यता तथा प्रियता उसी की सुरक्षित रहती है जिससे स्वरूप की एकता है। जिससे स्वरूप की एकता है उससे चित्त अशुद्ध नही होता अपितु चित्त मे उसी के प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है, यहा तक कि चित्त है या प्रेम है यह कहते नही बनता, अर्थात् प्रेम से भिन्न चित्त का कोई अस्तित्व ही नही भासता, क्योकि यह प्रेम का स्वभाव ही है कि उसकी अभिव्यक्ति जिसमे होती है वह भी प्रेम ही हो जाता है। प्रेम के साम्राज्य मे न तो सुख की आशा ही रहती है और न जड़ता, जिसके न रहने से चित्त की अशुद्धि अपने आप मिट जाती है।

चित्त मे अशुद्धि उसी समय तक रहती है जिस समय तक प्राणी वस्तुओ के अस्तित्व को अस्वीकार नही करता अथवा उनकी ममता से रहित नही होता अथवा प्राप्त वस्तुओ का सदुपयोग और अप्राप्त वस्तुओ के चिन्तन का त्याग नही करता। वस्तुओ के चिन्तन का त्याग किए बिना वस्तुओ की आसक्ति उत्तरोत्तर बढती ही रहती है। वस्तुओ की आसक्ति वस्तुओ का सदुपयोग नही करने देती। वस्तुओ के सदुपयोग किए बिना न तो व्यक्तियो की सेवा ही होती है और न वस्तुओ की ममता का ही नाश होता है। वस्तुओ की ममता से रहित हुए बिना व्यक्ति मे निर्लोभता की अभिव्यक्ति ही नही होती, जिसके बिना हुए दरिद्रता अपने आप आ जाती है, जो बेचारे प्राणी को अनेक

प्रकार के अभावों मे आवद्ध कर देती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

वस्तुओ के सदुपयोग द्वारा व्यक्तियो की सेवा विना किये न तो निर्मोहता की ही अभिव्यक्ति होती है और न सग्रह की रुचि ही नष्ट हो पाती है। निर्मोहता के विना प्राणी न तो मृत्यु के भय से ही रहित होता है और न अमरत्व से ही उसकी अभिन्नता होती है। सग्रह की रुचि प्राणी को जड़ता और संकीर्णता में आवद्ध कर देती है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अव यदि कोई यह कहे कि व्यक्तियो की सेवा से तो मोह की वृद्धि होगी, पर वात ऐसी नही है, कारण कि मोह की वृद्धि तो व्यक्तियो के द्वारा सुख की आशा करने पर होती है, सेवा से नही। व्यक्तियो की सेवा व्यक्तियो के मोह से रहित कर देती है, क्योकि सेवा वही कर सकता जो सुख की आशा से रहित है। सुख की आशा से रहित होने पर मोह की गध भी नही रहती। इस दृष्टि से व्यक्तियों की सेवा व्यक्तियो के मोह से रहित करने मे समर्थ है।

व्यक्तियो के मोह से रहित होते ही चित्त स्वत. शुद्ध हो जाता है, क्योकि किसी भी दोप का अत्यन्त अभाव होने पर सभी दोप मिट जाते हैं, कारण कि एक ही दोप स्थान भेद से अनेक रूपो मे प्रतीत होता है। वस्तुओ की ममता लोभ को और उनका दुरुपयोग मोह को उत्पन्न करता है। अतः न तो वस्तुओ से ममता ही करना है और न उनका दुरुपयोग ही। वस्तुओ के सदुपयोग से प्राकृतिक नियम के अनुसार आवश्यक वस्तुएं स्वत मिलने लगती है। इस दृष्टि से वस्तुओ के सदुपयोग मे ही आवश्यक वस्तुओ की उपलव्धि निहित है और वस्तुओ के सदुपयोग मे ही परस्पर मे स्नेह की वृद्धि तथा मोह की निवृत्ति होती है। अत प्रत्येक दृष्टि से वस्तुओ का सदुपयोग करना अनिवार्य है। निर्लो-

भता तथा निर्मोहता की अभिव्यक्ति होते ही चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है जिसके हो जाने पर वस्तुओ के अस्तित्व की अस्वीकृति की सामर्थ्य स्वत आ जाती है।

वस्तुओ के अस्तित्व की अस्वीकृति मे समस्त दोषो का अन्त और वस्तुओ से अतीत के जीवन से अभिन्नता स्वत हो जाती है। अप्राप्त वस्तुओ के चिन्तन का त्याग, प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग की सामर्थ्य प्रदान करता है। प्राप्त वस्तुओ का सदुपयोग वस्तुओ की ममता से रहित करने मे समर्थ है। वस्तुओ की ममता का अभाव एवं निर्मोहता एव निर्लोभता की अभिव्यक्ति मे हेतु है,क्योकि देहरूपी वस्तु की ममता का अभाव निर्मोहता और अन्य सभी वस्तुओ की ममता का अभाव निर्लोभता है जो जडता और परिच्छिन्नता का अन्त करता है, जिसके होते ही निष्कामता, उदारता, चिन्मयता और अपरिच्छिन्नता आदि दिव्य-जीवन से साधक की अभिन्नता हो जाती है, अथवा यो कहो कि समस्त वस्तुओ के अस्तित्व की अस्वीकृति मे ही स्वाधीनता तथा अपना महत्व निहित है। स्वाधीनता तथा अपने महत्व मे ही सन्तुष्ट न होने से अनन्त से अभिन्नता स्वत हो जाती है, जो वास्तविकता है, अथवा यो कहो कि जीवन अनन्त का प्रेम हो जाता है। प्रेम की अभिव्यक्ति मे ही समस्त अभावो का अभाव है, कारण कि प्रेम से भेद, भिन्नता, नीरसता आदि समस्त दोषो का अत हो जाता है। अत वस्तुओ का सदुपयोग, उनकी ममता का त्याग एव उनके अस्तित्व को अस्वीकार कर चित्त को शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ करना अनिवार्य है।

२२—६—५६

५२

कर्त्तव्यनिष्ठ में ही उदारता की अभिव्यक्ति

[जब तक प्राणी की दृष्टि दूसरो के कर्त्तव्य तथा उदारता पर लगी रहती है तब तक उसका चित्त अशुद्ध रहता है। देहाभिमान के कारण प्राणी को इन्द्रियों के ज्ञान मे सत्यता तथा प्रियता भासित होती है जिसके कारण पर की प्रीति उत्पन्न होती है और वह अधिकार-लालसा मे आबद्ध हो जाता है जो उसे दूसरो के कर्त्तव्य पर निर्भर कर देती है या यों कहो कि वह अपने अधिकार-पूर्ति की पराधीनता मे फंस जाता है। पराधीन-प्राणी का चित्त शुद्ध नही हो सकता।

जब प्राणी निज विवेक के प्रकाश मे प्राप्त का सदुपयोग करने लगता है तो उसमे कर्त्तव्यनिष्ठा जागृत होती है कर्त्तव्यनिष्ठा-जागृत होते ही उसमे से अधिकार-लालसा, अकर्त्तव्य तथा पर-दोष दर्शन का नाश हो जाता है, जिसके होते ही उसमे उदारता की अभिव्यक्ति होती है जो उसके जीवन मे से नीरसता का अन्त कर चित्त को शुद्ध कर देती है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

जब तक प्राणी की दृष्टि दूसरो की कर्त्तव्य तथा उदारता पर लगी रहती है तब तक उसका चित्त अशुद्ध रहता है, कारण कि पराधीन प्राणी का चित्त शुद्ध नही रह सकता अर्थात् पराधीनता अशुद्धि की जननी है। पर की प्रतीति ही प्राणी मे अधिकार

लालसा तथा भोगासक्ति को जन्म देती है। अधिकार की दासता और भोग की आसक्ति मे आबद्ध प्राणी के चित्त मे सर्वदा किसी न किसी अश मे खिन्नता ही निवास करती है। खिन्नता काम की जननी है और काम पराधीनता का मूल है। इस दृष्टि से पराधीनता अशुद्धि की जननी है अथवा यो कहो कि काम के साम्राज्य मे कोई भी स्वाधीन नही रहा और स्वाधीनता के बिना किसी को चिर-शाति तथा स्थायी प्रसन्नता एव नित-नूतन-रस की प्राप्ति नही हुई। शाति के बिना सामर्थ्य प्रसन्नता के बिना सामर्थ्य का सदुपयोग और नित-नूतन-रस के बिना काम का नाश नहीं हो सकता, जिसके बिना चित्त अशुद्ध ही रहता है।

निज विवेक के अनादर से ही देहाभिमान पुष्ट होता है, जिसके होते ही इन्द्रियों के ज्ञान मे सत्यता तथा प्रियता भासित होती है, जिससे पर की प्रतीति स्वत होने लगती है, जिसके होते ही प्राणी मे अधिकार लालसा उत्पन्न होती है, जो उसे दूसरों के कर्त्तव्य पर निर्भर कर देती है, क्योकि किसी के अधिकार में ही किसी का कर्तव्य निहित है। इस कारण अधिकार की दासता रहते हुए कोई भी प्राणी स्वाधीनता के साम्राज्य मे प्रवेश नही कर सकता। यद्यपि स्वाधीनता की माग प्राणी मे स्वाभाविक है, परन्तु अधिकार-कामना ने उसकी पूर्ति नही होने दी। इस दृष्टि से जो प्राणी अपने अधिकार का त्याग नही कर सकता उसे किसी भी प्रकार स्वाधीनता नही मिल सकती। स्वाधीनता के बिना न तो कोई अमरत्व प्राप्त कर सकता है और न उसके जीवन में प्रेम की ही अभिव्यक्ति हो सकती है। इतना ही नही स्वाधीनता प्राप्त किए बिना प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग भी नही कर सकता। वस्तुओ के सदुपयोग के बिना वस्तुओ का अभाव नही मिट सकता। सामर्थ्य के सदुपयोग के बिना अस-

मर्थता का अन्त नही हो सकता और योग्यता के सदुपयोग मे ही आवश्यक ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति निहित है ।

स्वाधीनता कर्तव्यपालन मे है अधिकार माँगने मे नही । स्वाधीनता प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग मे है, परिस्थिति-परिवर्तन मे नही, प्राप्त सुख के वितरण मे है, सुख की आशा मे नही । इतना ही नही, राग-द्वेष की निवृत्ति तथा त्याग और प्रेम की प्राप्ति में भी प्राणी सर्वदा स्वाधीन है । इसके अतिरिक्त और कही स्वाधीनता है नही ।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है । प्राकृतिक न्याय में किसी का अहित नही है, अपितु सभी का हित है । इस दृष्टि से प्राणी का विकास प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग मे ही निहित है । पर परिस्थिति का सदुपयोग वे ही प्राणी कर सकते है जो परिस्थिति मे जीवन-बुद्धि नही रखते अपितु परिस्थिति को साधन-सामग्री ही जानते है । परिस्थिति स्वभाव से ही परिवर्तनशील है । जो परिवर्तनशील है उसके परिवर्तन का प्रयास करना प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग करना है । इतना ही नही जो सामर्थ्य प्राणी को परिस्थिति के सदुपयोग के लिए मिली थी उसका व्यय अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन मे अथवा परिस्थिति के परिवर्तन मे करना उसका दुरुपयोग है । सामर्थ्य के दुरुपयोग का बडा ही भयङ्कर परिणाम होता है अर्थात् प्राणी सामर्थ्य के दुरुपयोग से न तो प्रतिकूलता का ही अन्त कर सकता है और न उसे अनुकूलता ही प्राप्त होती है । ऐसी कोई परिस्थिति हो ही नही सकती जो सर्वांग मे अनुकूल हो अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का समूह है । अनुकूलता की दासता तथा प्रतिकूलता का भय प्राणी को परिस्थिति का सदुपयोग नही करने देता, जिसके विना किए न तो उत्कृष्ट परिस्थिति प्राप्त होती है और न

परिस्थितियो मे अतीत के जीवन मे प्रवेश ही होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनो ही कर्तव्यनिष्ठ होने के लिए आवश्यक अङ्ग है क्योकि प्रतिकूलता के बिना वस्तुओ के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान नही होता और अनुकूलता के बिना प्राप्त वस्तुओ का उदारतापूर्वक सदुपयोग नही होता। वस्तुओ के स्वरूप का यथेष्ट ज्ञान हुए बिना वस्तुओ की दासता का अन्त नही हो सकता और वस्तुओ के सदुपयोग के विना परस्पर मे स्नेह की एकता सम्भव नही है। स्नेह की एकता के बिना सघर्ष मिट नही सकता अथवा यो कहो कि स्नेह की एकता मे ही भेद तथा भिन्नता का नाश और सुन्दर समाज का निर्माण एव चिरशाँति की स्थापना निहित है। इस दृष्टि से अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनो ही मे प्राणी का हित है। अत अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता का भय चित्त से सदा के लिए निकाल देना अनिवार्य है, जिसके निकलते ही अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का सदुपयोग स्वत होने लगता है और फिर पराधीनता शेष नही रहती, जिससे चित्त सुगमतापूर्वक शुद्ध हो जाता है।

अधिकार-लालसा से रहित, प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग मे ही कर्तव्यपरायणता है और कर्तव्यपरायणता मे ही विद्यमान राग की निवृत्ति है। अधिकार-लालसा मे आबद्ध प्राणी कर्तव्यनिष्ठ नही हो सकता कारण कि अधिकार की अपूर्ति उसे क्षोभित तथा क्रोधित कर देगी और अधिकार की पूर्ति उसमे नवीन राग उत्पन्न कर देगी। इस दृष्टि से अधिकार-लालसा के त्याग मे ही कर्तव्यपरायणता निहित है। क्षोभित होने पर प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास हो जाता है और क्रोधित होने पर कर्तव्य की विस्मृति अर्थात् कर्तव्य के ज्ञान की स्मृति आच्छादित हो जाती है। प्राप्त

सामर्थ्य के ह्रास और कर्तव्य के ज्ञान की विस्मृति मे कर्तव्य-परायणता सम्भव नही है, क्योकि कर्तव्य के ज्ञान तथा सामर्थ्य के द्वारा ही प्राणी कर्तव्यनिष्ठ हो सकता है। यद्यपि प्रत्येक परि-स्थिति मे कर्तव्यपालन सम्भव है, परन्तु जब प्राणी प्राप्त सामर्थ्य तथा ज्ञान का सदुपयोग नही करता तब कर्तव्य से च्युत हो जाता है। राग-निवृत्ति के लिए ही कर्तव्य अपेक्षित है, अत. नवीन राग की उत्पत्ति भी प्राणी को कर्तव्यनिष्ठ नही होने देती। इस दृष्टि से अपने अधिकार का त्याग किये विना कोई भी प्राणी कर्तव्य-निष्ठ नही हो सकता। अधिकार के नाम पर कर्तव्य की वात कहना अकर्तव्य मे कर्तव्यवुद्धि रखना है। जो अकर्तव्य कर्तव्य के भेष में आता है वह वड़ा ही भयकर होता है क्योकि उसका त्याग कठिन हो जाता है। अकर्तव्य अकर्तव्य के रूप मे अधिक काल तक जीवित नही रह सकता, क्योकि सर्वांश मे कोई भी दोप किसी प्रकार से नही रह सकता। गुण का आश्रय पाकर ही दोप अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख पाता है, अथवा यो कहो कि अकेला दोष रह ही नही सकता। इस दृष्टि से कर्तव्य और अकर्तव्य का भेद जानना अनिवार्य है। अधिकार की माग अकर्तव्य की जननी है, और दूसरो के अधिकार की रक्षा कर्तव्य को जननी है। जिस प्राणी की दृष्टि सदैव दूसरे के अधिकार पर ही लगी रहती है वही कर्तव्यनिष्ठ हो पाता है और जो प्राणी अपने ही अधिकार को देखता रहता है वह कभी भी कर्तव्यनिष्ठ नही हो पाता। इतना ही नही, वह वेचारा ऐसी भयंकर परिस्थिति मे आवद्ध हो जाता है कि एक दोप की निवृत्ति के लिए दूसरे दोप को अपनाता रहता है, जैसे किसी की रक्षा के लिए किसी की हिंसा, किसी के विकास के लिए किसी का ह्रास, किसी के लाभ के लिए किसी की हानि करता रहता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जिस रक्षा,

विकास और लाभ के मूल मे हिंसा, ह्रास और हानि है उससे अन्त मे हिंसा, ह्रास और हानि ही सिद्ध होती है, क्योकि जिससे उत्पत्ति होती है उसका अन्त उसीमे होता है। अतः अकर्त्तव्य के त्याग से जिस कर्त्तव्य का उदय होता है वही कर्त्तव्य वास्तव मे विकास का मूल है। अकर्त्तव्य का त्याग किए बिना कर्त्तव्यनिष्ठ होना किसी भी प्रकार सभव ही नही है, अथवा यो कहो कि अकर्त्तव्य का त्याग भी निषेधात्मक दृष्टि से कर्त्तव्य ही है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्राप्त सुख दुखियो की वस्तु है। उसे अपना मानना और उसका भोग करना पराई वस्तु को अपना मानना है। पराई वस्तु को अपना मानने से प्राणी का सर्वनाश हो जाता है। इस कारण जो सुख प्राप्त है उसका वितरण कर उसकी आसक्ति से रहित होना अनिवार्य है। सुख बाट देने पर दु ख सदा के लिए मिट जाता है और सुख-दु ख से अतीत वास्तविक जीवन से अभिन्नता हो जाती है। जो प्राणी सुख भोग तथा सुख की आशा मे आबद्ध हो जाता है वह कभी भी स्वाधीन नही हो सकता और स्वाधीनता के बिना चित्त की शुद्धि सम्भव नही है, क्योकि पराधीन प्राणी सर्वदा सुख की आशा मे आबद्ध रहता है। सुख की आशा चित्त में राग-द्वेष उत्पन्न करती है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। सुख की आशा से रहित होने पर राग-द्वेष त्याग तथा प्रेम मे बदल जाता है और फिर चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है। चित्त उसी प्राणी का शुद्ध हो सकता है जो दूसरो के कर्त्तव्य पर दृष्टि नही रखता और जिसकी प्रसन्नता किसी की उदारता पर निर्भर नही हैं, परन्तु जो स्वय दूसरो के लिए उदार भी है और कर्त्तव्यनिष्ठ होकर दूसरो के अधिकार की रक्षा भी करता है, अर्थात् उदारता तथा कर्त्तव्यपरायणता ही जिसे अभीष्ट है उसीका चित्त शुद्ध हो सकता है।

चित्त की अशुद्धि चित्त को प्राणी के अधीन नही रहने देती, अर्थात् प्राणी अशुद्ध चित्त का न तो निरोध ही कर सकता है, और न उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है, न उसे जब जिसमे लगाना चाहे उसमे लगा सकता है और न जिससे हटाना चाहे उससे हटा सकता है, अर्थात् चित्त के हटाने, लगाने मे प्राणी स्वाधीन नही रहता, जिसके बिना, जो करना चाहिए उसे कर नही पाता और जो नही करना चाहिए उससे बच नही पाता । जो करना चाहिए उसके न करने से जो मिलना चाहिए वह नही मिलता । उसका परिणाम यह होता है कि बेचारा प्राणी उससे विमुख हो जाता है जिससे उसकी वास्तविक एकता है । जो नही करना चाहिए उसमे प्रवृत्त होने से उत्तरोत्तर अवनति की ओर ही गतिशील होता रहता है ।इस दृष्टि से चित्त को अपने अधीन बनाए रखना अत्यन्त आवश्यक है, पर वह तभी सम्भव होगा जब चित्त स्वस्थ हो जाय । उसके लिए चित्त को शान्त तथा शुद्ध करना अनिवार्य है ।

चित्त का निरोध हुए बिना आवश्यक सामर्थ्य का विकास नही होता और उसके बिना स्वाधीनता की ओर प्रगति नही होती चित्त के निरोध के लिए किसी वस्तु-व्यक्ति आदि की अपेक्षा नही है, अपितु सभी वस्तु-व्यक्ति आदि से सम्बन्ध-विच्छेद की आवश्यकता है, क्योकि वस्तु-व्यक्ति आदि के सम्बन्ध से ही चित्त की गति विपरीत हो गई है, जिससे चित्त का निरोध नही होता । जब चित्त मे वस्तु या व्यक्ति का राग अङ्कित हो जाता है तब चित्त अशुद्ध हो जाता है । कोई वस्तु चित्त को अशुद्ध नही करती । वस्तु का महत्व, उसका राग, उसका दुरुपयोग और उसकी कामना चित्त को अशुद्ध करती है । वस्तु के सदुपयोग से, उसकी कामना न करने से चित्त शुद्ध हो जाता है । व्यक्तियो से

सुख की आशा तथा उनकी ममता चित्त को अशुद्ध करती है। यदि व्यक्तियों की सेवा की जाय और उनसे ममता न की जाय तो चित्त अशुद्ध नही होता अपितु शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से वस्तु और व्यक्ति का होना चित्त की अशुद्धि मे हेतु नही है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार वस्तुओ का सदुपयोग व्यक्तियो की सेवा मे है और व्यक्तियो की सेवा उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कराने मे समर्थ है। इस दृष्टि से न्यायपूर्वक सम्पादित वस्तुओ के द्वारा व्यक्तियो की सेवा करना और किसी भी व्यक्ति से सुख की आशा न करना चित्त की शुद्धि का साधन है। जो प्राणी व्यक्तियो से सुख की आशा करता है वह व्यक्तियो की सेवा नही कर सकता और न उनकी ममता से ही रहित हो सकता है। इस कारण किसी भी व्यक्ति को किसी भी व्यक्ति की आशा नही करनी चाहिए, अपितु सुख देने के लिए प्रयास करते रहना चाहिये। सुख देने की भावना मे ही सुख की आशा का त्याग निहित है। सुख की आशा का त्याग सुख की दासता से रहित करने मे समर्थ है। सुख की दासता से रहित होते ही चित्त स्वत शान्त हो जाता है।

चित्त की शान्ति चित्त को स्वय शुद्ध कर देती है और चित्त की शुद्धि से चित्त स्वस्थ हो जाता है,जिसके होते ही बडी ही सुगमतापूर्वक चित्त का निरोध अथवा चित्त से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, अथवा चित्त स्वत अपने अधीन हो जाता है।

जो चित्त को अपने अधीन कर लेता है वह पराधीन नही रहता अथवा यो कहो कि उसकी प्रसन्नता किसी परिस्थिति विशेष पर निर्भर नही रहती। ऐसा होने पर समस्त विश्व उसके अधीन हो जाता है, अथवा यो कहो कि वह विश्वनाथ से

अभिन्न हो जाता है, अर्थात् अनाथ नही रहता अपितु सनाथ हो जाता है। चित्त के निरोध मे समस्त भौतिक विकास निहित है और चित्त के वाधित होने मे अर्थात् उससे सम्वन्ध न रहने पर अध्यात्म-जीवन से अभिन्नता होती है। जब तक प्राणी को चित्त जैसी कोई वस्तु भासित होती है तब तक चित्त मे कोई न कोई अशुद्धि है। जब चित्त सर्वांग मे शुद्ध हो जाता है तब उसका भास नही होता क्योकि खिन्नता तथा नीरसता के रहते हुए ही चित्त का भास होता है और खिन्नता तथा नीरसता उसी समय तक रहती है जिस समय तक चित्त मे किसी न किसी प्रकार की अशुद्धि है।

चित्त स्वभाव से अशुद्ध नही है, क्योकि चित्त तो एक अलौकिक सामर्थ्य है। प्राकृतिक नियम के अनुसार सामर्थ्य के दुरुपयोग से सामर्थ्य दूषित होती है। यद्यपि सामर्थ्य मे स्वभाव से कर्तृत्व नही है, परन्तु उसके दुरुपयोग का प्रभाव उनमें कर्तृत्व के आरोप को भासित करता है। सामर्थ्य का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग उसीके अधीन है जिसे वह प्राप्त है। सामर्थ्य जिसकी देन है विवेक भी उसीकी देन है। जब प्राणी प्राप्त विवेक के प्रकाश में चित्त रूपी सामर्थ्य का सदुपयोग करता है तब चित्त मे किसी प्रकार की अशुद्धि का भास नही होता। इस दृष्टि से चित्त मे अशुद्धि केवल अविवेकसिद्ध है जो प्राणी का अपना दोष है, चित्त का नही। अविवेक विवेक के अनादर से उत्पन्न होता है। अत अविवेक का कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है उसकी उत्पत्ति प्राप्त के दुरुपयोग से होती है। प्राप्त का दुरुपयोग ही समस्त दोषो का मूल है। प्राप्त का दुरुपयोग किसी की देन नही है, अपितु अपना ही वनाया हुआ दोप है, जिनका अन्त प्राणी जब चाहे

कर सकता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता तथा उदारता-पूर्वक प्राणी बडी ही सुगमता से चित्त शुद्ध कर सकता है। कर्त्तव्यपरायणता अपने अधिकार के त्याग मे निहित है और उदारता किसी से घृणा न करने पर ही सुरक्षित रह सकती है। जो किसी से भी घृणा करता है वह उस अनन्त से घृणा करता है, क्योकि समस्त विश्व उसी की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से अकर्त्तव्य और घृणा के लिए कोई स्थान नही है। अधिकार-लालसा अकर्त्तव्य को और परदोषदर्शन घृणा को जन्म देता है। परदोषदर्शन की दृष्टि निर्दोष नही होने देती, क्योकि पर-दोषदर्शी निज दोष का दर्शन ही नही कर पाता, जिसके बिना निर्दोषता की अभिव्यक्ति सम्भव नही है, क्योकि अपने दोष के ज्ञान मे ही निर्दोषता निहित है।

कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग करता है, जिससे खिन्नता स्वत मिट जाती है, जिसके मिटते ही उदारता की अभिव्यक्ति अपने-आप हो जाती है। उदारता का क्रियात्मक रूप सेवा, तात्त्विक रूप एकता और वास्तविक रूप प्रीति है। सेवा से नीरसता निर्जीव हो जाती है और प्रीति से उसका अत्यन्त अभाव हो जाता है। नीरसता का अन्त होते ही चित्त स्वत शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ हो जाता है, जो समस्त विकास का मूल है।

२३—६—५६

५३

संकल्प उत्पत्ति-पूर्ति से अतीत का जीवन

[सकल्प उत्पत्ति से पूर्व जो स्थिति है वह प्राणी की स्वाभाविक स्थिति होती है। परन्तु सकल्प उत्पत्ति वस्तु,व्यक्ति आदि से सम्वन्ध जोड देती है। परिणामत सकल्प अपूर्ति-काल मे वस्तुऐं अप्राप्त होने पर भी उनसे सम्वन्ध वना रहता है और पूर्त्ति काल मे प्राप्त होने पर भी सम्वन्ध विच्छेद हो जाता है। इससे प्राणी प्राप्ति के सुख के प्रलोभन और सम्वन्ध-विच्छेद के दु ख के भय मे आबद्ध हो जाता है अथवा सकल्प उत्पत्ति-पूत्ति के द्वन्द्व मे फँस जाता है जिससे उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है।

जव उसको यह द्वन्द्वात्मक परिस्थिति सन्तुष्ट नही करती तो उसमे अपनी ,स्वाभाविक स्थिति की जिज्ञासा जागृत होती है जो उसे वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि के सुख की दासता से मुक्त कर सकल्प उत्पत्ति-पूत्ति से अतीत के जीवन मे प्रवेश करा देती है जो सभी अवस्थाओ से अतीत है।

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

सकल्प-उत्पत्ति से पूर्व जो स्थिति है उसमे अस्वाभाविकता नही है और न उस स्थिति मे किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध दृढ होता है। यह नियम है कि जवतक किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध की स्थापना नही होती तब तक राग-द्वेष की प्रतीति

नही होती और राग-द्वेष-रहित स्थिति मे चित्त अशुद्ध नही होता। इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि का कारण चित्त मे राग-द्वेष का अकित होना है और कुछ नही। अत राग-द्वेष-रहित होने पर ही चित्त शुद्ध हो सकता है। सकल्प उत्पत्ति से पूर्व की स्थिति का भास यदि स्पष्ट हो जाय तो सकल्प-पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दु ख का प्रभाव चित्त मे अकित न हो, जिसके हुए बिना चित्त मे अशुद्धि आ ही नही सकती। इस दृष्टि से सुख का प्रलोभन और दु ख का भय ही चित्त को अशुद्ध करता है। सुख-दु ख के भास होने मात्र से कोई चित्त अशुद्ध नही होता, चित्त अशुद्ध होता है सुख के महत्व और दु ख के भय से।

सुख का भास होने पर भी यदि उसका महत्व नही है तो राग की उत्पत्ति नही होगी और दु ख का भास होने पर भी यदि उसका भय न हो तो द्वेष की उत्पत्ति नही हो सकती। इतना ही नही, सुख के महत्व से ही दु ख का भय उत्पन्न होता है।

जब तक प्राणी वस्तु, व्यक्ति आदि के अस्तित्व को स्वीकार नही कर लेता तब तक सकल्प की उत्पत्ति ही नही होती। इस दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति आदि की सत्यता की स्वीकृति और उनका सम्बन्ध ही सकल्प का स्वरूप है। सकल्प की उत्पत्ति वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध जोड देती है। सकल्प-पूर्ति-काल मे जिन वस्तुओ की प्राप्ति होती है उन वस्तुओ से सम्बन्ध नही रहता। तात्पर्य यह कि सकल्प-अपूर्ति काल मे वस्तुए अप्राप्त है, पर उनका सम्बन्ध ज्यो का त्यो सुरक्षित है और सकल्प-पूर्ति-काल मे वस्तुए प्राप्त हैं, पर उनसे सम्बन्ध नही रहता (चाहे वह काल कितना ही अल्प क्यो न हो)।

पर इस रहस्य को कोई बिरले ही जानते है। एक सकल्प की पूर्ति और दूसरे सकल्प की उत्पत्ति से पूर्व जो स्थिति है उसमे

किसी वस्तु आदि से सम्वन्ध नही है, क्योकि वह वही स्थिति है जो संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व थी।

यह नियम है कि देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्वन्ध किसी न किसी क्रिया की उत्पत्ति मे ही निहित है। सकल्प उत्पत्ति की क्रिया किसी न किसी वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्वन्ध जोडती है। इच्छित वस्तु की प्राप्ति-काल मे सकल्प-उत्पत्ति की क्रिया शेष नही रहती, जिसके न रहने पर उससे अभिन्नता हो जाती है जो क्रिया-उत्पत्ति से पूर्व थी और उसी काल मे सुख का भास होता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि सुख का भास किसी वस्तु-व्यक्ति आदि पर निर्भर नही है, अपितु उस पर निर्भर है जो सकल्प-उत्पत्ति से पूर्व है। यदि सुख का भास इच्छित वस्तु की प्राप्ति पर निर्भर होता तो वह सुख जो संकल्प-पूर्ति-काल मे था, इच्छित वस्तु के रहने पर भी रहता। परन्तु उस सुख का भास उसी समय तक रहता है जिस समय तक दूसरे सकल्प की उत्पत्ति नही होती अर्थात् संकल्प-उत्पत्ति सुख से विमुख करती है। परन्तु प्राणी असावधानी के कारण उस सुख का आरोप इच्छित वस्तु, व्यक्ति आदि मे कर लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि इच्छित वस्तुओ का महत्व बढ़ जाता है, उनकी सत्यता दृढ हो जाती है, जिसके होते ही प्राप्त वस्तुओ मे ममता और अप्राप्त वस्तुओ का चिन्तन अपने आप होने लगता है, अथवा यो कहो कि सकल्प-विकल्प का प्रवाह स्वत वहने लगता है, व्यक्ति देश, काल आदि की सत्यता भासने लगती है और जो देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि का प्रकाशक है अर्थात् जो अनन्त, नित्य, चिन्मय है, उससे विमुखता हो जाती है, जिससे सकल्प उत्पत्ति और पूर्ति मे ही जीवन भासने लगता है और जो वास्तविक जीवन है उसका अभाव सा प्रतीत होता है। यद्यपि सकल्प उत्पत्ति-पूर्ति के मूल मे

वास्तविक जीवन की जिज्ञासा विद्यमान रहती है अथवा यो कहो कि जिसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा जाना नही, जो कभी मिला नही, उसकी प्यास प्राणी मे स्वभाव से है, जिसे कोई भी वस्तु बुझा न सकी, परन्तु कामना-पूर्ति के प्रलोभन ने न तो जिज्ञासा की पूर्ति होने दी और न उसके प्रेम की अभिव्यक्ति होने दी जिसकी प्यास प्राणी मे स्वाभाविक है।

जब प्राणी सकल्प उत्पत्ति-पूर्ति की द्वन्द्वात्मक परिस्थिति से अपने को सन्तुष्ट नही पाता तब विद्यमान जिज्ञासा अपने आप जागृत होती है, जो कामनाओ को खाकर स्वत पूरी हो जाती है। परन्तु जब तक प्राणी को सकल्प-उत्पत्तिमात्र का श्रम सहन होता है अर्थात् असह्य नही होता तब तक जिज्ञासा की पूर्ण जागृति सम्भव नही है। यद्यपि चिर-विश्राम की आवश्यकता प्राणी मे स्वाभाविक है परन्तु क्रियाजनित सुखासक्ति उस आवश्यकता को आच्छादित करती रहती है, किन्तु मिटा नही पाती। इतना ही नही, प्रत्येक श्रम का उद्गम और अन्त विश्राम मे ही निहित है।

ऐसा कोई श्रम है ही नही जो आदि और अन्त से रहित हो। इसी कारण श्रम के द्वारा जिन वस्तुओ की उत्पत्ति होती है, वे वस्तुएँ भी आदि और अन्त से रहित नही हैं। परन्तु चिर विश्राम से जिनकी प्राप्ति होती है वह आदि और अन्त से रहित है अर्थात् अनन्त है। प्रत्येक श्रम के मूल मे कोई न कोई कामना रहती है। उसकी पूर्ति के लिए ही श्रम की अपेक्षा है। कामनाएँ जिस भूमि मे उपजती हैं, वह भूमि अविवेक सिद्ध है अर्थात् निज विवेक के अनादर मे ही काम की उत्पत्ति होती है और काम से ही कामनाएँ जन्म पाती हैं। परिवर्तनशील, सीमित सौन्दर्य्य ही काम का स्वरूप है, अथवा यों कहो कि उत्पत्ति-विनाश-युक्त

वस्तुओ में सत्यता, सुन्दरता एव प्रियता का भास ही काम है।

इतना ही नही, रस तथा जीवन की रुचि भी काम ही है। यद्यपि कामनाओ की पूर्ति मे न तो जीवन ही है और न वह रस जो नीरसता मे न बदल जाय परन्तु प्राणी रस के भास को रस तथा शरीर के अस्तित्वमात्र को जीवन मान लेता है। किन्तु इस मान्यता से वह अपने को पूर्ण सन्तुष्ट नही कर पाता, क्योकि शरीर का अस्तित्व नित्य नही है और कामना-पूर्ति का रस अपने आप नीरसता मे बदल जाता है। वह अस्तित्व जिसका नाश न हो अर्थात् नित्य हो और वह रस जो नीरसता मे न बदले, अर्थात् अनन्त हो कामना-पूर्ति के द्वारा सम्भव नही है। यद्यपि नित्य जीवन और अनन्त रस की लालसा प्राणी मे स्वाभाविक है, परन्तु परिवर्तनशील, सीमित-सौन्दर्य की आसक्ति उस लालसा को शिथिल कर देती है जिससे वेचारा प्राणी कामना-पूर्ति के श्रम मे आवद्ध रहता है।

कामना-पूर्ति के क्षेत्र में श्रम की अत्यन्त आवश्यकता है, परन्तु काम की निवृत्ति के लिए श्रम लेशमात्र भी अपेक्षित नही है, क्योकि अनन्त, नित्य-सौन्दर्य्य की लालसा की जागृति-मात्र से काम का नाश हो जाता है। अब यदि कोई यह कहे कि क्या उस लालसा की जागृति श्रम नही है ? कदापि नही । क्योकि श्रम शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा होता है और अनन्त, नित्य सौन्दर्य की लालसा शरीर आदि वस्तुओ से सम्वन्ध-विच्छेद कर देती है। शरीर-रहित जीवन मे श्रम की गन्ध भी नही है। अव यदि कोई यह कहे कि शरीर-रहित भी कोई जीवन है ? तो करना होगा शरीरयुक्त ही यदि जीवन है तो फिर मृत्यु क्या है ? अत यह निर्विवाद सत्य है कि शरीर से अतीत ही जीवन है, शरीर मे जीवन नही है, अपितु शरीर मे

जीवन का मिथ्याभास है। हाँ, यह अवश्य कह सकते है कि उस मिथ्या जीवन के भास मे वास्तविक जीवन की लालसा निहित है। जिस प्रकार निर्बलता बल की लालसा से भिन्न और कुछ नही है, उसी प्रकार जीवन का भास वास्तविक जीवन की लालसा से भिन्न कुछ नही है। यदि निर्बलता का भास न हो तो बल की आवश्यकता ही जागृत नही हो सकती अर्थात् निर्बलता का भास बल की आवश्यकता की जागृति मे हेतु है और बल की आवश्यकता बल की प्राप्ति मे समर्थ है, क्योकि वर्तमान की आवश्यकता मे ही भविष्य की उपलब्धि निहित है। अत जीवन की आवश्यकता की जागृति और जीवन की आवश्यकता की जागृति मे ही जीवन की प्राप्ति स्वत सिद्ध है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राप्ति किसी अन्य की नही होती, प्रत्युत उसी की होती है जो नित्य प्राप्त है।

कामना उसी की होती है जिसका भास हो पर अस्तित्व नित्य न हो, और आवश्यकता उसी की होती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है पर भास नही। यदि ऐसा न होता तो कामनाओ की निवृत्ति और आवश्यकता की पूर्ति ही सिद्ध न होती। कामनायुक्त-अनित्य जीवन मे कामना-पूर्ति-अपूर्ति का द्वन्द्व रहता है परन्तु कामनाओ की निवृत्ति से जिस स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति होती है उस वास्तविक जीवन मे पूर्ति-अपूर्ति का द्वन्द्व नही है अर्थात् वह द्वन्द्वातीत, अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन है। इस दृष्टि से श्रम का सम्बन्ध केवल उसी समय तक है जिस समय तक काम का नाश नही हुआ अर्थात् जिसे काम मे ही जीवन प्रतीत होता है वह श्रम को ही महत्त्व देता है। किन्तु श्रम के लिए भी विश्राम अपेक्षित है, क्योकि प्रत्येक गति के लिए स्थिरता अनिवार्य है, कारण कि स्थिरता के बिना गति हो ही

नही सकती और वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिए भी विश्राम परम आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि विश्राम की आवश्यता सभी को सर्वत्र, सर्वदा है। जिसके बिना किसी समस्या का हल न हो सके अथवा जिसका किसी प्रकार भी त्याग न किया जा सके उसके महत्त्व को भूल जाना और उसे न अपनाना—इससे बढ़कर प्राणी की और कोई असावधानी हो ही नही सकती। अत काम के नाश तथा वास्तविक जीवन से अभिन्न होने के लिए चिर-विश्राम, जो स्वत प्राप्त है, उसे अपना लेना अनिवार्य है। उसको अपनाये बिना किसी प्रकार का विकास सम्भव ही नही है।

यदि किसी कारण उसकी अप्राप्ति प्रतीत हो जो स्वाभाविक प्राप्त है, तो उसकी प्राप्ति के लिए उससे भिन्न जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसके वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयास निज विवेक पूर्वक करना अनिवार्य है। विश्राम से भिन्न श्रम और नित्य जीवन से भिन्न अनित्य-जीवन की जो प्रतीति है उसका विवेक दृष्टि से क्या स्वरूप है ? अथवा यो कहो कि इन्द्रिय दृष्टि से जिन वस्तुओ मे सत्यता और सुन्दरता प्रतीत होती है बुद्धि दृष्टि से उन्ही वस्तुओ मे मलीनता और क्षणभंगुरता का दर्शन होता है और विवेक दृष्टि से किसी ने उन प्रतीत होने वाली वस्तुओ के अस्तित्व का ही दर्शन नही किया क्योकि विवेक दृष्टि जडता से विमुख कर चिन्मयता से अभिन्न कर देती है। चिन्मय-साम्राज्य मे किसी ने न तो काम को पाया और न श्रम को। अत काम और श्रम का अस्तित्व उसी समय तक प्रतीत होता है जब तक प्राणी इन्द्रिय दृष्टि पर बुद्धि दृष्टि से विजयी नही होता, और बुद्धिदृष्टि के परिणाम को अपनाकर उससे विवेक-पूर्वक असङ्ग नही हो जाता। इन्द्रिय दृष्टि प्राणी के चित्त मे वस्तुओ के राग को अङ्कित करती है और

बुद्धिदृष्टि उस अकितराग का नाश करती है, जिसके होते ही भोग योग मे बदल जाता है अथवा यो कहो कि प्राणी संकल्पपूर्ति की दासता से रहित सकल्पनिवृति की शान्ति मे विश्राम पाता है। किन्तु विवेकदृष्टि प्राणी को सकल्पनिवृति की शान्ति से भी असग कर देती है, जिसके होते ही सभी अवस्थाओ से अतीत, चिन्मय-साम्राज्य मे प्रवेश हो जाता है।

चिन्मय- साम्राज्य मे किसी प्रकार का वैषम्य तथा अभाव नही है। विषमता और अभाव के अन्त होने पर राग-द्वेष की निवृति अपने आप हो जाती है, जिसके होते ही त्याग तथा प्रेम अपने आप आ जाता है अथवा यो कहो कि स्वाधीनता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है, क्योकि त्याग पराधीनता को खा लेता है। स्वाधीनता की अभिव्यक्ति मे अमरत्व और प्रेम की अभिव्यक्ति मे अगाध अनन्त- रस निहित है।

सकल्प-पूर्ति-अपूर्ति से अतीत् के जीवन की सत्ता स्वीकार करने पर समस्त वस्तु, अवस्थाआदि से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है क्योकि सकल्प के द्वारा ही वस्तु, अवस्था आदि से सम्बन्ध दृढ होता है। अब यदि कोई यह कहे कि सकल्प से अतीत के जीवन की स्वीकृति सम्भव नही है तो क्या सकल्प जिस परिस्थिति से सम्बन्ध दृढ करता है उसकी स्वीकृति सम्भव है ? कदापि नही, कारण कि प्रत्येक परिस्थिति परिवर्तनशील तथा अभावरूप है। अभाव की सत्ता स्वीकार करना और जिस चिन्मय-जीवन मे किसी प्रकार का अभाव नहीं है उसकी सत्ता अस्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ? वस्तु-अवस्था आदि से अतीत की सत्ता को स्वीकार न करना ही चित्त को अशुद्ध करना है। वस्तुओ की स्वीकृतिभले ही चित्त मे अङ्कितरहे पर वस्तुओ की प्राप्ति तो सम्भव ही नही है।इस दृष्टि से वस्तुओ

की स्वीकृति कुछ अर्थ नही रखती। उस पर भी यदि किसी को वस्तुओ से अतीत के जीवन की स्वीकृति अभीष्ट नही है अथवा उसकी स्वीकृति मे असमर्थता है तो वस्तुओ की स्वीकृति भी नही करनी चाहिए। वस्तुओ की अस्वीकृति से वस्तुओ से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही वस्तुओ से अतीत के जीवन की प्राप्ति स्वत हो जाती है। जिसकी प्राप्ति हो जाती है उसकी स्वीकृति की अपेक्षा ही नही रहती और जिसकी प्राप्ति सम्भव नही है, उसकी स्वीकृति कुछ अर्थ नही रखती। वस्तुओ से अतीत के जीवन की स्वीकृति वस्तुओ की दासता से रहित करने मे साधनरूप है और कुछ नही। प्राकृतिक नियम के अनुसार साधन असाधन का नाशकर साध्य से साधक को अभिन्न कर स्वय मिट जाता है। जिस प्रकार औषध रोग को खाकर स्वत मिट जाती है और परिणाम मे आरोग्यता ही शेष रहती है, उसी प्रकार साधनरूप-स्वीकृति असाधनरूप-स्वीकृति को खाकर स्वय मिट जाती है और साध्य ही अपनी महिमा मे आप स्थित हो ज्यो का त्यो अपने आप को प्रकाशित करता है, अर्थात् जो अपने आप मे स्वत. सिद्ध है, उसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नही रहती।

इस दृष्टि से साधन के निर्माण मे ही साध्य की उपलब्धि निहित है और चित्त की शुद्धि से ही साधक मे साधन की अभिव्यक्ति होती है अत. सर्वात्मभाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग कर, राग-द्वेष से रहित होकर चित्त को शुद्ध करना अनिवार्य है। सर्वात्मभाव के बिना राग-द्वेष का अन्त सम्भव नही है कारण कि जो भिन्नता तथा भेद को स्वीकार कर लेता है उसका चित्त राग-द्वेष-रहित नही हो सकता,जिसके हुए बिना न तो स्वाधीनता की प्राप्ति हो सकती है और न प्रेम की अभिव्यक्ति।

सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है जब प्राणी प्राप्त वस्तुओ के सदुपयोग से, ममतारहित होकर, व्यक्तियो की सेवा कर, उनसे सुख की आशा से रहित हो जाय। कारण कि सुख की आशा ने ही प्राणी को वस्तु-व्यक्ति आदि की दासता मे आबद्ध कर दिया है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। अत चित्त की शुद्धि के लिए वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति के द्वारा सुख की आशा से रहित होना अनिवार्य है।

२४—६—५६

५४

करने में सावधान और होने में प्रसन्न

[जब प्राणी करने मे सावधान और होने मे प्रसन्न नही रहता तब चित्त अशुद्ध हो जाता है। प्राप्त वस्तु, व्यक्ति,योग्यता एव परिस्थिति का असावधानी के कारण, दुरुपयोग करने से करने की रुचि का नाश नही होता और अकर्त्तव्य का जन्म होता है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है और सुख-लोलुपता, सीमित अहम्-भाव, कर्तृत्व का अभिमान आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं जिससे प्राणी जडता, अभाव, पराधीनता आदि मे आबद्ध हो जाता है।

जब अशुद्ध होने की वेदना जागृत हो जाती है तो वह सुख-लोलुपता का त्याग करने मे समर्थ होता है। अशुद्धि जनित-सुख के त्याग से सीमित अहम्-भाव एव कर्तृत्व के अभिमान का अन्त हो जाता है। पर यह तभी होता है जब प्राणी सावधानीपूर्वक जो कर सकता है वह कर डाले और नही कर सकता उसकी लेशमात्र भी चिंता न करे। जो कर सकता है वह कर डालने पर जो होना चाहिए वह स्वत होने लगता और जो नही करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही नही होती। या यो कहो कि जब वह कामना-पूर्ति के सुख की दासता मे जडता,पराधीनता एव मृत्यु का अनुभव कर लेता है तो उसमे करने मे सावधान तथा होने मे प्रसन्न रहने की सामर्थ्य स्वत आ जाती है,जो चित्त शुद्धि मे समर्थ है।]

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय,

जब प्राणी करने मे सावधान और होने मे प्रसन्न नही रहता तब चित्त अशुद्ध हो जाता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति मे करने की रुचि विद्यमान है। उस रुचि की पूर्ति तथा निवृति की सामर्थ्य भी प्राप्त है। इस दृष्टि से प्राप्त के सदुपयोग मे ही प्राणी का पुरुषार्थ निहित है। परन्तु जब प्राणी असावधानी से प्राप्त का सदुपयोग नही करता तब न तो करने की रुचि का ही नाश होता है और न उत्कृष्टता की ओर उसकी प्रगति ही होती है। करने की रुचि का नाश हुए बिना किसी को भी विश्राम नही मिलता, जिसके बिना आवश्यक विकास नही होता। इतना ही नही, करने की रुचि के कारण जो नही करना चाहिए वह करने लगता है, अर्थात् कर्त्तव्य के अभाव मे ही अकर्त्तव्य का जन्म होता है, जिससे चित्त उत्तरोत्तर अशुद्ध ही होता जाता है।

अब विचार यह करना है कि जो करने योग्य नही है अर्थात् अकर्त्तव्य है उसमे प्राणी की प्रवृत्ति ही क्यो होती है? जो कर्त्ता अपने लक्ष्य को जाने बिना कर्म मे प्रवृत्त होता है उसकी प्रवृत्ति सावधानी-पूर्वक नही होती, जिसके न होने से बेचारा कर्त्ता न तो कर्तृत्व के अभिमान से ही रहित हो पाता है और न फल की आशा से। कर्तृत्व के अभिमान के कारण प्राणी अपनी प्रवृत्ति मे आप बध जाता है, अर्थात् उसके चित्त मे किए हुए कर्मों का सस्कार अङ्कित हो जाता है, क्योकि प्रत्येक प्रवृत्ति के दो रूप होते हैं। एक तो वह जो दृश्य रूप से प्रतीत होता है और दूसरा वह जो अदृश्य रूप से उसके अहम्-भाव मे अङ्कित हो जाता है। प्रवृत्ति का जो रूप दृश्य रूप से प्रतीत होता है उसका सुख-दु ख प्रवृत्तिकाल मे ही कर्त्ता को प्रत्यक्ष हो जाता है, परन्तु प्रवृत्ति का

दूसरा रूप जो अदृश्य के रूप मे उसके अहम्-भाव मे अङ्कित हो जाता है, उसका फल प्राकृतिक विधान के अनुसार कालान्तर मे किसी न किसी परिस्थिति के रूप मे प्रकट होता है। जो प्राणी प्रवृत्ति के उस रूप पर दृष्टि नही रखते जो अदृश्य के रूप मे अङ्कित होता है, वे भविष्य को उज्ज्वल बनाने मे समर्थ नही होते, कारण कि वर्तमान के सुख-दुःख पर ही उनकी दृष्टि रहती है, जो दूरदर्शिता नही है। दूरदर्शिता के बिना कोई भी अपने भविष्य को सुन्दर नही बना सकता। अत प्रवृत्ति के बाह्य रूप पर ही दृष्टि नही रखना चाहिए, अपितु प्रवृत्ति के उस रूप पर भी पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए जो कर्ता मे अदृश्य रूप से अङ्कित होता है। कर्ता, कर्म और फल देखने मे भले ही अलग-अलग मालूम होते हो पर वास्तव मे प्रत्येक कर्म और फल कर्ता का ही रूपान्तर है। अत जो कर्त्ता जैसा होता है वैसा ही उसका कर्म होता है और जैसा कर्म होता है वैसा उसका भविष्य होता है। सुन्दर कर्ता का कर्म और भविष्य सुन्दर होता है और असुन्दर कर्ता का कर्म और भविष्य असुन्दर होता है।

अब विचार यह करना है कि कर्ता असुन्दर क्यो होता है? जो कर्ता क्रियाजनित सुख मे ही अपने को आबद्ध रखता है वही असुन्दर हो जाता है, क्योकि क्रियाजनित सुख प्राणी को जडता तथा पराधीनता मे आबद्ध कर देता है। जडता और पराधीनता मे आबद्ध होने पर कर्ता की प्रवृत्ति निरुद्देश्य होने लगती है। जिस प्रवृत्ति के मूल मे वास्तविक उद्देश्य नही है, केवल प्रवृत्ति-जनित सुख ही जिसका उद्देश्य है वह प्रवृत्ति कभी भी कर्त्तव्यरूप नही हो सकती। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक प्रवृत्ति का उद्देश्य होना चाहिए, क्योकि प्रवृत्ति ही जीवन नही है। यदि प्रवृत्ति ही जीवन होती तो उसकी निवृत्ति नही होती, किन्तु कोई

प्रवृत्ति ऐसी है ही नही जो अपने आप निवृत्ति मे विलीन न हो जाय। इतना ही नही, प्रवृत्ति के द्वारा जो परिस्थिति उत्पन्न होती है वह भी अपने आप बदल जाती है अर्थात् उसमे भी स्थिरता नही है, अथवा यो कहो कि प्रत्येक परिस्थिति स्वरूप से परिवर्तनशील, अपूर्ण तथा अभावरूप ही है। अत यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रवृत्तिमात्र मे ही जीवन नही है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति का कोई उद्देश्य होना चाहिए, तभी प्रवृत्ति की सार्थकता सिद्ध हो सकती है। जिसमे प्रवृत्ति की रुचि है उसमे उद्देश्य का ज्ञान भी निहित है। यदि ऐसा न होता तो कर्तव्य अकर्तव्य का प्रश्न ही उत्पन्न न होता, अथवा अपने प्रति होने वाले अकर्तव्य का ज्ञान ही व्यक्ति को न होता पर ऐसा कोई व्यक्ति है ही नही जो अपने प्रति होने वाली बुराई को बुराई न जानता हो। जिसे बुराई का ज्ञान है उसके द्वारा क्यो होती है, इसका एक मात्र कारण यही है कि वह लक्ष्य का निर्णय बिना किए ही प्रवृत्ति का आरम्भ कर देता है। अत कर्ता वही सुन्दर हो सकता है जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति उद्देश्यपूर्ण हो

प्राकृतिक नियम के अनुसार व्यक्ति का लक्ष्य वही हो सकता है जिसकी प्राप्ति अनिवार्य है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है और जिसमे किसी भी प्रकार से परिवर्तन सम्भव नही हैं अर्थात् लक्ष्य सदैव नित्य होता है और परिस्थिति चाहे जैसी क्यो न हो, उसमे सतत परिवर्तन होता रहता है। इस दृष्टि से कोई भी परिस्थिति किसी का भी लक्ष्य नही हो सकती। व्यक्ति इस बात को भले ही न जाने अथवा न माने पर यह ध्रुव सत्य है कि परिस्थिति लक्ष्य नही है। परिस्थिति लक्ष्य न होने पर भी प्रत्येक परिस्थिति साधनरूप अवश्य है। इस नाते सभी परिस्थितिया आदरणीय हैं।

जो उद्देश्य नित्य है उसका ज्ञान भी व्यक्ति मे स्वत सिद्ध

है पर प्रवृत्ति मात्र को ही उद्देश्य मान लेने से, उस स्वत. सिद्ध ज्ञान की विस्मृति हो जाती है। विस्मृति उसकी नही होती जिसे प्राणी जानता नही। जाने हुए की विस्मृति को ही विस्मृति कहते हैं। उद्देश्य का ज्ञान तो है, पर उस पर दृष्टि नही है। जब प्रवृत्ति का परिणाम व्यक्ति को सन्तुष्ट नही कर पाता तब इसमे उद्देश्य की जिज्ञासा स्वत जागृत होती है यह नियम है कि जिसकी विस्मृति हो गई हो, उसकी जिज्ञासा यदि जागृत हो जाय तो उसका ज्ञान स्वत हो जाता है, इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य को स्वत जान सकता है। जिसका जो लक्ष्य है, उसे वह सिखाया नही जा सकता, क्योकि जो बात स्वय जानने की है उसको सीखना-सिखाना उससे विमुख होना तथा करना है। हाँ यह अवश्य है कि व्यक्ति अपने उद्देश्य को दूसरो के सामने प्रकट कर सकता है और यह भी सम्भव है कि लक्ष्य मे भिन्नता न हो पर भिन्नता न होने पर भी व्यक्ति जब तक अपने लक्ष्य को आप नही जानता है तब तक वह उसके लिए अपना सर्वस्व निछावर नही कर सकता। जिसके लिए सर्वस्व निछावर नही किया जा सकता वह वर्तमान की वस्तु नही हो सकती, और जो वर्तमान की वस्तु नही हो सकती और जिसकी प्राप्ति नही हो सकती वह लक्ष्य नही हो सकता। अत· प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त विवेक के प्रकाश मे अपने लक्ष्य को जानना अनिवार्य है।

ऐसा कौन व्यक्ति है जो यह नही जानता कि मुझे उत्कृष्टता, सामर्थ्य, स्वाधीनता, निस्सन्देहता; जीवन और प्रेम की आवश्यकता है, पर इस जाने हुए उद्देश्य पर दृष्टि नही रहती। उसका एकमात्र कारण यह है कि अपने उद्देश्य को व्यक्ति दूसरो के द्वारा सीखना चाहता है। जिसका उद्देश्य उत्कृष्टता की ओर गतिशील होना है उसे स्वार्थ को सेवा मे बदलना होगा, क्योकि सेवाके बिना

किसी को भी आदर, कीर्ति, यश तथा उत्कृष्ट भोगों की प्राप्ति नही हो सकती । इस प्रकार का उद्देश्य प्राणी का तब तक नही हो सकता, जब तक वह अपने को देह मानता है अथवा यो कहो कि देह भिन्न नही जानता । अपने को देह मानने में प्राप्त विवेक का विरोध है । अत जिस निर्णय मे विवेक का विरोध है वह निर्णय निर्विवाद नही हो सकता अर्थात् नित्य नही हो सकता । परन्तु फिर भी उत्कृष्टता की ओर गतिशील होना अवनति नही है । प्राकृतिक नियम के अनुसार परिस्थिति जनित सत्यता और सुन्दरता उसी समय तक प्रतीत होती है जिस समय तक वह प्राप्त न हो जाय अथवा उसे विवेकपूर्वक जानने का प्रयास न किया जाय। परिस्थिति की प्राप्ति परिस्थिति से अरुचि उत्पन्न करने में स्वत समर्थ है, परन्तु कब ? जब दृष्टि सदैव उत्तरोत्तर उत्कृष्टता की ओर ही लगी रहे, अथवा यो कहो कि भौतिक विकार की पराकाष्ठा मे वस्तुओ से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा स्वत जागृति होती है । इस दृष्टि से क्रमश भौतिक विकास भी व्यक्ति को वास्तविक उद्देश्य की ओर अग्रसर करता है ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आज जो वस्तुओ मे ही जीवन-बुद्धि रखता है वह कल वस्तुओ से अतीत जो जीवन है उस पर विश्वास करने का अथवा उनको प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है । इस दूरदर्शिता की दृष्टि से समस्त व्यक्तियो का उद्देश्य एक हो सकता है । परन्तु जो व्यक्ति अदूरदर्शी है वह कुल काल के लिए उत्कृष्ट परिस्थितियो को ही जीवन मान लेता है,पर उसकी यह मान्यता स्थायी नही रह सकती, क्योकि सारी सृष्टि का मूल आधार एक है, अत समस्त प्राणियो का वास्तविक उद्देश्य भी एक ही है। उस उद्देश्य का वर्णन व्यक्तियो ने योग्यता और रुचि-भेद से अनेक प्रकार से किया है, पर जिसका वह वर्णन है, वह

एक और अनन्त है। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति उसको अपने-अपने दृष्टिकोण से देखता है, उसके सम्बन्ध मे सोचता है और उसके प्राप्त करने के लिए परिस्थिति के अनुसार प्रयत्नशील रहता है। इतना ही नही ज्यो-ज्यो वह उद्देश्य की ओर अग्रसर होता जाता है, त्यो-त्यों उसका व्यक्तिगत स्वभाव गलता जाता है और ज्यो-ज्यो व्यक्तिगत स्वभाव गलता जाता है त्यों-त्यो वह अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न होता जाता है। जिस काल मे व्यक्ति अपने सीमित स्वभाव का अन्त कर देता है उसी काल मे वह वास्तविक लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है।

जव व्यक्ति अपने उस वास्तविक उद्देश्य पर विश्वास कर लेता है जो समस्त कामनाओ के मूल मे बीजरूप से विद्यमान है तव उसे प्रत्येक परिस्थिति समान प्रतीत होने लगती है, क्योकि परिस्थिति का बाह्य रूप काम का ही परिणाम है और कुछ नही। यह रहस्य ज्यो-ज्यो स्पष्ट होता जाता है, त्यो-त्यो कामनाए स्वत निवृत्ति होती जाती हैं। जिस काल मे समस्त कामनाए मिट जाती है उसी काल मे प्राणी वास्तविक उद्देश्य के लिए आकुल तथा व्याकुल होने लगता है। यह नियम है कि व्याकुलता की जागृति प्राणी के उस अहम्‌भाव को खा लेती है जिसमे काम का निवास था। काम का अन्त होते ही व्याकुलता प्रीति मे वदल जाती है और निस्सन्देहता की अभिव्यक्ति हो जाती है। समस्त कामनाओ की भूमि काम है। इस कारण कामनाओ की निवृत्ति होने पर भी काम निर्जीव दशा मे रहता है जिसे व्याकुलता की अग्नि भस्मीभूत कर देती है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मे कुछ कामनाए ऐसी होती हैं जिनकी पूर्ति अनिवार्य हैं और कुछ ऐसी भी उत्पन्न होने लगती है जिनकी पूर्ति सम्भव ही नही है। जिन कामनाओ की पूर्ति के बिना विद्यमान राग की निवृत्ति नही हो सकती,

उनकी पूर्ति के लिए परिस्थिति प्राकृतिक न्याय से स्वत प्राप्त होती है । जिन कामनाओ की निवृत्ति अनिवार्य है उनके लिए उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्राणी को विवेक प्राप्त है । इस दृष्टि से प्राणी को एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए विवेकपूर्वक कामनाओ की निवृत्ति भी करना है और सेवाभाव अथवा कर्त्तव्य-बुद्धि से उन्हे पूरा भी करना है । परन्तु कामना-पूर्ति भी कामना-निवृत्ति का ही साधन है, नवीन कामनाओ को जन्म देने के लिए नही ।

जिस विवेक मे कामना-निवृत्ति की सामर्थ्य है, उसी विवेक से प्राणी को कामना-पूर्ति का विधान भी प्राप्त है । अर्थात् विधान-विरोधी प्रवृत्ति द्वारा किसी भी कामना को पूरा नही करना है, क्योकि जो विधान का अनादर करता है, वह करने मे सावधान नही रह सकता और जो सावधान नही रह सकता वह कामना-पूर्ति द्वारा कामना-निवृत्त की स्थिति को प्राप्त नही कर सकता ।

जिस विधान से सारी सृष्टि अपने-अपने कार्य मे नियुक्त है, उसी विधान से व्यक्ति को परिस्थिति मिली है और उसी विधान का प्रकाश विवेक है । इतना ही नही समस्त सृष्टि मे जो सामर्थ्य कार्य कर रही है उसी से व्यक्ति को भी सामर्थ्य मिली है और इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि व्यक्ति मे जो विवेक, सामर्थ्य और वस्तु है वह अनत की ही देन है । इस दृष्टि से प्राणी समस्त सृष्टि से अभिन्न है, अत जिस व्यक्ति को जो परिस्थिति प्राप्त है उसका हित उसी के सदुपयोग मे निहित है । परन्तु व्यक्ति असावधानी के कारण प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नही करता और अप्राप्त परिस्थिति के चिंतन मे आबद्ध हो जाता है, उसका परिणाम यह होता है कि जो विवेक और सामर्थ्य उसे प्राप्त-परिस्थिति

के सदुपयोग द्वारा परिस्थितियों से अतीत की ओर अग्रसर होने के लिए मिली थी, वह नष्ट हो जाती है और विवेक का अनादर हो जाता है। इतना ही नही उत्कृष्ट परिस्थिति भी प्राप्त नही होती, अपितु प्राप्त परिस्थिति में भी अनेको प्रतिकूलताए अपने आप आ जाती हैं जिनसे भयभीत होकर प्राणी कर्त्तव्यच्युत हो जाता है, जो विनाश का मूल है।

प्रत्येक व्यक्ति को सावधानीपूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है। वह तभी सम्भव होगा जब वह जिस परिस्थिति मे जो कर सकता है उसके अतिरिक्त कुछ भी करने की बात न सोचे और जो कर सकता है उससे अपने को न वचाए। प्रत्येक व्यक्ति पराये दु ख से करुणित हो सकता है, और प्राप्त सुख को वितरित कर सकता है और विवेक-पूर्वक दूसरो से सुख की आशा का त्याग कर सकता है,अत. सुख की आशा से रहित प्राप्त सुख का सद्व्यय और पर दु ख से दु खी होने पर ही व्यक्ति परिस्थिति का सुन्दरता-पूर्वक सदुपयोग कर सकता है।

जो व्यक्ति दूसरो से सुख की आशा करता हो और पराए दु.ख से अपने को वचाता हो और प्राप्त सुख को दु खियो की धरोहर न मानता हो, वह कितना ही सामर्थ्यशाली क्यो न हो परिस्थिति का सदुपयोग नही कर सकता। जो परिस्थिति का सदुपयोग नही कर सकता वह परिस्थिति की दासता मे मुक्त नह हो सकता। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का आदर-पूर्वक सदुपयोग करना है और प्राप्त परिस्थिति की दासता से भी रहित होना है। यह नियम है कि परिस्थितियो की दासता से रहित होने की सामर्थ्य उसी को प्राप्त होती है जो प्राप्त परिस्थिति मे भी अपना हित जानता है और उसका सदुपयोग आदर-पूर्वक,

उद्देश्य पर दृष्टि रखते हुए विधिवत् कर्त्तव्य-बुद्धि से अथवा सेवा-भाव से राग रहित होने के लिए करता है।

प्राप्त परिस्थिति मे हित है, इस बात को वही जान सकता है जो अनन्त के मगलमय विधान पर विश्वास करता है। जिसे प्राकृतिक विधान मे श्रद्धा नही रहती वह प्राप्त परिस्थिति में अपने हित का अनुभव नही कर सकता। अत प्रत्येक परिस्थिति किसी विधान से निर्मित है, इस पर अविचल श्रद्धा तथा विकल्प-रहित विश्वास करना अनिवार्य है। परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग वही कर सकता है जो परिस्थिति को भोग-सामग्री अर्थात् अपना जीवन नही मानता अपितु साधन-सामग्री जानता है। परिस्थिति के सदुपयोग-काल मे अपने उद्देश्य पर दृष्टि वही रख सकता है जो उद्देश्य की पूर्ति को वर्तमान की वस्तु मानता है उसके लिए भविष्य की आशा नही करता और न उससे निराश होता है, प्रत्युत उद्देश्य-पूर्ति के लिए जिसमे नित-नव उत्कण्ठा तथा उत्साह जागृत रहता है। परिस्थिति का सदुपयोग विधिवत वही कर सकता है जो विवेक-विरोधी चेष्टाओ को सहन ही नही कर सकता, अर्थात् जो किसी भी भय तथा प्रलोभन से प्रेरित होकर विवेक का अनादर नही करता अथवा यो कहो कि बिवेक का आदर करने के लिए बडी से बडी कठिनाइयो को अपना लेता है और विवेक के अनादर से प्राप्त होने वाली सुख-सुविधाओ का हर्ष-पूर्वक त्याग कर देता है। कर्त्तव्य-बुद्धि से परिस्थिति का सदुपयोग वही कर सकता है जो अपने को अधिकार-लोलुपता से रहित कर दूसरो के अधिकार की रक्षा मे ही अपना अधिकार मानता है। अर्थात् जो अपने अधिकार का त्याग कर सकता है वही कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकता है। सेवाभाव से परिस्थिति का सदुपयोग वही कर सकता है जो सुख-लोलुपता से रहित होकर पर-दुख को अपना दुख मान लेता है, अर्थात

जिसका हृदय करुणा से भरपूर रहता है, जो किसी भी दु खी को अपना सुख देने मे सकोच नही करता और दु खियो के दु.ख को अपना लेने मे ही जिसे अपने दु ख की निवृत्ति भासती है अथवा जो सभी मे अपने सेव्य का दर्शन कर सकती है। राग रहित होने के लिए परिस्थिति का सदुपयोग वही कर सकता है जिसकी दृष्टि परिस्थिति के परिवर्तन मे लगी रहती है जो समस्त परिस्थितियो को अपूर्ण तथा अभावरूप जानता है।

कोई भी व्यक्ति परिस्थितियो का सदुपयोग किए बिना परिस्थितियो के वन्धन से रहित नही हो सकता क्योकि विद्यमान राग की निवृत्ति परिस्थितियो के सदुपयोग मे निहित है, और राग-रहित होने मे ही योगी मे योग के जिज्ञासु मे तत्व-ज्ञान और प्रेमी मे प्रेम की अभिव्यक्ति निहित है अथवा यो कहो कि समस्त विकास राग रहित होने मे ही निहित है, क्योकि रागरहित हुए विना न तो चित्त का निरोध ही हो सकता है न देहाभिमान ही गल सकता है और न समर्पित होने की सामर्थ्य ही आती है, अर्थात् रागरहित हुए विना प्रेमी प्रेमास्पद को रस प्रदान कर ही नही सकता। इस दृष्टि से प्राणी-मात्र को राग-रहित होना अनिवार्य है और राग रहित होने के लिए उस मगलमय विधान से मिली हुई परिस्थिति का सदुपयोग साव-धानीपूर्वक करना है। अत जो करने मे सावधान नही रह सकता वह भी वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति की ओर अग्रसर नही हो सकता। इस दृष्टि से करने मे सावधान रहना अनिवार्य है। जो व्यक्ति प्रत्येक परिस्थिति मे उस अनन्त का मगलमय विधान स्वीकार कर लेता है, वह न तो अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करता है, न प्राप्त परिस्थिति से अरुचि करता है, न उसमे ममता रखता है और न परि

स्थिति के विपरीत कुछ भी करने को सोचता है, प्रत्युत्त जो परिस्थिति प्राप्त है उसके अनुरूप जो कर सकता है, करता है, जो नही कर सकता है उसके लिए लेश-मात्र भी चिन्तित नही होता है। इस कारण उसके जीवन मे असमर्थता तथा पराधीनता शेष नही रहती। वह जो करता है उसके करने मे असावधानी नही करता, इस कारण उसके जीवन मे अकर्मण्यता तथा आलस्य की उत्पत्ति ही नही होती। अकर्मण्यता तथा आलस्य का अन्त होने पर प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त मे स्वत· विश्राम प्राप्त होता है, जो आवश्यक सामर्थ्य तथा योग्यता के विकास मे हेतु है। ज्यो-ज्यो प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सद्व्यय करता है त्यो-त्यो वह उत्तरोत्तर अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहता है। उसकी वह प्रगति उस समय तक स्वत होती रहती है जिस समय तब वह अपने अभीष्ट लक्ष्य से अभिन्न नही हो जाता।

विवेकविरोधी चेष्टाओ का अत किये बिना कोई भी व्यक्ति करने मे सावधान नही रह सकता, क्योकि विवेक का विरोध सहन करने पर अकर्तव्य मे कर्त्तव्य-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। यदि ऐसा न होता तो प्राणी अपने विकास के लिए दूसरे का ह्रास अपने आदर के लिए दूसरे का अनादर, अपने लाभ के लिए दूसरो की हानि और अपनी रक्षा के लिए दूसरो का विनाश कदापि नही करता अर्थात् उसमे हिंसा आदि दोषो की उत्पत्ति ही न होती। अथवा यो कहो कि विवेक का विरोध सहन करने मे ही दो व्यक्तियो, दो वर्गों, दो देशो, दो मतो तथा दो दलो मे सघर्ष की उत्पत्ति होती है। समस्त सघर्षो का मूल एकमात्र निज विवेक का अनादर करना है और समस्त आसक्तियो की उत्पत्ति भी एक मात्र विवेकविरोधी चेष्टाओ मे ही है। इस दृष्टि से करने मे

सावधान वही रह सकता है जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति विवेक के प्रकाश से प्रकाशित है। विवेक के प्रकाश से प्रकाशित प्रवृत्तियो मे सर्वात्मभाव एवं सर्व-हितकारी सद्भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है।

करने मे सावधान रहने के लिए वास्तविक उद्देश्य का ज्ञान, प्राप्त परिस्थिति का आदर और उसका सदुपयोग तथा परिस्थिति के अनुरूप ही कर्त्तव्यनिष्ठा और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का त्याग तथा विवेक के प्रकाश से प्रकाशित प्रवृत्तियो का होना अनिवार्य है। जो व्यक्ति करने मे सावधान रहता है उसका चित्त अशुद्ध नही होता और जिसका चित्त अशुद्ध नही होता उसे जो कुछ हो रहा है उसमे अपने मगल का ही दर्शन होता है, क्यो कि उसमे अनन्त का मंगलमय विधान ओत-प्रोत है। यह नियम है कि मगलमय विधान से जो कुछ होता है उसमे किसी का अहित नही होता। तो फिर जो हो रहा है उसमे प्रसन्न न होना प्रमाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ? अर्थात् कुछ नही। प्रमादवश ही प्राणी घटनाओं के अर्थ को नही अपनाता, अपितु अपने को घटनाओ के चिन्तन मे आबद्ध कर खिन्न होता रहता है, जो उसे, जो हो रहा है उसमे प्रसन्न नही होने देता। इतना ही नही प्रतिकूलताओ का भय और अनुकूलताओ की दासता भी उसे जो हो रहा है उसमे प्रसन्न नही होने देती, क्योकि अनुकूलता का वियोग और प्रतिकूलता का आना उसे सहन नही होता, जिसका एकमात्र कारण मगलमय विधान पर दृष्टि न रखना है।

यद्यपि समस्त घटनाओ का अर्थ एक है क्योकि ऐसी कोई घटना हो ही नही सकती जो प्राणी को सयोग की दासता और वियोग के भय से मुक्त होने की प्रेरणा नही देती अथवा विरक्ति तथा उदारता का पाठ नही पढाती। विरक्ति तथा उदारता को अपना लेने पर जो कुछ हो रहा है उसमे मगल ही मंगल है, क्यो-

कि प्रतिकूलता के बिना विरक्ति और अनुकूलता के बिना उदारता सुरक्षित ही नही रह सकती। यदि प्राणी प्रतिकूलताओ से विरक्ति को सुदृढ और अनुकूलता से उदारता को सजीव बनाए रखे तो अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनो ही उसके लिए मगलमय सिद्ध होती है क्योकि विरक्ति से स्वाधीनता तथा उदारता से प्रेम की अभिव्यक्ति होती है।

अब यदि कोई यह कहे कि प्राप्त वस्तुओ के परिवर्तन मे, सयोग के वियोग मे,सुख के अभाव मे और दु ख के प्रादुर्भाव मे भला व्यक्ति कैसे प्रसन्न रह सकता है ? यदि सयोग का वियोग न होता तो नित्य योग की प्राप्ति सम्भव ही न होती। इस दृष्टि से सयोग के वियोग मे भी व्यक्ति का अपना मंगल ही है। यदि वस्तुओ मे सतत परिवर्तन न होता तो प्राणी न तो वस्तुको की दासता से ही मुक्त होता और न वस्तुओ से अतीत के जीवन मे उसकी श्रद्धा ही होती, जिसके बिना हुए स्वाधीनता तथा चिन्मयता सम्भव ही नही है, क्योकि वस्तुओ की दासता जड़ता तथा पराधीनता मे आबद्ध करती है। इस दृष्टि से वस्तुओ के परिवर्तन मे भी प्राणी का मगल ही है। यदि सुख अभावरूप न होता और दु ख अपने आप न आता तो प्राणी के जीवन मे न तो सुख की दासता से मुक्त होने का प्रश्न उत्पन्न होता और न वह दु खहारी को पुकारता ही और न वास्तविक आनन्द की खोज ही करता। इस दृष्टि से सुख के अभाव और दु ख के प्रादुर्भाव मे भी प्राणी का मगल ही है। अत प्रत्येक दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जो कुछ हो रहा है उसमे किसी का अमङ्गल नही है तो फिर होने मे प्रसन्न न रहना भूल के अतिरिक्त हो ही क्या सकता है ?

यद्यपि जो कुछ हो रहा है उसमे प्राणी का मङ्गल ही है,

परन्तु प्राणी अविवेक के कारण उसे देख नहीं पाता, उसका परिणाम यह होता है कि वह भोग मे ही जीवन मान बैठता है। जीवन मे भले ही भोग का कोई स्थान हो, पर भोग मे जीवन नही है। इस रहस्य को जान लेने पर भोग से अरुचि स्वत जागृत होती है जो भोग वासनाओ का अन्त करने मे समर्थ है। उनका अन्त होते ही प्राणी का प्रवेश सहज योग मे अर्थात् नित्य योग मे स्वत हो जाता है, जो होने मे प्रसन्न रहने की सामर्थ्य प्रदान करता। जो होने मे प्रसन्न नही रह सकता वह क्षोभ तथा क्रोध से रहित नही हो सकता। जो क्रोध से रहित नही हो सकता उसे वास्तविक स्मृति प्राप्त नही हो सकती अर्थात् उसे न तो कर्त्तव्य का ही ज्ञान हो सकता है और न अपने स्वरूप अथवा अनन्त की स्मृति ही रह सकती है। कर्त्तव्य की विस्मृति अकर्त्तव्य के रूप मे, स्वरूप की विस्मृति देहाभिमान मे और अनन्त की विस्मृति प्राणी को आसक्तियो मे आबद्ध कर देती है, जिससे चित्त अशुद्ध ही होता है। क्षोभरहित हुए बिना प्राणी न तो प्राप्त सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग ही कर पाता है और न उसे आवश्यक सामर्थ्य तथा योग्यता ही प्राप्त होती है, क्योकि क्षोभ शाति को भङ्ग कर देता है। शाति के भङ्ग होते ही प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास होने लगता है और अप्राप्त सामर्थ्य का विकास नही होता। इस कारण क्षुभित होने मे प्राणी का अहित ही है। अत न तो क्षुभित होना है और न क्रोधित, पर यह तभी सम्भव होगा जब प्राणी जो हो रहा है उसमे प्रसन्न रहे।

अकर्त्तव्य मे आबद्ध प्राणी न तो करने की रुचि का ही अन्त कर सकता है, न जीने की आशा तथा मृत्यु के भय का ही और न पाने के प्रलोभन से ही रहित हो सकता है। अर्थात् उसमे करने का राग ज्यो का त्यो विद्यमान रहता है, जिससे उसे यथेष्ट

विश्राम प्राप्त नही होना और न वह वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि की दासता से ही रहित होता है। इतना ही नही बेचारा जडता मे ही आबद्ध रहता है, अथवा यो कहो कि स्वाधीनता, चिन्मयता एव चिर-विश्राम से वचित रह जाता है। अकर्त्तव्य के कारण ही बेचारा प्राणी देह मे अहम् बुद्धि स्वीकार करता है, जिससे जीने की आशा और मृत्यु के भय से आक्रान्त रहता है। जीने की आशा और मृत्यु का भय उसे किसी-न-किसी अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि की प्राप्ति के प्रलोभन मे आबद्ध रखता है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि अकर्त्तव्य मे आबद्ध प्राणी का विकास नही होता, अपितु ह्रास होता है, जिसका एकमात्र कारण कर्त्तव्य की विस्मृति ही है और कुछ नही।

देहाभिमान मे आबद्ध प्राणी न तो मोहरहित ही हो सकता है और न कामरहित। मोहरहित एव कामरहित हुए बिना किसी को भी वास्तविक जीवन की प्राप्ति नही होती, जिसका एकमात्र कारण स्वरूप की विस्मृति ही है।

आसक्तियो मे आबद्ध प्राणी मे न तो अखण्ड स्मृति ही उदय होती है और न दिव्य चिन्मय प्रीति की ही अभिव्यक्ति होती है, जिसका एकमात्र कारण अनन्त की विस्मृति ही है। अत. यह निर्विवाद सिद्ध है कि जो स्वत हो रहा है उसमे प्रसन्न सहने मे ही सभी का हित निहित है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार जो करने मे सावधान है वही होने मे प्रसन्न रह सकता है और जो होने मे प्रसन्न रहता है वही करने मे सावधान हो सकता है। कारण कि सावधानीपूर्वक की हुई प्रवृत्ति वही हो सकती है जो निज विवेक के अनुरूप है। प्राणी को जिस विधान से विवेक मिला है, उसी विधान के अधीन समस्त सृष्टि मे कार्य हो रहा है। अथवा यो कहो कि व्यष्टि और समष्टि

का विधान एक है । इतना ही नही समष्टि शक्तिया सर्वदा विधान के अधीन रहती हैं । यदि व्यक्ति विधान का अनादर न करे तो उसकी प्रवृत्तियो में अकर्त्तव्य जैसी वस्तु की उत्पत्ति ही न हो अर्थात् उसका जीवन कर्त्तव्य का प्रतीक बन जाय । यह नियम है कि कर्त्तव्यप्रिय होते ही समष्टि शक्तिया स्वत व्यक्ति के अनूकूल हो जाती है जिससे उसका विकास अपने आप होने लगता है । इस दृष्टि से जो कर्त्तव्यनिष्ठ है वही होने मे प्रसन्न रह सकता है, यदि किसी को जो हो रहा है उसमे प्रसन्नता नही होती तो उसे समझना चाहिए कि उसके कर्त्तव्य में कोई दोप है । प्राकृतिक नियम के अनुसार समस्त सृष्टि व्यक्ति को सर्वदा सुन्दर बनाने के लिए स्वभाव से ही गतिशील रहती है, क्योकि सृष्टि उसीकी अभिव्यक्ति है जिसमे अनन्त नित्य सौन्दर्य है परन्तु जव व्यक्ति प्राप्त विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग नही करता तव प्राकृतिक न्याय से उसके बल का ह्रास होने लगता है और विवेक आच्छादित हो जाता है । उसका परिणाम यह होता है कि प्राणी चिन्मयता से जड़ता, असीम से ससीम और स्वाधीनता से पराधीनता की ओर स्वत. जाने लगता है और इस बात को भूल जाता है कि यह अपनी ही असावधानी का परिणाम है । इस दशा मे प्राणी, जो हो रहा है उसमे वह प्रसन्न नही रह पाता ।

वल के सदुपयोग तथा विवेक के आदर मे समस्त विकास निहित है । इस दृष्टि से अवनति का होना प्राणी की अपनी असावधानी है । प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को सर्वथा उत्तरोत्तर उन्नति की ओर गतिशील होना है । किन्तु जव व्यक्ति मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग करने लगता है तभी उसकी अवनति होती है । अथवा यो कहो कि जव व्यक्ति उस अनन्त उदारता का दुरुपयोग करता है तभी उसका अहित

होता है। व्यक्ति को सामर्थ्य के सदुपयोग तथा दुरुपयोग की, विवेक के आदर तथा अनादर की स्वाधीनता इसलिए नही मिली हैं कि वह अपने द्वारा ही अपना सर्वनाश कर डाले और उनका कारण यह मान बैठे कि प्राकृतिक विधान मे कोई नियम नही है, चाहे जो कुछ चाहे जब हो जाय।

पर बात ऐसी नही है। वृक्षो मे भी जो गति हो रही है वह भी एक नियम के अधीन ही है। जिन वृक्षो से दूसरे वृक्ष पोषित होते हैं उनकी आयु और स्वाधीनता उन वृक्षो की अपेक्षा अधिक होती है जिनसे दूसरे वृक्षो की क्षति होती है। जब वृक्ष मे गति भी अवैधानिक नही है तो फिर यह मान लेना कि जो कुछ हो रहा है वह किसी विधान के अनुरूप नही है, क्या युक्ति-युक्त है ? कदापि नही। जब व्यक्ति यह स्वीकार कर लेता है कि जो कुछ हो रहा है वह मगलमय विधान से हो रहा है तब प्रत्येक परिस्थिति मे वह निश्चित तथा निर्भय रहता है निर्भय और निश्चिन्त प्राणी बल का सदुपयोग और विवेक का आदर स्वतः करने लगता है। अत करने मे सावधान वही रहता है जो होने मे प्रसन्न है।

कर्त्तव्य-विज्ञान, योग-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान उसी विधान की अभिव्यक्ति है, जिसके अधीन समष्टि शक्तियां क्रिया-शील है। व्यक्ति और समष्टि शक्तियो मे अन्तर केवल इतना है कि व्यक्तिको जो स्वाधीनता है वह समष्टि शक्तियो को नही है, कारण कि व्यक्ति कर्त्तव्य विज्ञान के विपरीत अकर्त्तव्य और योग विज्ञान के विपरीत भोग और अध्यात्म-विज्ञान के विपरीत भौतिक विकास मे ही जीवन की पूर्णता मान बैठता है। यह मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग है, सदुपयोग नही। स्वाधीनता दुरुपयोग के लिए नही अपितु सदुपयोग के लिए ही मिली थी।

यदि व्यक्ति उस मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग न करता तो वह जडता, पराधीनता एव शक्तिहीनता मे आबद्ध न होता। स्वाधीनता जिस अनन्त की देन है समिष्ट शक्तिया उसी के अधीन क्रियाशील है। इसी कारण जो व्यक्ति मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग करता है उसके लिए परिस्थिति प्रतिकूल हो जाती है परन्तु उस प्रतिकूलता मे व्यक्ति का अहित नही है अपितु उसके सुधार की ही एक व्यवस्था है। परन्तु भोगजनित सुखासक्ति के कारण प्राणी को प्राकृतिक व्यवस्था दु खद प्रतीत होती है। अथवा यो कहो कि दु ख से भयभीत प्राणी प्राकृतिक विधान का आदर नही करता। यद्यपि दु ख विकास का मूल है पर यह रहस्य वही जानता है जिसे प्राकृतिक विधान मे अविचल श्रद्धा होती है और जो प्राप्त स्वाधीनता का दुरुपयोग नही करता। स्वाधीनता के सदुपयोग मे ही स्वाधीनता की सुरक्षा निहित है। उस अनन्त का कैसा अद्भुत विधान है कि पराधीनता की वेदना मे स्वाधीनता की साधना और स्वाधीनता के सदुपयोग में वास्तविकता की प्राप्ति स्वत. सिद्ध है। ऐसे अनुपम विधान से मिले हुए विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग क्या प्राणी को नही करना चाहिए ? अर्थात् अवश्य करना चाहिये।

समिष्ट शक्तियो की क्रियाशीलता में कर्तृत्व का अभिमान नही है। यह नियम है कि जिसमे कर्तृत्व का अभिमान नही होता उसके द्वारा होने वाली क्रियाये अहितकर नही होती। कर्तृत्व का अभिमान उसीमें नही होता जो अहम्भाव -शून्य है। अहम्भाव-शून्य वही होता है जो काम रहित है और कामरहित वही है जिसमे भेद तथा भिन्नता की गंध नही है। इस दृष्टि से समिष्ट शक्तियो मे किसी से भेद तथा भिन्नता नही है इसी कारण उनके द्वारा जो कुछ हो रहा है उससे किसी का अमङ्गल नही हो सकता।

अत किसी भी व्यक्ति को समष्टि शक्तियो से भयभीत नही होना चाहिए अपितु मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग द्वारा निर्भय हो जाना चाहिए। परन्तु विवेक के अनादर से प्राणी प्राप्त बल का दुरुपयोग करने लगता है जो वास्तव मे करने मे सावधान न रहना है। कर्त्तव्यविज्ञान योगविज्ञान का साधन है, क्योकि कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी ही रागरहित होकर भोग-वासनाओ का अन्त कर योग मे प्रवेश करता है। योगविज्ञान अध्यात्मविज्ञान का साधन है, क्योकि योग की पूर्णता में ही सामर्थ्य, स्वाधीनता तथा चिन्मयता निहित है। इस दृष्टि से व्यक्ति को जो विवेक प्राप्त है उसके द्वारा कर्त्तव्य-विज्ञान से योग-विज्ञान मे और योग-विज्ञान से अध्यात्म-विज्ञान मे प्रवेश करना अनिवार्य है। अथवा यो कहो कि कर्त्तव्यपरायणता की पूर्णता मे भोगवासनाओ का अत तथा वस्तुओ से अतीत के जीवन की प्राप्ति स्वत सिद्ध है।

यद्यपि समस्त प्राणियो का वास्तविक उद्देश्य एक है परन्तु योग्यता तथा रुचि एवं परिस्थिति-भेद से प्रत्येक व्यक्ति वास्तविक उद्देश्य तक पहुँचने के लिये अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कर्त्तव्य-पालन की पद्धति को स्वीकार करता है। पद्धति चाहे जो हो पर उसमे अकर्त्तव्य की गध न हो तो प्रत्येक पद्धति के द्वारा व्यक्ति क्रमश उत्तरोत्तर वास्तविक उद्देश्य तक पहुँचने के लिए समर्थ हो जाता है, क्योकि साधन-पद्धतिया उस अनन्त की ही विभूति है।

अब विचार यह करना है कि व्यक्ति किस मान्यता को स्वीकार कर किस स्तर से उद्देश्य-पूर्ति के लिये कर्त्तव्य मे प्रवृत्त हो रहा है? कर्त्तव्य वही है जिसका सबध वर्त्तमान से हो और प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप हो। इस कारण कर्त्तव्यपालन मे असमर्थता और असफलता की गध भी नही है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक

व्यक्ति मे क्रियाशील भावशक्ति और विवेकशक्ति तीनो ही किसी-न-किसी अश मे विद्यमान हैं, अथवा यो कहो कि इन तीनों मे से किसी एक काल मे किसी एक की प्रधानता और अन्य की गौणता रहती है। जिस व्यक्ति में क्रियाशीलता अधिक हो और भाव तथा विवेक की गौणता हो वह भौतिक विकास में ही उत्कृष्टता है और विवेकपूर्वक पवित्र भाव से वर्तमान कार्य को सुन्दर से सुन्दर करने का प्रयास करता है। ज्यो-ज्यो भाव की पवित्रता तथा कार्यकुशलतापूर्वक वर्त्तमान कार्य को सुन्दर करता जाता है त्यो-त्यो स्वभाव से स्वार्थभाव गलता जाता है और करने के राग की भी निवृत्ति होती जाती है। ज्यो-ज्यो स्वार्थ-भाव गलता जाता है और क्रियाजन्य सुख का राग मिटता जाता है त्यो-त्यो क्रियाशक्ति भावशक्ति मे विलीन होती जाती है। ज्यो-ज्यो क्रियाशक्ति भावशक्ति मे विलीन होती जाती है, त्यो-त्यो विवेक का प्रकाश स्पष्ट होता जाता है, जिसके होते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही क्रिया, भाव और विवेक में अभिन्नता हो जाती है। जिस व्यक्ति में क्रियाशीलता की प्रधानता है वह अपने को यदि सेवक मान लेता है और समस्त विश्व के साथ एकता स्वीकार कर लेता है तो वह बडी सुगमतापूर्वक करने मे साव-धान हो सकता है। उसके द्वारा सेवा स्वत. होती है और उसका परिणाम सुन्दर समाज का निर्माण होता है, अथवा यो कहो कि वह करता है सेवा और होता है सुन्दर समाज का निर्माण, क्योकि सेवा व्यक्ति और समाज के भेद का नाश कर देती है, जिसके होते ही व्यक्ति अपने मे और विश्व मे भेद नही कर पाता, अथवा यो कहो कि विश्वरूप हो जाता है, जिसके होते ही वह स्वत उस अनन्त की, जिसके किसी अश में समस्त सृष्टि है, प्रीति होकर उससे अभिन्न हो जाता है।

जिस व्यक्ति मे विवेक की प्रधानता है वह स्वभाव से ही इन्द्रियो के ज्ञान पर सन्देह करता है। ज्यो-ज्यो सन्देह की वेदना सबल तथा स्थायी होती जाती है त्यो-त्यो इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर उत्पन्न हुई कामनाएं स्वत: मिटती जाती हैं। जिस काल मे सन्देह की वेदना असह्य हो जाती है उसी काल मे जिज्ञासा की पूर्ति और समस्त कामनाओ की निवृत्ति स्वत हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति से निस्सन्देहता, स्वाधीनता, अमरत्व और चिन्मयता स्वत सिद्ध हैं। स्वाधीनता की अभिव्यक्ति वस्तुओ की दासता से रहित कर देती है, जिसके होते ही दीनता तथा अभिमान सदा के लिए गल जाता है। जिसके गलते ही भेद नष्ट हो जाता है। उसके द्वारा प्रत्येक प्रवृत्ति सर्वात्म भाव से कर्तृत्व के अभिमान से रहित स्वत होने लगती है। उसके चित्त मे राग-द्वेष की ग्रन्थि तक नही रहती। अथवा यो कहो कि असंगता और अभिन्नता उसका स्वभाव हो जाता है। विवेक के स्तर से व्यक्ति जो कुछ करता है वह राग-निवृत्ति का साधन है और उसकी दृष्टि मे जो कुछ हो रहा है वह अभाव रूप है और जो है वह स्वरूप है। असंगता मे स्वाधीनता और अभिन्नता मे प्रेम की अभिव्यक्ति स्वत सिद्ध है। भावप्रधान व्यक्ति मे, सृष्टि के प्रकाशक के प्रति अविचल श्रद्धा तथा विश्वास स्वत होता है; अथवा यो कहो कि वह उस पर विश्वास करता है जो देश-काल की दूरी से रहित है अर्थात् जो सर्वत्र सर्वदा सर्वरूप से अपनी महिमा मे आप स्थित है। भाव-प्रधान व्यक्ति उसी अनन्त के विश्वास, सम्बन्ध तथा प्रीति को ही अपना अस्तित्व जानता है; क्योकि विश्वास और विश्वासी मे तथा प्रेम और प्रेमी मे विभाजन सम्भव नही है। अब यदि कोई यह कहे कि व्यक्ति मे तो अनेक विश्वास होते हैं तो फिर विश्वासी और विश्वास मे भेद क्यो नही हो सकता? जिससे अनेक विश्वास होते हैं,

जिसका अनेक से सम्वन्ध होता है वह वास्तव में विश्वासी नहीं है। विश्वासी वही है जिसमे दो विश्वास नही हैं, अथवा यों कहो कि विश्वास विकल्प-रहित तभी होता है जव उस पर किया जाय जिसे जानते नही, पर फिर भी मानते है अर्थात् विश्वासी जिसे इन्द्रिय तथा बुद्धि-ज्ञान से नही जानते। उसके द्वारा जो कुछ होता है वह पूजा है और कुछ नही, क्योकि जब उसका अस्तित्व प्रेमास्पद के प्रेम से भिन्न कुछ है ही नही तव उसके द्वारा प्रेमास्पद की पूजा के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है। इतना ही नही, प्रीति निर्मित दृष्टि से किसी ने प्रीतम से भिन्न को देखा ही नही। अत. वह जो कुछ करता है वह पूजा है और जो कुछ हो रहा है वह उसके प्रेमास्पद की लीला है।

क्रिया प्रधान व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियाँ सेवा, विवेक-प्रधान व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियां राग-रहित होने का साधन और भाव-प्रधान व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति पूजा होती है। कर्त्तव्य का आरम्भ चाहे जिस मान्यता तथा स्तर से क्यो न हो पर अन्त मे सभी की एकता अपने आप हो जाती है, कारण कि क्रिया, भाव'तथा विवेक तीनो ही शक्तियाँ किसी एक मे ही है, अथवा यो कहो कि इन तीनो के सदुपयोग से जिस उद्देश्य की पूर्ति होती है वह भी एक ही है। इतना ही नही, उस अनन्त की सामर्थ्य ही व्यक्ति मे क्रियारूप से, उस अनन्त का प्रेम ही व्यक्ति मे भावरूप से और उस अनन्त का नित्य-ज्ञान ही व्यक्ति मे विवेक रूप से भासित होता है। इस दृष्टि से समस्त साधन-पद्धतियाँ उस अनन्त की ही अभिव्यक्ति हैं। अत साधन का आरम्भ किसी भी पद्धति से क्यो न हो, परिणाम मे भेद नही है। यदि किसी को भेद की प्रतीति होती है तो उसे समझना चाहिए कि उसके करने मे कोई असावधानी है। प्रत्येक कर्त्तव्य की पूर्णता मे दूसरे कर्त्तव्य को उत्पत्ति स्वतः

सिद्ध है। इस क्रम से प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यता,रुचि व सामर्थ्य के अनुरूप कर्त्तव्य-पालन द्वारा चित्त शुद्ध कर सकता है।

चित्त की शुद्धि मे ही समस्त विकास निहित है, कारण कि चित्त शुद्ध हुए बिना असमर्थता का नाश नही होता और न अभाव का ही अभाव होता है और न अगाध अनन्त रस की ही उपलब्धि होती है। इतना ही नही, चित्त की शुद्धि मे ही उत्कृष्ट परिस्थिति एव आवश्यक वस्तुओ की प्राप्ति भी निहित है, क्योकि चित्त की अशुद्धि से ही प्राणी वस्तुओ के अभाव मे आबद्ध हो जाता है, जिससे उत्तरोत्तर अवनति की ओर ही गतिशील होता रहता है। करुणा, उदारता, आत्मीयता मे ही समस्त विकास निहित हैं। करुणा की अभिव्यक्ति उन्ही प्राणियो मे होती है जो पराए दु ख को अपने दु ख से भी अधिक महत्त्व देते हैं अर्थात् जो दु'खियों को देखकर अपना दुःख भूल जाते है। यह नियम है कि ज्यो-ज्यो प्राणी अपने दु ख को भूलता जाता है और दूसरो के दु ख को अपनाता जाता है त्यो-त्यो उसका चित्त उत्तरोत्तर शुद्ध होता जाता है और ज्यो-ज्यो चित्त शुद्ध होता जाता है त्यो-त्यो करुणा की अभिव्यक्ति होती जाती है। ज्यो-ज्यो करुणा की अभिव्यक्ति होती जाती है त्यों-त्यो प्राकृतिक विधान के अनुसार सेवा-सामग्री स्वत होती जाती है। करुण प्राणी ज्यो-ज्यो प्राप्त सेवा-सामग्री का सदुपयोग करता जाता है त्यो-त्यो सेवा-सामग्री की स्वत वृद्धि होती जाती है अर्थात् वस्तुओ का अभाव शेष नही रहता और न करुणा प्राणी मे वस्तुओ की दासता ही शेष रहती है और न जिनकी सेवा करता है उनके मोह मे ही आबद्ध होता है, अपितु उसमें उत्तरोत्तर निर्मोहता तथा स्नेह की एकता का प्रादुर्भाव होता जाता है। निर्मोहता से अविवेक का अत हो जाता है और स्नेह की एकता [illegible]

है-इस दृष्टि से व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण भी चित्त की शुद्धि मे ही निहित है।

चित्त की शुद्धि के बिना उदारता की अभिव्यक्ति भी सम्भव नही है क्योंकि उदारता उन्ही प्राणियो को प्राप्त होती है जो पतित से पतित प्राणी को भी अपनाने मे हिचकते नही है अर्थात् प्रीति ही जिनका स्वभाव बन गया है। घृणा तथा तिरस्कार की जिनके चित्त मे गंध भी नही है, जो सभी रूपो मे अपने प्रीतम का ही दर्शन करते है, अथवा यों कहो कि जिन्होंने प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता को ही स्वीकार नही किया है। जब प्राणी प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता को ही स्वीकार नही करता तब अनेक विश्वास एक विश्वास मे और अनेक चिन्तन एक चिन्तन मे स्वत विलीन हो जाते है, जिसके होते ही चित्त-शुद्ध हो जाता है और उसी काल मे प्राणी मे उदारता की अभिव्यक्ति हो जाती है। उदारता की अभिव्यक्ति भेद तथा भिन्नता की नाशक है। जब तक चित्त सर्वांश मे शुद्ध नही होता तब तक उदारता साधनरूप है और जब चित्त सर्वांश मे शुद्ध हो जाता है तब उदारता प्राणी का स्वरूप हो जाती है, जिसके होते ही सभी के प्रति आत्मीयता का भाव स्वत जागृत होता है। आत्मीयता से भी भेद तथा भिन्नता मिट जाती है। भेद का नाश पराधीनता तथा संग्रह की भावना को खा लेता है और भिन्नता मिटते ही प्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है।

इस दृष्टि से करुणा, उदारता तथा आत्मीयता की अभिव्यक्ति चित्त की शुद्धि मे ही निहित है। करुणा की अभिव्यक्ति के बिना असमर्थता का अंत नही होता, क्योंकि करुणा से ही प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय और अप्राप्त सामर्थ्य की प्राप्ति होती है। जिन प्राणियो मे करुणा उदित नही होती वे प्राप्त सामर्थ्य के सद्व्यय की तो कौन कहे दुर्व्यय कर बैठते है, जिससे समष्टि शक्तियो के

द्वारा उनकी विरोधी शक्ति स्वत: उत्पन्न हो जाती है, जिसके होते ही वे प्राणी भयभीत हो जाते हैं । यह नियम है कि ज्यो-ज्यो प्राणी भयभीत होता जाता है त्यो-त्यो संग्रही होता जाता है ज्यो-ज्यो संग्रही होता जाता है त्यो-त्यो जडता तथा पराधीनता मे आबद्ध होता जाता है और ज्यो-ज्यो जडता आदि मे आबद्ध होता जाता है त्यो-त्यो असमर्थ होता जाता है, अर्थात् जो करना चाहिए उसे कर नही पाता और जो नही करना चाहिए उसे करने लगता है, जिससे उसका और दूसरो का ह्रास ही होता है। इस दृष्टि से असमर्थता का अन्त करने के लिए चित्तशुद्धि अनिवार्य है।

उदारता की अभिव्यक्ति से ही अभाव का अभाव निहित है क्योकि उदारता के बिना न तो सर्वात्मभाव की ही उत्पत्ति होती है, न स्नेह की ही एकता उदित होती है और प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का सद्व्यय ही हो पाता है। उदार व्यक्ति प्राणी की सेवा के लिए प्राकृतिक विधान लालायित रहता है। इस कारण आवश्यकता की पूर्ति और इच्छाओ की निवृत्ति स्वत. हो जाती है। इच्छाओ की निवृत्ति से, नित्य-योग, चिर-शान्ति, सामर्थ्य और स्वाधीनता, तथा आवश्यकता की पूर्ति से दिव्य-चिन्मय प्रीति की अभिव्यक्ति स्वत: होती है, क्योकि प्रीति ही प्राणी की वास्तविक आवश्यकता है और उसकी प्राप्ति मे ही अगाध-अनन्त रस की उपलब्धि निहित है। इस दृष्टि से समस्त विकास का मूल चित्त की शुद्धि ही है।

करुणा भौतिक विकास का मूल है और उदारता तथा आत्मीयता मे ही स्वाधीनता और प्रेम की ही अभिव्यक्ति है, अथवा यो कहो कि करुणा सामर्थ्य की, उदारता स्वाधीनता की और आत्मीयता प्रेम की प्रतीक है। सामर्थ्य, स्वाधीनता और प्रेम की अभिव्यक्ति मे ही जीवन की पूर्णता निहित है।

ज्यो-ज्यो प्राणी कर्त्तव्यनिष्ठ अर्थात् करने मे सावधान होता जाता है त्यो-त्यो उसके चित्त की अशुद्धि स्वत मिटती जाती है। ज्यो-ज्यो उसके चित्त की अशुद्धि मिटती जाती है त्यो-त्यो चित्त उसके अधीन होता जाता है। यदि चित्त अपने अधीन न प्रतीत हो तो समझना चाहिये कि कर्त्तव्यपालन मे कोई दोष है, कारण कि कर्त्तव्यपरायणता विद्यमान राग का अन्त कर देती है जिसके होते ही चित्त स्वाधीन हो जाता है। इतना ही नही, प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त मे चित्त का निरोध अपने आप होने लगता है। चित्त के निरोध मे ज्यो-ज्यो गाढता होती जाती है त्यों-त्यो आवश्यक सामर्थ्य का प्रादुर्भाव स्वत होता जाता है। आवश्यक सामर्थ्य का प्रादुर्भाव जडता को चिन्मयता मे, पराधीनता को स्वाधीनता मे और मृत्यु को अमरत्व मे विलीन कर देता है, जिसके होते ही चित्त से असगता स्वत प्राप्त होती है, जिससे अध्यात्म-जीवन से अभिन्नता हो जाती है अर्थात् वस्तु अवस्था एव परिस्थितियो मे अतीत का जो जीवन है, उससे एकता हो जाती है, अथवा यो कहो कि स्वाधीनता प्राप्त होती है। स्वाधीनता मे ही सन्तुष्ट न होने पर अपने आप प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही चित्त जेसी कोई वस्तु शेष ही नही रहती, अथवा यों कहो कि चित्त का निरोध, चित्त से असंगता और चित्त का अभाव हो जाने मे ही चित्तशुद्धि का परावधि है। यह नियम है कि जब तक चित्त सर्वांश मे शुद्ध नही होता तभी तक वह अपने अधीन नही होता, न उससे सम्बन्ध ही विच्छेद होता है और न उसका अभाव अर्थात् चित्त चिन्मय ही हो पाता है।

सावधानीपूर्वक प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से ही प्राणी मे चित्त के निरोध की सामर्थ्य आती है, चित्त के निरोध से ही चित्त से सम्बन्ध-विच्छेद और सम्बन्ध-विच्छेदन से ही चित्त का

अभाव हो जाता है। पर यह रहस्य वे ही जानते हैं जो करने मे सावधान और होने मे प्रसन्न है।

चित्तशुद्धि वर्तमान की वस्तु है । उसे भविष्य पर नही छोडना चाहिए और न उससे कभी निराश होना चाहिए, प्रत्युत चित्तशुद्धि के लिए नित-नव आशा तथा उत्कण्ठा जागृत रहनी चाहिए। तभी चित्त शुद्ध हो सकता है और चित्त शुद्ध होने पर समस्त समस्यायें हल हो सकती है । इस दृष्टि से चित्तशुद्धि अनिवार्य है ।

चित्त स्वरूप से अशुद्ध नही है, कारण कि चित्त स्वय कर्त्ता नही है। वह तो अलौकिक शक्ति है, अथवा यो कहो कि भौतिक विकास की पराकाष्ठा है । चित्त इतनी गहरी खाई है कि जिसकी थाह उस समय तक लग ही नही सकती जिस समय तक उसमे से उस अशुद्धि का अन्त न कर दिया, जो प्राणी ने अपने प्रमाद से उसमे अङ्कित कर दी है।

विवेक का अनादर, सामर्थ्य का दुरुपयोग, परिस्थिति मे जीवन बुद्धि आदि कारणो से प्राणी चित्त को अशुद्ध करता है । विवेक का अनादर, सामर्थ्य का दुरुपयोग और परिस्थिति मे जीवन बुद्धि स्वीकार करना प्राकृतिक दोप नही है । जाने हुए को न मानना उसीका दोष है जो नही मानता, जाने हुए के विपरीत सामर्थ्य का व्यय भी उसीका दोप है जो कर्त्ता है, सतत परिवर्तनशील परिस्थितियो मे जीवन बुद्धि स्वीकार करना भी उसी का दोष है जिसने स्वीकार किया है । वह कौन-सा देवता है जो निज ज्ञान का आदर, सामर्थ्य का सद्व्यय तथा परिस्थितियो से विमुखता स्वीकार नही करने देता ? उस देवता ने ही चित्त को अशुद्ध किया है। जब प्राणी उसकी खोज करने लगता है तो वह देवता उसके प्रमाद से भिन्न नही है।

इस दृष्टि से चित्त की अशुद्धि प्राणी की अपनी भूल है। भूल को भूल जान लेने पर वह स्वत मिट जाती है। इस दृष्टि से चित्त की शुद्धि मे प्राणी सर्वदा स्वाधीन है।

यदि प्राणी चित्तशुद्धि मे स्वाधीन न होता तो उसका प्रश्न ही उत्पन्न न होता। प्राकृतिक नियम के अनुसार वही समस्या उत्पन्न होती है, जिसका हल अनिवार्य है, परन्तु प्राणी जब असावधानी से उत्पन्न हुई समस्याओ से भयभीत हो जाता है तब समस्या हल करने की सामर्थ्य होते हुए भी समस्या हल नही कर पाता। चित्त की अशुद्धि चाहे जितनी पुरानी क्यों न हो पर वर्तमान मे मिट सकती है। जिस प्रकार अनन्त काल के अन्धकार को वर्तमान का प्रकाश खा लेता है, उसी प्रकार दीर्घ काल की अशुद्धि वर्तमान मे मिट सकती है परन्तु कब? जब प्राणी को असह्य हो जाय। अशुद्धि उन्ही व्यक्तियो को असह्य होती है जो शुद्धि को वर्तमान की वस्तु मानते है। अशुद्धि का ज्ञान जिस ज्ञान से होता है उसी मे शुद्धि का उपाय विद्यमान है। इस दृष्टि से जिसे चित्त से अशुद्धि भासती है उसमे शुद्धि की सामर्थ्य विद्यमान है। अत. विद्यमान सामर्थ्य के सदुपयोग द्वारा प्राणी का चित्त शुद्ध हो सकता है।

चित्त की अशुद्धि का ज्ञान जिसको है क्या वह स्वयं चित्त है अथवा चित्त से अतीत? यदि वह अपने को चित्त से अलग जानता है तो उसे चित्त की अशुद्धि का ज्ञान ही कैसे हुआ? यदि चित्त से अलग नही मानता तो उसने अपनी अशुद्धि का चित्त मे आरोप क्यो किया? प्राकृतिक नियम के अनुसार जिससे किसी न किसी प्रकार की एकता तथा भिन्नता न हो उसे उसका न तो भास ही हो सकता है और न उससे सम्बन्ध ही हो सकता है। अत. यह स्पष्ट विदित होता है कि जिसे चित्त की अशुद्धि का ज्ञान है अथवा जिसे चित्त का भास होता है अथवा जो चित्त से

सम्बन्ध स्वीकार करता है वह भी उसी धातु से निर्मित है जिससे चित्त। परन्तु एक धातु से निर्मित होने पर भी गुणो की भिन्नता है। गुणो की भिन्नता के कारण ही उसे चित्त की अशुद्धि का ज्ञान, चित्त से सम्बन्ध और चित्त की प्रतीति होती है। जिसे चित्त शुद्ध करना है उसे चित्त से स्वरूप की एकता और गुणो की भिन्नता स्वीकार करना अनिवार्य है।

जब उसमे चित्त के अशुद्ध होने की वेदना जागृत हो जाती है तब वह चित्त की अशुद्धि से होने वाले सुख का त्याग करने मे समर्थ होता है। ज्यों-ज्यो वह उस सुख का त्याग करता जाता है त्यों-त्यों चित्त स्वत शुद्ध होता जाता है। प्राणी जिस काल मे अशुद्धिजनित सुख को सर्वांश मे त्याग कर देता है उसी काल मे चित्त स्वत शुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही चित्त की अशुद्धि का ज्ञान और शुद्धि का उपाय तथा चित्त की शुद्धि इन तीनों मे अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते ही सीमित अहम्-भाव सदा के लिए गल जाता है और फिर भेद तथा भिन्नता-जैसी कोई वस्तु ही शेष नही रहती। इस दृष्टि से अहम्-भाव की भूमि मे ही समस्त अशुद्धि अङ्कित है, जिसकी निवृत्ति तभी सम्भव है जब व्यक्ति सावधानीपूर्वक जो कर सकता है उसे कर डाले और जो नही कर सकता है उसके लिए लेशमात्र भी चिन्ता न करे अर्थात् निश्चिन्त हो जाय तो बडी हो सुगमतापूर्वक चित्त शुद्ध हो सकता है, अथवा यो कहो कि जो कर सकता है उसके कर डालने पर कर्तृत्व का अभिमान शेष नही रहता, जिसके न रहने पर जो करना चाहिए वह स्वत होने लगता है और जो नही करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही नही होती, जिसके न होने से अकर्त्तव्य की गन्ध तक नही रहती और कर्त्तव्यपरायणता स्वाभाविक हो जाती है, जिसके होते ही जो कुछ हो रहा है उसमे अनन्त का

मगलमय विधान ही प्रतीत होता है।

अव विचार यह करना है कि चित्त की अशुद्धि से होने वाला सुख क्या है ? पराधीनता मे स्वाधीनता के समान सुखी होना तथा जडता मे चिन्मयता, अभाव मे भाव और मृत्यु मे जीवन को स्वीकार करना ही अशुद्धिजनित सुख हैं। अशुद्धि-जनित सुखलोलुपता की भूमि कामना-अपूर्ति के दु ख से भयभीत होना और कामनापूर्त्ति के सुख मे आवद्ध होना ही है। जब प्राणी कामनापूर्ति के सुख की दासता मे जडता, अभाव, परा-धीनता एव मृत्यु का अनुभव कर लेता है तब वह अशुद्धिजनित सुखलोलुपता का त्याग करने मे समर्थ होता है, अर्थात् वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता से रहित हो जाता है, जिसके होते ही करने मे सावधान और होने मे प्रसन्न रहने की सामर्थ्य आ जाती है, जो चित्त को शुद्ध करने मे समर्थ है।
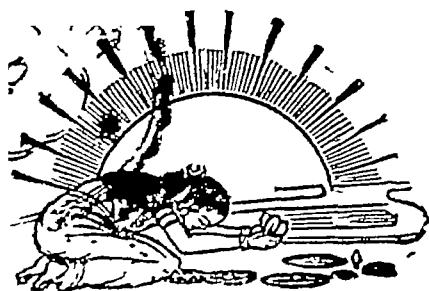
शुद्धि-पत्र

पृष्ठ सं	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
ग	२५	Concetion	Conception
आ	११	युद्ध	युक्त
२६	१३	अरना	करना
५०	१०	वर्जित	वर्तित
५०	२५	मन्मित्र	सन्मित्र
५१	१६	शुद्धि	शुद्ध
५३	३	और सुख	और जो सुख
५४	६	न्याय दूसरा	न्याय का दूसरा
६२	अन्तिम	उप्र	उस
६५	६	नित्य भोग	नित्य योग
६८	३	कारण	करण
८८	१	ही पर अपने	ही अपने पर
८८	१५	का कर्त्तव्य	का भी कर्त्तव्य
१०१	८	नव	सब
१०४	२२	योग	भोग
१११	१	चिन्ता	चिन्तन
१३३	अन्तिम	सोह	मोह
१३८	२१	क्रोधविस्मृति	क्रोध, विस्मृति
१४३	२१	और नही	और जो नही
१४५	६	अभिव्यक्ति	अभिव्यक्त
१४८	३	से	मे
१४६	१५	रुखि	रुचि
१५१	६	लाता	जाता
१५२	२०	आज्ञा	आशा

पृष्ठ सं.	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१५५	२५	लगाना	लगना
१५५	२६	हटाना	हटना
१६२	२४	जीवन सकल्प	जीवन मे सकल्प
१७४	९-१०	शुद्ध जाने	शुद्ध हो जाने
१७६	३	सामर्थ्यवान	न सामर्थ्यवान
१७७	५	होता	होना
१७८	१५	लगते	गलते
१८८	२४	से	के
१९५	५	चर्म सापेक्ष	कर्म-सापेक्ष
१९९	८-९	और प्रत्येक	ओर से प्रत्येक
२०५	९	हेतु है	हेतु नही है
२०५	१४	चिर-शानित	चिर-शान्ति
२१०	४	प्रतीत	प्रतीति
२१०	अन्तिम	की	का
२११	६	हो	होता
२१५	२	है और उसको	हैं उसको
२१५	१३	दुरुपयोग	सदुपयोग
२३६	१२	अध्याम-विज्ञान	अध्यात्म-विज्ञान
२३८	१६	से	मे
२४०	१०	शक्ति स्वभाव	शक्ति मे स्वभाव
२४५	अन्तिम	योग	भोग
२४८	२२	रोग	राग
२५१	१२-१३	जिसमे जिससे	जिससे
२५२	४	जाता	सकता
२५४	१८	देकर प्राप्त	देकर नहीं प्राप्त
२५९	१२	रस करने	रस प्रदान करने

पृष्ठ स	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
२६७	१०	को	का
२८०	३	से	मे
२८५	६	ने	से
२६२	१०	जाता	जाता है
२६५	२३	सघर्ष मिट	सघर्ष नही मिट
२६६	१	शरीर	यद्यपि शरीर
२६७	१२	खोकर	खाकर
३०३	२१	ता	तो
३०८	२	दु ख का	दु.ख उसे सामूहिक दु ख का
३१३	२	वस्तु है	वस्तु ही है
३१५	४	क्षमाशील	क्षमाशीलता
३१७	८	को	की
३१६	२४-२५	है। है।	है।
३१६	अन्तिम	तभी है	तभी सम्भव है
३२७	६	है चित्त-शुद्धि	है जो चित्त-शुद्धि
३२६	५	प्रेमास्पद की	प्रेमास्पद ही की
३२६	८	जिसकी जिज्ञासा	जिसकी उसे जिज्ञासा
३३३	१६	जाती अर्थात्	जाती है अर्थात्
३४५	११	का	की
३४६	१६	को	की
३४६	२६	व्यक्तरूप प्रतीत	व्यक्तरूप से प्रतीत
३४७	२३	गलता	लगता
३५२	१०	जिसकी	जिससे
३६१	२४	की	को
३६४	२४	साता	जाता
३७६	५	की	को

पृष्ठ सं	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
३८१	२०	रहता	रहता है
३९१	१३	मे	से
३९३	३	लगता तब	लगता है तव
३९४	१४	मे	से
३९४	१७	होती है	होती जाती है
४०२	५	स्वीकृति	अस्वीकृति
४०२	१४	प्रतीत	प्रतीति
४०३	७	प्राथी	प्राणी
४१७	१२	व्यक्ति की	व्यक्ति से सुख की
४१८	अन्तिम	जिनका	जिसका
४२४	२४	करना	कहना
४३०	१२	और नही	और जो नही
४३३	१३	द्वारा	द्वारा बुराई
४३५	४	देह भिन्न	देह से भिन्न
४३५	२१	कुल	कुछ
४३८	२०	मे	से
४३८	२०	नह	नही
४३८	२१	सकता इस	सकता और वह जडता, पराधीनता तथा अभावो से रहित नही हो सकता। इस
४४०	११	योग के	योग,
४४५	१९	सहने	रहने
४४७	३	उनका	उसका
४४७	१४	निश्चित	निश्चिन्त
४४८	२४	समिष्ट	समष्टि

—×—